ॐ

ययाति

लेखकः—

श्रीबनवारी लाल सेवक

प्रकाशकः—

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

[प्रथमावृत्ति] १९३२

विषय-सूची

द्वितीय खण्ड

मिलन

तृतीय खण्ड

विवाद और सफलता

चतुर्थ खण्ड

त्याग

उपसंहार

भूमिका

हमारे महाभारतादि इतिहासों और भागवतादि पुराणों में ऐसे प्रचुर और पुष्कल चरित्र और कथाएँ सन्निहित हैं, जिनके आधार पर बड़े बड़े ग्रन्थ और पाठ्य-पुस्तकें निर्माण किये जा सकते हैं, और वे देश, समाज और जाति के लिये अति हितकर, उपयोगी और शिक्षाप्रद होकर वर्तमान हिन्दू-समाज के लिये, स्वाधीनता और स्वावलम्बन के इस युग-परिवर्तन के समय में पथ-प्रदर्शन का काम कर सकते हैं ; और पाठशालाओं में पाठ्य-विषय बना कर पढ़ाए जाने पर, बालकों के चरित्र को उन्नत, देशभक्तिपूर्ण, आदर्श-चरित्र बनाकर उन्हें समाज, देश और जाति की सेवाएँ करने के लिये तत्पर और कटिबद्ध बना सकते हैं। भारत की प्राचीन कथाएँ एक देवतुल्य जाति के अलौकिक उद्यम, असीम उत्साह, अपूर्व चेष्टा, विचित्र और अप्रतिहत शक्ति-समूह, स्वर्गीय और पुनीत प्रेम, अद्वितीय आत्मत्याग, निःस्वार्थ सेवाएँ, परोपकारपूर्ण भावनाएँ और अत्यन्त गम्भीर चिन्ताओं से परिपूर्ण हैं। भारत के धर्मग्रन्थ, काव्यकलाप, दर्शन-शास्त्र और विविध इतिहास और पुराण-ग्रन्थ पूर्ण स्पष्ट भाव से भारत के प्राचीन महापुरुषों का गुणगान अपने प्रत्येक पद और पंक्ति से कर रहे हैं।

उन्हीं महान् पुरुषों में नहुषकुमार ययाति भी एक महान् व्यक्ति हो गए हैं। वे प्राचीन भारत के एकच्छत्र सम्राट्, दिग्विजयी और सार्वभौम नरेश थे। देशदेशान्तर को जीत कर उन्होंने अपने अधीन किया था। दिग्दिगन्त में उनकी कीर्ति-कौमुदी

परिव्याप्त थी; समस्त संसार उनके शासनाधीन था। वे एक प्रजा-वत्सल, न्यायपरायण, धर्मज्ञ, प्राज्ञ, भगवद्भक्त, चिन्ताशील और कर्त्तव्यनिष्ठ नरेश थे। उन्होंने धर्म-पूर्वक प्रजा का पालन; और सत्य, पराक्रम एवं न्यायानुकूल राज्य-शासन करते हुए कितने ही बड़े बड़े यज्ञ किये थे। वे कभी किसी से हारे नहीं, और न कभी उन्होंने किसी को सताया। प्रजा उनके समय में सुखी, और देश हराभरा और समृद्धिशाली था। दैत्यगुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी; और दैत्य-राज वृषपर्वा की पुत्री राजकुमारी शर्मिष्ठा के साथ विवाह करके उनकी सौन्दर्य-सुधा का उन्होंने पान किया था। फिर उन्होंने काम-भोग की लिप्सा को असार और धर्म-मार्ग का बाधक समझ कर, निदान, विषय-लिप्सा से चित्त को हटा, काम-भोग की लालसा त्याग कर ब्रह्म में मन लगा, भगवच्चरण में लीन होकर परब्रह्म में भागवतीगति और निर्मल सायुज्य-मुक्ति पाई थी।

प्रस्तुत पुस्तक 'ययाति' में लेखक ने इन्हीं महाराज ययाति के चरित्र का वर्णन किया है। इनकी कथा संक्षेप में महाभारत (इतिहास), और भागवत (पुराण) में दी गई है। उसी कथा के आधार पर लेखक ने ययाति के संक्षिप्त चरित्र को विस्तार-पूर्वक लिखने का प्रयास किया है। पुस्तक को मैंने ध्यान-पूर्वक आद्योपान्त सुना है; और मैं कह सकता हूँ कि, लेखक उसके लिखने में सफल हुआ है। जिस उद्देश को लक्ष्यगत रखकर उसने इसके लिखने के लिये लेखनी उठाई है, उस उद्देश को यथानुसार अंकित करने में वह उसमें सिद्धमनोरथ हुआ है, उस चरित्र को अंकित करके लेखनी उसकी धन्य हुई है। पुस्तक के पढ़ने से लेखक की प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है।

लेखक ने पुस्तक को प्राचीन-कथा के होने पर भी कुछ

आधुनिक ढंग और वर्तमान शैली पर लिखा है। समय की
आवश्यकता को भी ध्यान से नहीं जाने दिया है। पुस्तक
प्राचीनता और नवीनता का मानो संसर्ग है। युग का सन्देश भी
उसमें सन्निहित है। कच और शर्मिष्ठा के चरित्र इस बात के पूर्ण
परिचायक हैं। प्रेम और सौन्दर्य की महिमा को, उनके पुनीत
आदर्श को अंकित करने में भी लेखक सफल हुआ है। प्रवाह
सरसता तथा सुन्दरता के साथ पुस्तक में बह रहा है; भाषा का
सौन्दर्य और उठाव-गिराव उसमें 'सोने में सुगन्ध' का काम कर
रहा है। भाषा अधिकांश स्थान पर क्लिष्ट होने पर भी सुन्दर तथा
सरस है। उससे सरल भाषा में पुस्तक लिखने से सम्भव था,
पुस्तक का सौन्दर्य नष्ट हो जाता, कथा का इतनी अच्छी तरह
वर्णन न हो पाता। फिर, जिस उद्देश को पूर्ण करने के लिये
पुस्तक लिखी गई है, भाषा उसके उपयुक्त ही है। मौलिकता भी
पुस्तक का एक प्रधान गुण है। कहीं कहीं तो भाषा के चढ़ाव-
उतार में और विचार-प्रवाह में लेखक ने चमत्कार पैदा कर दिया
है। उपमाएँ सरस तथा अनुरूप हैं; अलंकारों की छटा तथा
माधुर्य की मनोहरता सर्वथा प्रशंसनीय है। स्थान स्थान पर सुन्दर
उपदेश हैं। इन्द्र के सम्मुख वर्णित ययाति-द्वारा पुत्र पुरु को दिये
उपदेश तो, जो उन्होंने उन्हें सांसारिक वासना और माया से बच
र एक आदर्श नरेश, आदर्श शासक, आदर्श मनुष्य; सभी विषयों
आदर्श बनने के लिये दिये हैं, अति उपादेय और विद्यार्थियों के
ायुक्त ही हैं। उन्होंने पुस्तक के महत्व को, उसके माधुर्य को कई
णा अधिक बढ़ा दिया है। माधुर्य का अनुपम मेल, तथा उपमा
अनुरूपता और सुन्दरता पुस्तक को अधिक उपयोगी बना रहे
। पुस्तक इतने उत्तम ढंग से लिखी गई है कि, पढ़कर प्रत्येक
क्ति का हृदय आनन्द से विभोर हो उठेगा। लिखने की शैली

सचमुच श्लाघ्य है। पुस्तक लिखने में वस्तुतः लेखक ने अपनी सुरुचि, और प्रतिभा का परिचय दिया है।

सौन्दर्य सचमुच आत्मदीप्ति है; ऐसी प्रदीप्त कि, हृदय में चिनगारियाँ उत्पन्न कर देती है। और सब में आकर्षण है, किन्तु रूप में आकर्षण के साथ ही साथ आत्म-समर्पण करालेने की भी शक्ति है। सौन्दर्य इन्द्रजाल है, इसमें बड़ी विलक्षण विद्युत्-शक्ति है। इसके प्रभाव से मनुष्य अपना प्रकृत वेश त्याग कर अन्य वेश धारण करता है। जिसके सामने दासगण सदैव हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, जो प्रचुर प्रजा-मण्डली का शासनकर्त्ता और भाग्य-विधाता है; उस महा समर्थशाली नरेश को भी सौन्दर्य क्षणमात्र में अपना दास बना लेता है। इस भाव का लेखक ने ययाति और देवयानी दोनों के प्रथम दर्शन के साथ ही एक दूसरे पर मोहित होने का वर्णन करके अति उत्तम रूप से दिग्दर्शन कराया है। सौन्दर्य का मोह कभी भूलता नहीं है, किसी को भूला भी नहीं है। जो सौन्दर्य मनुष्य के मन में खूब छिपकर अपना घर बना लेता है, उसकी स्मृति भी स्वर्गीय सुखका अनुभव कराके मनुष्य को अधीर बना देती है—देवयानी और ययाति की स्थिति, एक दूसरे के वियोग में इस कहावत को पूर्ण चरितार्थ करती है। सौन्दर्य पर प्राण देने में तब आश्चर्य क्या है? सौन्दर्य के पादपद्मों पर तब हृदय-सरोज की अंजलि देकर आत्म-समर्पण करने में आश्चर्य क्या है? भाव अति सुन्दर और उपयुक्त ही है। देवराज इन्द्र ने देवताओं के सामने उसी भाव को अच्छे ढंग से प्रदर्शित किया है।

देश पर सर्वस्व बलिदान कर देनेवाले हमारे नेता दिनरात देश-हित-साधन के उद्योग में प्रयत्नशील रहते हैं। परन्तु हममें से कितने उनका हाथ बटाने के लिये, जन्मभूमि के ऋण-परिशोध

के लिये आगे बढ़ते हैं? सच तो यह है कि वर्त्तमान काल में अपनी इस गिरी दशा में हमें अपने मनुष्यत्व का, अपने अधिकारों का ध्यान भी नहीं आता। किन्तु जिनके हृदय देशमद से मत्त हैं, जिनके हृदय में स्वदेश-प्रेम की पवित्र मन्दाकिनी प्रवाहित होती है; देश की स्वाधीनता ही जिनके हृदय का मूलमन्त्र है; त्याग की महिमा को जो जानते हैं; अनन्त सुख की तुलना में जो क्षणिक ऐहिक सुख को अत्यन्त तुच्छ समझते हैं, देशपर प्राण देना, जो अमर पद का पाना मानते हैं; उनको देश-सेवा की वह महिमा सिखानी नहीं पड़ती, वह तो उनके हृदय से स्वतः ही उठती है। जननी-जन्मभूमि पर प्राण देना, उसके लिये दुख उठाना वे अपना मुख्य कर्त्तव्य और जीवन का मुख्य व्रत मानते हैं। कच का मृत-संजीवनी-विद्या सीखने के लिये दैत्याचार्य शुक्र के पास दैत्यदेश को जाना, और देश के हितार्थ शुक्राचार्य को दैत्यदेश में रोक रखने के लिये शर्मिष्ठा का स्वेच्छा से देवयानी का दासीत्व-ग्रहण इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके अंकित करने में लेखक ने सफलता प्राप्त की है। कच की अनुपम देशभक्ति और उच्च चरित्र का जो वर्णन लेखक ने कच-जनक, देवगुरु बृहस्पति से इन्द्र के सम्मुख कराया है, वह सचमुच लेखक की एक अनोखी सूझ है; उसे लिखकर लेखक ने एक उत्तम भाव प्रदर्शित किया है, और शर्मिष्ठा का यकायक राजदरबार में उपस्थित होकर कहना—"गुरुकन्ये! पिता क्या, मैं उत्तर देती हूँ। सुनो—पिता की मंगल-कामना और दैत्यराज की रक्षा के हेतु आज से मैं तुम्हारी दासी होना स्वीकार करती हूँ"; और फिर पिता से यह कहना कि—"पिता जी! आप क्षुब्ध न हों। अपना कर्त्तव्य मैं भली भाँति समझती हूँ। जन्मभूमि की रक्षा के लिये मरने से कौन डरता है? जो डरता है, वह भीरु है, कापुरुष है,

कायर है, उसे सौबार धिक्कार है, !!......मातृभूमि के लिये प्राण धारण करना ही जीवन की सब से बड़ी सफलता है, और प्राण देना तो अक्षय अमर पद को पाना है।......दैत्यदेश और दैत्यराज के लिये मैं अपना सुखैश्वर्य महल प्रासाद, माता-पिता सबका मोह त्याग कर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके देवयानी की पद-सेवा करूँगी। आप कोई चिन्ता न करें।" कितना महत्, कितना उच्च, कितना देशभक्तिपूर्ण ज्वलन्त उच्चादर्श है यह ! कितने मनुष्यों में इतना महावीरत्व है, जो ममता को छोड़कर सर्वत्यागी हो सकें ? वह दूरदृष्टि कितनों के भाग्य में है, जिससे सब सांसारिक सुख तुच्छ ज्ञात होकर हृदय देश-सेवा के भाव से ओत-प्रोत होकर सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर हो ? वह विशाल हृदय कहाँ है, जो देश की सेवा और चिन्ता में अपने पद, वैभव और मर्यादा तक को भूल कर निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करने के लिये उद्यत हो ? वे हैं शर्मिष्ठा और कच के हृदय। कच और शर्मिष्ठा के चरित्र त्याग, देशभक्ति, सहनशीलता, पितृनिष्ठा, और निर्मल पवित्र चरित्र के उच्चादर्श हैं।

विशदरूप में शर्मिष्ठा और कच—दोनों के चरित्र समान हैं; त्याग, देशभक्ति, पितृनिष्ठा, शहनशीलता से परिपूर्ण पवित्र। कच सब त्याग कर, माता पिता की मोहममता विसर्जन करके, पिता को देवताओं द्वारा अपमानित होने से बचाने के लिये, देशहित के लिये शुक्राचार्य के पास संजीवनी-मंत्र सीखने जाता है, और वहाँ पर बारबार दैत्यों-द्वारा मारे जाने पर भी हतमनोरथ नहीं होता, न घबड़ाता ही है। निदान वह अपने प्रयास में सफल होता है, और देवयानी के बारबार कहने पर भी उसके अनिन्द्य-सौन्दर्य की अवहेला कर स्वर्ग को जाता है। देवयानी का सौन्दर्य उस पर लेशमात्र भी प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता।

और शर्मिष्ठा पिता और देश की मर्याद-रक्षा के हेतु सर्वस्व त्याग कर राजकुमारी से दासी होती है। वह देवयानी के साथ जाती है, और निर्विकार चित्त से उसकी सेवा और उसकी आज्ञाओं का पालन करती है। राजा ययाति के सौन्दर्य पर मुग्ध हो, मन से उन्हें पति वरण करके भी धैर्य और स्त्रीत्व को नहीं खोती, स्त्री-चरित्र की अवहेला नहीं करती, नारीत्व की मर्यादा खर्व नहीं होने देती ; सब सहन करती हुई, मन से राजा के लिये पतिरूप से भजन करती हुई समय की प्रतीक्षा करती है। निदान उसका त्याग सफल होता है, राजा उसे अपनाते हैं ; वह दासी से राजरानी होती है। तथापि उस पर फूल नहीं जाती। देवयानी के रूठ कर चले जाने पर उसे मनाने जाती है, इसलिये कि, वह देवयानी और राजा को सिंहासन पर बैठाकर आप उनकी सेवा करे। परन्तु वहाँ—शुक्राश्रम में जब वह पहुँचती है, तो वहाँ पहले से ही पहुँचे हुए राजा के लिये शुक्रद्वारा आजन्म जरा का शाप सुनकर अपनी अलौकिक पतिभक्ति और पतिप्रेम का परिचय देती है, जिसके फलस्वरूप उसके सतीत्व के सामने ऋषि शुक्र को भी सिर झुका कर सती-मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है। कच और शर्मिष्ठा दोनों चरित्रों को इस प्रकार से समान रूप में लेखक ने अंकित करके, और उनके द्वारा त्याग, सहनशीलता, पितृप्रेम, देशभक्ति और पतिप्रेम का उच्चादर्श जगत् के सम्मुख रखकर एक नवीन भाव से स्त्री-पुरुषों को—युवक-युवतियों को उनके कर्त्तव्य की शिक्षा दी है, जो सर्वथैव अलौकिक है।

प्रेमोन्मत्त मधुप कमलिनी को इतना रिझाता है कि, वह अपने हृदय के द्वार खोल कर मधुप को भीतर बुलाकर, उसके भीतर छिपा लेती है। वह चाहती है कि, उसकी सुन्दरता पर

अपना सर्वस्व निछावर कर देनेवाला उसका प्रेमी उसका ही होकर रहे, कोई, दूसरा उस पर दीठ न डाले। देवयानी द्वारा शर्मिष्ठा और राजा के प्रणयसूत्र में आबद्ध होने पर राजा और शर्मिष्ठा को बुरा भला कहने और फिर उसके रूठ कर पित्र-देश को चले जाने के चरित्र को अत्युत्तम रूप से अंकित करके लेखक ने इस कहावत को चरितार्थ किया है। यों तो देवयानी का चरित्र आरम्भ से अन्त तक ही उच्छृंखल रहा है, तथापि यहाँ आकर तो वह उच्छृंखलता और स्त्रीत्व की सीमा को उल्लंघन कर गया है। देवयानी के चरित्र को पढ़ कर कदापि नहीं कहा जा सकता कि, वह एक रमणी-चरित्र है। इतनी उच्छृंखल, कठोर, अबाध्य, निरंकुशा और स्वेच्छाचारिणी प्रवृत्ति कदाचित ही किसी रमणी की हो, जैसी देवयानी की। तथापि उसको इस प्रकार चित्रण करके लेखक ने कोई दोष नहीं किया है। देवयानी के हीन-चरित्र से शर्मिष्ठा के उच्च-चरित्र के महत्व का पता लगता है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कड़ुवा खाने से मधुर के मिठास का महत्व ज्ञात होता है। देवयानी का ऐसा चरित्र न होता तो, शर्मिष्ठा के महत्वपूर्ण चरित्र का इतना उत्तम दिग्दर्शन न होता। फिर तो भारतीय-नारी के चरित्र के अनुकूल ही भासित होकर अपने महत्व को खो देता। इसलिये देवयानी का चरित्र इतना दोषपूर्ण लिपिबद्ध करके भी लेखक ने एक दूसरे चरित्र की उच्चता सिद्ध करके कोई दोष नहीं किया है। अतएव वह क्षम्य है। फिर पुरु द्वारा शिक्षा ग्रहण करके एक बार ही देवयानी के चरित्र में परिवर्तन करके लेखक ने मानो एक चेटक सा कर दिया है।

यह ठीक है कि, न तो कोई भी पुरुष अपनी स्त्री को किसी दूसरे पुरुष को प्रेम करते देखकर उसे सहन कर सकता है, और न कोई स्त्री ही अपने पति को दूसरी नारी को प्रेयसी

बनाते देखकर सहिष्णु बनी रह सकती है। तथापि देवयानी और शर्मिष्ठा के लिये यह सिद्धान्त विशेष प्रमेय नहीं है। जिस प्रकार प्रथम दर्शन के साथ देवयानी ने महाराज को प्रेम किया था, तो शर्मिष्ठा ने भी पहली बार महाराज के दर्शन करते ही अपना हृदय उन्हें सौंप दिया था। इस प्रकार दोनों ही राजा के प्रेम की समान अधिकारिणी थीं। किन्तु देवयानी को साधन था, और शर्मिष्ठा को दासी होने के कारण नहीं। इसीलिये देवयानी राजा को पहले प्राप्त कर सकी, और शर्मिष्ठा पीछे। दोनों ने ही राजा को प्रेम किया था; इसलिये देवयानी का शर्मिष्ठा पर कोप करना उतना ही अनुचित था, जितना शर्मिष्ठा का देवयानी से कहना कि—"प्रेम में ईर्ष्या क्यों देवयानी! जिसे हमारा हृदय चाहता है, उसे यदि तुम भी चाहती हो, तो दोष क्या? मेरी समझ में तो यदि उन्हें सारा संसार चाहे, तो भी मैं बुरा न मानूँ। प्रेम सदा ही सहनशील, मधुर और गम्भीर है। प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, द्वेष नहीं करता, आत्मश्लाघा नहीं करता, दुष्टाचरण नहीं करता, स्वार्थ नहीं रखता, क्रोध नहीं करता, बुरा नहीं मानता।.........अपने सुख की लालसा और सच्चा पवित्र प्रेम परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं। स्वार्थ से भरा प्रेम कलुषित और निस्सार है"—उचित है। इन दोनों भावों से देवयानी के हृदय की संकीर्णता और शर्मिष्ठा के हृदय की उदारता प्रकट होती है। प्रेम के पतन और उत्थान का रहस्य इन दोनों चरित्रों में पूर्णरूप से सन्निहित और सन्निविष्ट है।

देवयानी के पिता शुक्राचार्य मृतसंजीवनी-विद्या के जानने वाले और दैत्यगुरु हैं। वे पहले देवताओं के आचार्य थे, और फिर, किसी कारण से देवताओं से अनबन हो जाने पर, आकर दैत्यों के गुरु हो गये। ब्रह्मदेव विधाता के वरदान से उन्हें मृत-

संजीवनी-मंत्र-द्वारा आहत जनों को पुनर्जीवित कर लेने की अलौकिक शक्ति प्राप्त है, जो कदाच् ईश्वर-निर्मित विश्व में किसी और को प्राप्त नहीं है इस अद्भुत और अलौकिक शक्ति को प्राप्त करके भी उन्हें कोई गर्व, कोई अहंकार नहीं है। शर्मिष्ठा द्वारा अपशब्द कहे जाने पर, देवयानी के मुख से उन्हें सुनकर भी, वे कोई क्रोध या रोष प्रकट नहीं करते, उलटे देवयानी को ही क्षमा धारण करने के लिये समझाते हैं, और जब देवयानी नहीं मानती, तो एकान्त अपत्य-स्नेह के वश हो, उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिये दैत्य दरबार में जाकर, दैत्यराज के सम्मुख पहुँच, थोड़ा सा भय प्रदर्शन करते हैं, और जब दैत्यराज देवयानी के कहने से उनके चरण छूकर शर्मिष्ठा को दण्ड देने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब भी शुक्राचार्य उसे नेत्रों ही नेत्रों में हठ त्याग देने को कहते हैं। उच्च ऋषि-चरित्र का यह एक महत्वपूर्ण दृष्टान्त है। तथापि, यदि, शुक्राचार्य में कोई कमी देख पड़ती है, तो वह यही कि, उन्हें देवयानी के लिये आवश्यकता से अधिक प्रेम है, और वे देवयानी की अच्छी या बुरी—प्रत्येक हठ को पूर्ण करने के लिये तयार हो जाते हैं। यह कभी ही दुहिता-द्वारा उनके अपमान का कारण होती है, और शुक्राचार्य जानकर भी उसे नहीं जानते, ध्यान में नहीं लाते, लाना नहीं चाहते। 'संसार में रहो, परन्तु संसार में आसक्त मत हो'—ऋषियों के लिये नियत इस आज्ञा को वे एक प्रकार से उल्लंघन कर जाते हैं।

दैत्यराज वृषपर्वा युग के सब से बड़े राजा हैं। किन्तु वे भी शुक्राचार्य के वशीभूत हैं। इसका कारण है शुक्राचार्य का मृत-संजीवनी-मंत्र जानना। देवता लोग दानवों से बलवान हैं। देव-दानव-संग्राम छिड़ रहा है, दानव देवताओं से निर्बल होने के कारण पद पद पर लांछित और पराजित होते हैं, और जब

शुक्राचार्य स्वेच्छा से आकर उनके आचार्य-पद को ग्रहण कर उन्हें मृत्यु-भय-विहीन बना देते हैं तो उन्हें स्वभावतः ही उनसे दबना पड़ता है। एक उन्हें ही क्या, प्राचीन काल में प्रायः सभी राजा महाराजाओं को अपने गुरु पुरोहितों से दबना पड़ता था। इसका कारण यह था कि, आचार्य लोग मंत्र-बल से बलवान थे, (जैसे कि शुक्राचार्य मृतसंजीवनी-मंत्र से) उनके मंत्रबल से बलवान् होने के कारण ही राजा और प्रजा दोनों अपने सुखानन्द के लिये उन आचार्यों का मुँह जोहा करते थे, और आचार्य लोग मंत्र बल से बलवान होने के कारण समस्त मानव-विरोध को तुच्छ समझते थे। मंत्रबल के सामने स्वबल कर ही क्या सकता है? इसीलिये तो स्वबल के केन्द्र राजा लोग आचार्यों की कृपा के भिखारी थे। उन आचार्यों की कृपादृष्टि ही राजाओं के लिये सहायता थी, और उनका आशीर्वाद ही उनका रक्षक। आचार्य लोग राजाओं को कभी डर दिखाकर आज्ञाएँ देते, कभी मित्र बनकर सलाह देते, और कभी जाल बिछाकर उन्हें फाँसते थे। इस प्रकार वे राजकुल को पूर्णरूप से अपने वशीभूत किये हुए थे। राजा कितना ही तेजस्वी और बलवान क्यों न हो, परन्तु मंत्रबल से बलवान आचार्य को यदि वह सन्तुष्ट नहीं कर पाता है, तो उसका तेज और बल सब निस्तेज और निर्बल है। और इसीलिये, जब आचार्य शुक्र तनया देवयानी के हठ और अनुरोध करने पर, जाकर वृषपर्वा से कहते हैं—"राजन्! मैं विदा लेने के लिये आया हूँ।.........अब एक बार फिर अमरावती जाकर स्वर्ग-सुख भोगने की इच्छा हुई है।" तो दैत्यराज वृषपर्वा और एकत्र सब दैत्यसमाज उनके इन वचनों को सुन कर काँप उठते हैं, उठकर उनकी पद-बन्दना करते हैं, और वृषपर्वा कहते हैं—"आपके चले जाने पर फिर हमारा रह ही क्या जायगा? हम

२

फिर किसके सहारे रहेंगे......क्या करेंगे, कैसे जियेंगे ?—क्यों दास पर हठात् इतना कोप हुआ ? "

शुक्राचार्य जाल फैलाते हैं. और वृषपर्वा उस जाल में फँस जाते हैं, जिसके फल-स्वरूप शर्मिष्ठा को देवयानी का दासीत्व ग्रहण कर उसकी सेवा और आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है; भले ही वह दासीत्व-ग्रहण शर्मिष्ठा की स्वेच्छा से था।

दैत्यराज वृषपर्वा को पुत्री शर्मिष्ठा पर स्नेह भी पूर्ण था, सच्चा स्नेह, जो एक पिता को सन्तान पर होना चाहिये; शुक्राचार्य की तरह अन्ध प्रेम नहीं। तब फिर एकमात्र दुहिता के आजन्म दासीत्व ग्रहण करने पर वृषपर्वा को दुख क्यों न होता ? जब विवाह होने पर पुत्री को बिदा करते समय ही माता-पिता का हृदय अति दुखी होता है, तब शर्मिष्ठा के दासीत्व ग्रहण कर देवयानी के साथ जाने पर वृषपर्वा को महान् दुख का होना स्वाभाविक ही है। लेखक ने पिता के उस दुख को इतने अच्छे शब्दों में प्रकट कर मानो साक्षात् दुख की प्रतिमा खड़ी कर दी है। लिखा है—" मंत्री ! तुम क्या जानो, मेरी क्या दशा है ? मेरे दुख को वही समझ सकता है, जिसने कभी मेरे समान ही सन्तान-बिछोह का असह्य क्लेश सहन किया है।.........वज्राहत ठूँठ वृक्ष की नाईं.........मैं जीता हूँ; बिना शर्मिष्ठा के शून्य पापी जीवन को वहन करता हूँ। अब यह वृषपर्वा, उसका यह राज्य, यह प्रासाद, यह जोवन सब वैसे ही नीरस, शुष्क, असार और शोभाहीन हैं। उस समय जब प्राणप्यारी शर्मिष्ठा यहाँ घूमती-फिरती शोभा विकीर्ण करती, अपने मुख दर्शन और प्रेमपूर्ण वाक्-कलाप से हमारे हृदय-गह्वर को मनोरम और विकसित बनाती थी, तब यह सब आलोकित थे। उस समय यहाँ सुख की तरंग, आनन्द की

लहर, हास्य-शोभा की धारा प्रस्रवित और प्रस्फुटित होकर शोभा-विकीर्ण करती हुई प्रवाहित होती थी। उस समय यह सब भी नन्दन-कानन के समान थे, परन्तु अब कुछ नहीं हैं। बिना शर्मिष्ठा के सब व्यर्थ हैं।..............."।

जो सत्य है, शिव है, सुन्दर है—वही सच्चिदानन्द की साकार मूर्ति है, और इसीसे प्रत्यक्ष दर्शन करना सूक्ष्म धर्मतत्व का साक्षात्कार करना है। सांसारिक प्राणियों की सदा यही उत्कट अभिलाषा बनी रहती है कि, उन्हें सुख की चरम सीमा प्राप्त हो; और इसी भावना से प्रेरित होकर अधिकांश प्राणी इस नश्वर-विभूति को पदाघात कर अपने शरीर को नाना कष्ट देकर इस संसार से पयान करते हैं। परन्तु उनकी यह अभिलाषा पूर्ण होती है या नहीं; सो कौन कह सकता है? हाँ, इतना कहा जा सकता है कि, मनुष्य स्वयं ही अपने सुख-दुख का निर्माता है। वह चाहे तो अपने संसार को स्वर्ग बना ले, और उसे नरक बनाना भी उसी के हाथ में है। त्याग की अपेक्षा अधिक शान्तिदाई क्या हो सकता है? अनन्त सुख की तुलना में ऐहिक-सुख निःसंशय अत्यन्त तुच्छ है। निवृत्तिमार्ग ही सच्चा प्रवृत्ति मार्ग है। जिसके अनुसार मनुष्य संसार में प्रवृत्त होकर सफल-मनोरथ होता हुआ, संसार का दुर्लभ आनन्द उठाता हुआ, जीवन को शान्तिमय बनाता हुआ, अन्त में मोक्ष-पदवी को प्राप्त होता है। यदि इस सुन्दर और सरस सत्य को महाराज ययाति ने पहले समझा होता, तो उन्हें कदापि अकाल में ही जरा-ग्रस्त होने का दुख न उठाना पड़ता, और न उन्हें शुक्राचार्य के सम्मुख लांछित होकर पुत्र पुरु से तारुण्य के लिये याचना ही करनी पड़ती। इस जगत में स्थायी कुछ भी नहीं है। बसन्त सदा ही नहीं रहता, सदा ही शीतल वायु नहीं बहती, सौन्दर्य

भी विनश्वर है। विधाता ऐसा न्यायवान है कि, उसने अपनी सृष्टि के सर्वोत्तम जीव मनुष्य को भी इस विधान के आधीन रखा है। मनुष्य का कुछ भी स्थायी नहीं है। बाल्य, कैशोर, यौवन, रूप-लावण्य-सौन्दर्य समय पाकर सभी चले जाते हैं! मनुष्य प्रौढता और जरा के सिंहासन पर आसीन होता है, और फिर मर कर इस संसार से चला जाता है। सजीव देह, कान्ति-मय मुख, एक दिन, एक क्षण के रोग से हत-जीवन हो चिता पर सो जाता है। कली खिलती है, सुगन्धि फैलती है, अन्त में फूल झड़ जाता है। इस जगत में स्थायी क्या है, कुछ भी नहीं। स्थायी केवल वही सच्चिदानन्द ज्योतिःस्वरूप परमपिता परमात्मा है, जिससे यह जगत निर्मित और संचालित है। जिस समय तक मनुष्य को उस निर्मल, और सच्चे सच्चिदानन्द-स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वस्वरूप एवं अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, वह अपने को नहीं पहचानता; और जब ईश्वर का ज्ञान होने पर वह अपने को पहचान लेता है, तब किसी कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता। सुख-दुख, स्वर्ग-नरक वा पाप-पुण्य की इच्छा ही कर्म का बन्धन है। यह कर्म-बन्धन तब तक निवृत्त नहीं हो सकता, जब तक वासनारूपी भूत सिर पर सवार है। वासना की जड़ उखाड़ते ही, लालसारूपी मल को अपने हृदय से साफ़ करते ही, कामनारूप पर्दे को दूर करते ही, ज्ञान और आनन्द का सूर्य चमक उठता है, और फिर मनुष्य को कोई बन्धन नहीं रह जाता। इस ज्ञान का उदय यदि, महाराज ययाति के हृदय में पहले ही हुआ होता, तो स्यात् वे पहले ही दर्शन में अग्नि-शिखारूपिणी, परमासुन्दरी, मोहिनीमूर्ति, नव-यौवन-सम्पन्ना देवयानी के रूप के मोह में पड़ कर अपने आप तक को न भूल जाते; और न फिर दासी शर्मिष्ठा को ही हठात्

अशोक वन में इतनी सुन्दरी, रूपश्री-सम्पन्ना, परम-लावण्यमयी देखकर उससे प्रेम की याचना कर देवयानी के कोप-भाजन बनते। परन्तु उन्हें यह सब दुख और दुर्दिन देखना था, इसीसे तो उन्हें पहले यह ज्ञान नहीं हुआ, जो पीछे भोग-लिप्सा में शिखा-पर्यन्त डूब कर, अपना अस्तित्व तक खोकर हुआ; और इसी से उन्हें यह लांछना और दुख भोग करना पड़ा। यह ज्ञान उनके बड़े भाई यति को हुआ था, और इसीलिये वे संसार और राज्य के कर्मबन्धन में नहीं पड़े; पिता का सिंहासन देने पर भी उन्होंने नहीं लिया, और वन को चले गए।

ययाति, पुस्तक के मुख्य पात्र और चरित्र-नायक इन्द्राणी के शाप से सर्पगति-प्राप्त महाराज नहुषकुमार के द्वितीय पुत्र थे। अग्रज यति के वन को चले जाने पर राज्य का भार उन्हें ही मिला। उन्होंने सिंहासन पर बैठ कर राज्य-दण्ड धारण करके न्याय और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन और देश का शासन करना आरम्भ किया। वे एक अजीत और अभीत कर्त्तव्यनिष्ठ राजा निकले। अद्वितीय वीर, अजेय योद्धा, और प्रजावत्सल धर्मज्ञ शासक थे। अति सुन्दर, निरमन, और रूपगुण-सम्पन्न थे। धर्म के पालन में सदा तत्पर रहते थे। उन्होंने अपने शासन-काल में कितने ही यज्ञ किये थे, और दान-धर्म-दक्षिणा एवं यज्ञ-याग कर्म-द्वारा देव-पितृ-विप्र और प्रजा को सन्तुष्ट और सुखी बना कर अपने वशीभूत कर लिया था। उनका यश और चरित्र शरच्चन्द्र के समान निर्मल और प्रोज्वल था। वे परम न्यायी, निरभिमान, सद्गुणी, सहनशील और ज्ञानवान थे। उनके प्रोज्वल प्रताप की ऐसी महिमा थी कि, उनके शासनान्तर्गत समस्त भूमि स्वर्ग के समान शान्तिमयी, ऋषिलोक के समान तपोमयी और देवलोक के समान पुण्यमयी और ऐश्वर्यमयी थी।

उनके राजत्वकाल में सिंह-अजा एक साथ पानी पीते थे। धर्म का पूर्ण प्रताप था, और प्रजाजनों ने चिरकाल तक शान्ति-सुख का उपभोग करते हुए निःशंकभाव से धर्म की पुनीत आलोचना की थी; एवं धर्म के पुनीतपथ में विचरण करके साधु-महात्मा और तपस्वी ऋषि-मुनियों ने निर्जन-गिरि-गुहाओं और घोरारण्य में तपस्या करके ब्रह्मज्ञान के उच्चासन को प्राप्त किया था, और छाया-शीतल-सहस्रों-तपोवनों से निकल कर, उनके किये गये यज्ञ धूम ने, देवता और मनुष्यों के सम्बन्ध को अति निकटस्थ कर रखा था।

ऐसे धर्मवान, वीर्यवान, कर्मवान और न्यायशील राजा के हृदय में भी न जाने दुख का कीट कैसे प्रवेश कर गया? ऐसे धर्मज्ञ होने पर भी महाराज ययाति किस पूर्वकर्म के फल-स्वरूप सौन्दर्य के दास बनकर दुख और क्लेश के भागी हुए, सो कैसे कहा जा सकता है? सब प्रकार से निर्दोष होने पर भी यदि राजा में कोई दोष था, तो उनका सौन्दर्य का दास और उपासक होकर उसकी आराधना करना। तभी तो यह हुआ।

सच तो यह है कि, संसार प्रेम और आनन्द का अगाध समुद्र है। इस को पार कर जाना एक सांसारी मनुष्य का, विशेषतः सर्वाधिकारी एक नरेश के लिये कठिन ही नहीं, महाकठिन है, एक प्रकार से असम्भव ही है। आनन्द और सुख से परिपूर्ण इस वासनामय संसार में प्रत्येक प्राणी विलास-वासना में तल्लीन होकर विषय-भोग का असार सुख उठाने के लिये तत्पर रहता है।

मनुष्य के हृदय पर जब दो विचारावलि एक दूसरे को पराजित कर अपना आधिपत्य जमाना चाहती हैं; तब दोनों विचारावलि में तुमुल संग्राम छिड़ जाता है, और मनुष्य का हृदय रणक्षेत्रसा

बन जाता है। अन्त में जिस पक्ष की विजय होती है, मनुष्य का हृदय भी उसी पक्ष का साथ देने के लिये प्रस्तुत हो जाता है। यही दशा महाराज ययाति की हुई। एक बार देव-दुर्लभ-सौन्दर्य-मयी, नग्नावस्था में कुएं में पड़ी हुई देवयानी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, राजा ययाति अपने आपको भूल बैठते हैं, तो दूसरी बार प्रेम और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा युवती शर्मिष्ठा के उमंगपूर्ण-उन्मत्त यौवन और रूपमाधुरी पर विमुग्ध होकर अपने आप को निछावर कर देते हैं।

जैसे डूबते हुए को तिनके का सहारा मिलने से प्रसन्नता होती है, उससे भी बढ़कर प्रसन्नता होती है राजा ययाति को देवयानी और शर्मिष्ठा को प्राप्त करके, और देवयानी और शर्मिष्ठा को महाराज ययाति को प्राप्त करके, जिनका हृदय एक दूसरे के वियोग में तिलतिल पर जल रहा था, और जो दो व्यथित हृदय एक दूसरे से प्रेमाल्लिंगन करने के लिये उल्लसित हो रहे थे। अन्तर केवल इतना ही था कि, देवयानी और ययाति के मध्य सौन्दर्य का आकर्षण अपने प्रबल वेग से प्रवाहित हो रहा था; और शर्मिष्ठा अपना सब कुछ त्याग कर, अपनी सब कामनाओं को तिलांजलि देकर राजा को ही अपना सर्वस्व, सुखदुख का आश्रय, अपने नारी जीवन की गति, तरण-तारण और दोनों लोकों का देवता, ईश्वर, पति, और प्राणरक्षक समझ कर स्वामि-भाव से उनकी पूजा करती आई थी। देवयानी के प्रेम में कामना और कलुषिता, वासना और लालसा है, और शर्मिष्ठा के प्रेम में त्याग और पवित्रता, सेवा और निष्ठा है। देवयानी का प्रेम स्वार्थ से भरा नारकीय है, और शर्मिष्ठा का निःस्वार्थ स्वर्गीय; तभी तो देवयानी राजा को शर्मिष्ठा को प्रेम करते देखकर छोड़कर चली जाती है, और शर्मिष्ठा शुक्र के शाप देने पर कहती है—" गुरुदेव!

मैं आपके चरण पकड़ कर प्रार्थना करती हूँ, महाराज को क्षमा कर दें, बूढ़े होने का शाप न दें। मैं उसे सहन न कर सकूँगी। मुझे राजरानी बनने की लालसा नहीं है, न राजभोग की स्पृहा। मैं सिंहासन पर महाराज और देवयानी को बैठाकर आजन्म उनकी चरण-सेवा करती रहूँगी। परन्तु आप उस दुख से महाराज को बचावें—मेरे लिये, देवयानी के लिये, छोटे छोटे राजकुमारों के लिये।" फिर कहती है—"क्या करूँ आचार्य्य ! अब तक सब सहन करती आई हूँ, परन्तु यह बात अब सहन न कर सकूँगी, पति की दुर्दशा नेत्रों से न देख सकूँगी। आप धर्म के अवतार हैं, मुझ पर दया करें, शाप को लौटा लें।...महाराज मेरे स्वामी, इहकाल और परकाल के देवता, तारण-तरण, मेरे नारी-जीवन की गति, मेरे रक्षक, जीवन-सर्वस्व, ईश्वर और आधार हैं। मैं स्त्री होकर स्वामी का—उनका दुख देख न सकूँगी। जगत में स्त्री के लिये स्वामी ही सब कुछ है। सती पति की दुर्दशा को मरण से भी बढ़ कर समझती है......।" कितना पुनीत भाव है, कितनी अपराजिता पतिभक्ति है, कितना प्रगाढ़ पतिप्रेम है !!! देवयानी के हृदय में क्या कभी इस भाव का उदय हुआ था? वह भी क्या राजा को सचमुच अपना स्वामी और पति समझती थी? वहाँ तो लालसा और वासना का साम्राज्य था, रूप का मोह था; सच्चा पति प्रेम नहीं। तभी तो देवयानी राजा से कह सकी थी—"अब तक प्रतारणा में भूली हुई आत्म-समर्पण करती रही, परन्तु अब नहीं।........ अब मैं उस मार्ग पर पैर न दूँगी। व्याधिग्रस्त प्रत्यंग की नाईं मैंने आज यहाँ का सब संस्रव त्याग किया। मेरा तुम्हारा अब कोई सम्पर्क नहीं रहा। मैं आज से पुनः ब्रह्मचारिणी हुई।"

हँसी आती है देवयानी की इस बात के पढ़ कर ; दुख होता है उसके इस कथन पर। पति-पत्नी के चिरमिलन का संसार में क्या किसी शक्ति या अपराध के कारण बिच्छेद हो सकता है ? सती भार्या क्या कभी इस प्रकार के वचन पति से कह सकती है ? पति-पत्नी का मिलन तो पूर्ण मिलन है, उसका बिच्छेद तो सिवा मरण के, जीवित रहते हैं ही नहीं। और मरने पर भी स्वामी की ही स्मृति नारी के लिये आधार, उसकी जीवन-नौका के लिये पतवार है। तभी तो अभिमन्यु के मारे जाने पर उत्तरा कह सकी थी।

"तज दो भले ही तुम मुझे, पर मैं न तज सकती तुम्हें।
वह थल कहाँ पर है जहाँ प्रिय ! मैं न भज सकती तुम्हें ? .
है विदित मुझको वह्नि-पथ, त्रैलोक्य में तुम हो कहीं।
हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं॥
जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया।
वह था तुम्हारा इसलिये प्राणेश ! तुमने ले लिया॥
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्यपद मुझको मिला।
है दूर करना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥
होकर रहूँ किसकी अहो ! अब कौन मेरा है यहाँ ?
कह दो तुम्हीं बस न्याय से अब ठौर है मुझको कहाँ ??
माता-पिता-आदिक भले ही और निज जन हों सही।
पति के बिना पत्नी जगत में सुख न पा सकती कहीं॥"

मैथिलीशरण गुप्त

हिन्दू धर्म में विवाह-सम्बन्ध एक धार्मिक और आजीवन न टूटनेवाला सम्बन्ध है, "सोशल-कन्ट्रेक्ट (सामाजिक-ठहराव) नहीं"। विवाह की धार्मिकता इसी में है कि, पति-पत्नी आजीवन एक दूसरे के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करते रहें। कर्त्तव्य से

च्युति होते ही मनुष्य धर्म से च्युत हो जाता है ; क्योंकि, कर्त्तव्य और धर्म में कोई भेद नहीं है। कर्त्तव्य ही धर्म है। उस धर्म से च्युत होते ही मनुष्य दुख का भागी बन जाता है। जो कोई धर्म पर रहता है, सुख से रहता है। किन्तु जिसका चित्त लालसापूर्ण है, वही अपने धर्म-सुख को लात मार कर इधर उधर भटकता है। वाटिका में भ्रमण करते करते हठात् एक दिन राजा ययाति ने शर्मिष्ठा का जो सौन्दर्य निरख लिया था, उसीसे विमुग्ध होकर तो उन्होंने अपने आप को भूल, देवयानी को भूल, शर्मिष्ठा के सौन्दर्य पर अपने को वार दिया, और प्रेयसी-रूप से उसे ग्रहण कर अपने दुख का कारण बनाया ; वही शर्मिष्ठा पीछे भले ही अपनी पतिभक्ति और सतीत्व के बल पर राजा के दुख-मोचन और मोक्ष का कारण हुई सही। किन्तु राजा ने तो पहले इस बात का विचार नहीं किया था, वे तो सब कुछ भूल कर विमुग्ध हो गए शर्मिष्ठा की सजीवपुंज की भाँति पारिजात-सदृश मनोरम सौन्दर्य पर फूलों की वर्षा करनेवाली मुखश्री पर, प्यार और प्रेम की धारा बहानेवाली कमल-लोचनश्री पर, गुलाब-सदृश कोमल अधर-पल्लव पर, उमंग-पूर्ण उन्मत्त यौवन और सुडौल सुश्रीवान एवं सौन्दर्य की प्रोज्वलज्योति से जगमगाती हुई गुलाब-सदृश सुसम्पन्न देहयष्टि पर, और उन्होंने इस बात को चरितार्थ कर दिखलाया कि, "विलासमय सम्मिलन भी एक सुखद वस्तु है, भले ही उसका परिणाम दुखद हो।"

राजा की भोग-लिप्सा यहाँ तक बढ़ती है कि वे, अपने पुत्रों से तरुणाई माँगते हैं, और उनके अस्वीकार करने पर बिना किसी विचार के उन्हें शाप दे डालते हैं। और पीछे फिर जब राजा की भोग-लिप्सा शान्त होकर उन्हें ज्ञान होता है, तो वे

एक बार ही समस्त सांसारिक-संस्रव त्याग कर पुत्र पुरु को उसकी युवावस्था और अपना राज्य सौंप कर उसे नाना प्रकार के उपदेश देकर वन को चले जाते हैं ; और वहाँ अपने पुण्य-बल के प्रताप से पारब्रह्मपरमेश्वर में लीन हो निर्मल सायुज्य-मुक्ति और भागवती गति प्राप्त करते हैं । जो उपदेश उन्होंने पुत्र को दिये हैं, और जिनका वर्णन उन्होंने इन्द्र के समक्ष किया है, वे पुस्तक की उपयोगिता को और भी बढ़ाते हैं । वे प्रत्येक नवयुवक के ध्यान देने और मनन करने योग्य हैं । हमें विश्वास है, भारत का नवयुवक उनसे पूर्ण लाभ उठावेगा । वे उपदेश प्रत्येक समाज, जाति, पद और स्थिति के लोगों के लिये लाभ-दायक और शिक्षाप्रद हैं ।

संक्षेपतः—'ययाति' मनस्तत्व की सुगंभीर आलोचना से परिपूर्ण है । मानव-चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण ने प्रत्येक पात्र के चरित्र को अच्छी तरह प्रस्फुटित कर दिया है । पुस्तक का विशेष गुण यह है कि, इसके प्रत्येक प्रकरण को पढ़ने से आरम्भ से अन्त तक एक सा कौतूहल बना रहता है । पुस्तक यद्यपि सत्ययुग के कथानक के आधार पर लिखी गई है, और उसमें उस समय के भावों को विनष्ट नहीं किया गया है, तथापि, देश और समाज की वर्तमान आवश्यकताओं का भी भले प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है । पुस्तक शिक्षाप्रद और मनोरंजक है । पुस्तक में प्रणय और प्रेम, प्रीति और ममता, देशभक्ति और जातीयता, भक्ति और स्नेह, उपदेश और शिक्षा का जो मधुमय चित्र अंकित है, उससे हृदय स्वतः ही उस ओर आकर्षित हो जाता है । भाषा शुद्ध साहित्यिक होते हुए भी सरस और आकर्षणपूर्ण है । पुस्तक लिखने में लेखक को सफलता प्राप्त हुई है । मैं उदीयमान लेखक की कल्याण-कामना

करता हुआ भविष्य में उससे और भी अच्छे अच्छे ग्रन्थ प्रणयन की आशा करता हूँ।

कासगंज
होलिकोत्सव सं० १९८९ | रामदत्त भारद्वाज
M. A., LL. B., L. T.

पुनश्चः—'ययाति' की कथा इतनी मनोरम और चित्ताकर्षक है कि, मुझे आशंका है, कि कतिपय पाठक प्रथम के दो प्रकरणों—'सृष्टि रचना' तथा 'आदि पुरुष और वंशपरिचय' जो कथा भाग की रोचकता के सम्मुख विशेषरूप से गम्भीर और दुरूह हैं, यद्यपि उनका विषय उच्चकोटि के दार्शनिक भावों से ओतप्रोत हैं, जो मुख्यांश में श्रीमद्भागवत के आधार पर अङ्कित हैं, और जिन का जानना प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक है—को पढ़ते पढ़ते, कथा जानने के लिये अत्यन्त व्यग्र और उत्सुक हो जावें। ऐसे पाठकों को चाहिये कि, वे पुस्तक को एक बार ही तृतीय प्रकरण "संक्षिप्त-चरित्र" से पढ़ना आरम्भ करदें, जहाँ से कथा आरम्भ होती है।

रामदत्त भारद्वाज
M. A., LL. B., L. T.

ॐ

ययाति

१

सूत्रपात

सृष्टि-उत्पत्ति

जब योग निद्रा ग्रहण करके समस्त विश्व को अपने में लय करके, केवल नेत्र मूँद कर, चित्शक्ति और ज्ञान को सजग रखते हुए, अपने स्वरूप के अनुभव में आनन्द-युक्त, अतएव चेष्टाहीन होकर एकमात्र ईश्वर शेष-शय्या पर सोए, तब यह सब विश्व प्रलय-समुद्र के जल में डूबा हुआ था। अपने लोकमय शरीर में पंचतत्व के सूक्ष्म अंश मनुष्यादि शरीरों को रक्षित करके, कालस्वरूपिणी शक्ति को पुनः सृष्टि उत्पन्न करने के लिए धारण किए हुए उस एकमात्र ईश्वर ने जल में बाह्य-व्यापार-हीन अवस्था में शयन किया। एक सहस्र चतुर्युगी तक निज ज्ञानशक्ति सहित योगनिद्रा में शयन करके, तदनन्तर प्रथम ही प्रबोधन करने के लिये नियुक्त अपनी काल-शक्ति द्वारा प्राप्त कर्म-तंत्र को स्वतंत्र ईश्वर ने ग्रहण किया; और तब सब लोकों को अपने शरीर में लीन देखा। ईश्वर ने जब सृष्टि के उपकरण-स्वरूप सूक्ष्म पंचतत्त्वमय विषय को अपने शरीर से भिन्न करके दृश्य रूप से देखना चाहा, तब सृष्टि-रूप काल-शक्ति से रजोगुण द्वारा क्षोभ को प्राप्त होकर, विश्व-कार्य्य के प्रकाशक, उन्हीं तत्त्वमय-सूक्ष्म-उपादानों से मण्डित, एक पद्मकोष हरि के नाभि-स्थल से प्रकट हुआ। वही रजोगुण-युक्त-सूक्ष्म-अर्थसमूह कर्म-प्रतिबोधक काल के द्वारा आकृष्ट होकर पद्मकोष रूप से सहसा प्रकट हुआ। ईश्वर से उत्पन्न वह कमल सूर्य-सदृश अपने तेज से उस विशाल-सलिल-समूह को उद्भासित करने लगा। सम्पूर्ण गुण प्रकाश

उस लोकमय कमल में वह हरि-अंश द्वारा प्रवेश करके स्वयं वेदमय विधाता रूप से प्रकट हुए।

जिन ब्रह्मा को अपने उत्पन्न करने वाले को न देख सकने के कारण "स्वयम्भू" अर्थात् 'आप ही आप उत्पन्न' कहते हैं, प्रकट होकर उस कमल-कर्णिका में स्थित, उन्हीं ब्रह्मा ने आसपास किसी को न देखा। प्रलयकाल के पवन के थपेड़ों से टकरा रहे जल की तरंगों से वह कमल हिल रहा था; उस कमल पर बैठे हुए आदिदेव ब्रह्मा भली भाँति उस कमल का व अपना रहस्य और लोकतत्त्व न जान सके। उन्होंने शून्य में नेत्र फैला कर अपने चहुँ ओर देखा। इस प्रकार देखने से उनके चार मुख हो गये। अब कमल पर बैठे हुए ब्रह्मा जी ने सोचा कि कमलपीठ पर बैठे हुए वे कौन हैं, और जल में वह केवल एक कमल ही कहाँ से प्रकट हुआ। विचारा 'इस पद्म के नीचे अवश्य ही कुछ है'। यह विचार कर खोज करने के लिये ब्रह्मा जी उस कमलनाल के छिद्रों में होकर भीतर जल में गए। परन्तु बहुत खोज करने पर भी कमलनाल के आधार का पता उन्हें न मिला। तब वे फिर ऊपर लौट आए और कमलपीठ पर पद्मासीन हो धीरे धीरे श्वास रोक कर चित्त को एकाग्र करके समाधि लगा कर बैठ गये। इस प्रकार सुसम्पन्न योग द्वारा ज्ञान को प्राप्त होकर ब्रह्मा जी ने जो प्रथम बहुत खोज और प्रयास करने पर भी न देख पाया था, वह अब सहसा अपने हृदय में ही देख लिया। उन्होंने देखा कि "कमलनाल-सदृश श्वेत वर्ण एवं विशाल शेषनाग की शय्या पर एक पुरुष सोया हुआ है, और छत्र के समान शेष जी के सहस्र फणों की मुकुट-मणियों के प्रकाश से अंधकार-रहित प्रलय-सागर के नीर पर शेष जी विराजमान हैं। उन शेष-शायी महापुरुष की शोभा और सौन्दर्य

वर्णनातीत है। जिसकी लम्बाई-चौड़ाई में तीनों लोकों की कल्पना है, ऐसे अद्वितीय अनुपम शरीर में अनेक वस्त्राभूषण विचित्र-दिव्य-शोभा दिखा रहे हैं। किन्तु उस देह की स्वाभाविक सुषमा ऐसी है, माना उसी से सकल पटाभरण शोभायमान हो रहे हैं। भगवान के सिर पर सहस्रों किरीट-मुकुट और वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि शोभायमान हो रहा है, वेदरूप भ्रमर जिस पर गुंजार कर रहे हैं; कण्ठ से लेकर चरण-पर्यन्त लम्बायमान कीर्ति-स्वरूप वनमाला शोभित हो रही है। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि भी अपने अपने व्यापारों से देख कर भी जिन हरि का निश्चय नहीं कर सकते, और त्रैलोक्य में जाने की शक्ति से युक्त सुदर्शनादि प्रधान-प्रधान अस्त्र चारों ओर भगवान की परिक्रमा कर रहे हैं"। फिर लोक-सृष्टि के लिये ब्रह्मा ने जो देखा तो केवल हरि की नाभि से उत्पन्न कमल, जल, वायु, आकाश और स्वयं (ब्रह्मा); यही पाँच पदार्थ देख पड़े; और कुछ नहीं।

तब रजोगुणयुक्त विधाता ने प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा होने पर दिव्य दृष्टि द्वारा पाँच ठौर विश्व के बीज-स्वरूप उक्त पदार्थ पाकर उसी अव्यक्त मार्ग में मन लगा कर पूजनीय पुरुष भगवान हरि की विविध प्रकार से स्तुति करके अन्त में कहा— "सम्पूर्ण लोकों को अपने हृदय-रूप-पात्र में स्थापित करके अतल जलराशि में सर्प की शय्या पर योग-निद्रा का आश्रय लेकर सुख-पूर्वक शयन करने वाले हे पूज्य! आप ही के अनुग्रह से तीनों लोकों की उत्पत्ति की सामग्री-स्वरूप, सृष्टि आदि कार्य्य से त्रिलोकी का उपकार करनेवाला मैं आपके नाभि-कमल से उत्पन्न हुआ हूँ। हे सर्वव्यापक, अन्तर्यामी प्रणतपाल सर्वजगत के सुहृद ईश्वर! जिस ज्ञान व ऐश्वर्य्य से आप जगत को

सुखी करते हैं, वही ज्ञानैश्वर्य आप मुझे दीजिये; जिससे मैं पूर्ववत् विश्व की रचना और सृष्टि कर सकूँ।"

ब्रह्म-कृत इस स्तुति और प्रार्थना से प्रसन्न होकर और विधाता का अभिप्राय जान कर जलदगम्भीर वाणी से मोह को दूर करने वाले स्वर में भगवान हरि ने आदि पुरुष ब्रह्मा से कहा—"वेदगर्भ! तुम मुझसे जो प्रार्थना कर रहे हो, उसका उपकरण मैंने पहले ही कर दिया है, उसकी कोई चिन्ता न करके तुम सृष्टि का उद्यम करो। मेरे अनुग्रह से अनेक कर्म करके और अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने पर भी तुम्हारा आत्मा कभी मोह को प्राप्त न होगा। ब्रह्मन्! तुम सर्वश्रेष्ठ और आदिऋषि हो, तुमने मुझमें मन लगाया है, और तप द्वारा मेरा ज्ञान प्राप्त किया है, तुम अपने हृदय के भीतर ही मुझमें लीन सब लोकों को देख पाओगे; और प्रजाओं की सृष्टि करने पर भी कदापि पापमय रजोगुण के वशीभूत न होओगे। परन्तु ब्रह्मन्! यद्यपि मेरा ज्ञान प्राप्त करके तुम कृतार्थ हो गए हो, तथापि सर्वदेवमय मुझसे उत्पन्न आत्मा अर्थात् अपने द्वारा तीन लोक और मुझमें लीन प्रजाओं का पूर्व कल्पों के समान पुनः उत्पन्न करो।"

इस प्रकार कह कर और सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा को अपने रूप में सकल विश्व को दिखलाकर कमलनाभ-प्रधान-पुरुष-परमेश्वर हरि ने अपना रूप छिपा लिया। इधर ब्रह्मा आत्मा रूप में हरि में मन लगा कर सृष्टि-रचना-कर्म में प्रवृत्त हुए, और तपोबल द्वारा सब प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करके अन्त को अपने शरीर से मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद—ये दस पुत्र; और वाक् नाम्नी एक कन्या उत्पन्न की।

इन ग्यारह सन्तति को उत्पन्न करके विधाता ने अपने पूर्व

शरीर को त्याग कर दूसरा देह धारण किया, और उस देह द्वारा पुनः सृष्टि उत्पन्न करने में लीन हुए। परन्तु उससे ब्रह्मा जी का चित्त शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ; उत्पन्न की हुई प्रजा को कम समझ कर विधाता ने विचारा कि "इतनी सृष्टि उत्पन्न करने पर भी महावीर्यशाली ऋषियों की सृष्टि वृद्धि को प्राप्त नहीं हुई। इसका क्या कारण है, अवश्य ही दैव हमारे प्रतिकूल है।" यह सोच कर दैव की ओर दृष्टि करके यथोचित विचार करने वाले ब्रह्मा का वह शरीर स्वयमेव दो खण्ड हो गया और उन खण्डों में एक से पुरुष और दूसरे से एक स्त्री उत्पन्न हुई। पुरुष तो स्वराट् स्वायम्भुव मनु हुए और स्त्री शतरूपा रानी हुई। शतरूपा महात्मा स्वायम्भुव मनु की स्त्री हुई। तब से प्रजा मिथुन धर्म द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने लगी। स्वायम्भुव मनु से शतरूपा रानी में पाँच सन्तति उत्पन्न हुईं—प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र; तथा आकूति, देवहुति और प्रसूति तीन कन्याएँ। मनु ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से; देवहूति का उद्वाह कर्दम प्रजापति से और प्रसूति का पाणिग्रहण दक्ष प्रजापति से कर दिया। इन तीनों मनु-कन्याओं के वंश से जगत परिपूर्ण हो गया।

आदि पुरुष और वंश-परिचय

स्वायम्भुव मनु के भगवान की कलारूप प्रियव्रत और उत्तानपाद दोनों पुत्र जगत की रक्षा करने वाले, महाबली और पृथिवी का पालन करने वाले राजा हुए। उत्तानपाद राजा को सुनीति और सुरुचि नाम्नी दो रानियों से क्रमशः ध्रुव और उत्तम नाम के दो पुत्र प्राप्त हुए। यद्यपि रानी सुरुचि राजा उत्तानपाद को अधिक प्रिय थीं और वे उनके पुत्र उत्तम को ही अधिक प्रेम किया करते थे; तथापि नीति-धर्मानुकूल उन्होंने वयःप्राप्त होने पर भक्तपुत्र ध्रुव को ही साम्राज्य समर्पण कर वन का मार्ग पकड़ा।

राजा होने के कुछ दिनों उपरान्त ध्रुव ने प्रजापति शिशुमार की भ्रमि नाम्नी कन्या से विवाह किया; जिसके गर्भ से उन्हें कल्प और वत्सर नाम के दो पुत्र प्राप्त हुए। राजा ध्रुव की दूसरी स्त्री वायु-पुत्री इला थी, जिसके गर्भ से भी उत्कल नाम एक पुत्र उत्पन्न हुआ। छोटी रानी होने पर भी उनके उदर से प्रथम उत्पन्न होने के कारण उत्कल राज्य का उत्तराधिकारी और युवराज था; परन्तु एकनिष्ठ भगवद्भक्त विष्णुपरायण होने के कारण पिता के प्राप्य सिंहासन को मिलने पर भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया और वे अपने भाई वत्सर को राज्य-सिंहासन सौंप कर तप करने वन को चले गए।

वत्सर की स्त्री का नाम सुवीचि था; उसके गर्भ से वत्सर के औरस-जात पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज्ज, वसु और जय

नामक छः पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें पुष्पार्ण सब से बड़े और राज्य के उत्तराधिकारी थे। उन्हें अपनी पुष्पा और दोषा नाम्नी दो रानियों से क्रमशः प्रातः, मध्यान्ह और सायं ; एवं प्रदोष, निशीथ और व्युष्ट नामक तीन तीन पुत्र प्राप्त हुए। इनमें व्युष्ट ने पुष्करिणी स्त्री से सर्वतेजा नाम पुत्र उत्पन्न किया। सर्वतेजा ने आकूति नाम रानी में मनु नाम पुत्र उत्पन्न किया। मनु को नड्वला रानी से बारह पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सब से छोटे पुत्र का नाम उल्मुक था। उल्मुक के ज्येष्ठ पुत्र अंग का विवाह सुनीथा नाम्नी रानी से हुआ था, जिसने वेन नामक पुत्र प्रसव किया। वेन बड़ा उपद्रवी और दुष्टस्वभाव बालक निकला, वह अपने पिता के राज्य की प्रजा को विविध प्रकार के दुःख दे दे कर सताया करता, जिससे दुःखी होकर राजा अंग राज्य छोड़ कर वन को चले गए। परन्तु वेन का उपद्रव फिर भी कम न हुआ। निदान, उसके उपद्रव से कुपित होकर राज्य के ऋषि-मुनियों ने उसे शरीरान्त का शाप दे दिया। वेन के मर जाने पर प्रजा बिना राजा की हो गई, जिससे राज्य भर में हाहाकार मच गया। तब मुनियों ने प्रजा का दुःख दूर करने के लिये किसी राजा की सृष्टि करने का विचार करके मृत वेन के शरीर की दक्षिण भुजा को मथा, जिससे नारायण का अंश राजा पृथु उत्पन्न हुए ; और वामबाहु के मथने से लक्ष्मी की कला अर्चि नाम्नी कन्या उत्पन्न हुई। बड़े होने पर ऋषि-मुनियों ने पृथु का विवाह अर्चि के साथ करा विधि-विहित उन्हें राजा बनाया। राजा पृथु देव-ऋषि-ब्राह्मणों के आशीर्वाद को ग्रहण कर धर्म-पूर्वक प्रजा-पालन करने में तत्पर हुए।

यथा समय राजा पृथु को रानी अर्चि के गर्भ से एक एक करके पाँच पुत्र प्राप्त हुए। वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर राजा

पृथु ने अपने ज्येष्ट कुमार विजिताश्व को राज्यभार सौंप कर रानी अर्चि समेत वन का मार्ग लिया। महाराज विजिताश्व ने पृथिवी मंडल के एकछत्र सम्राट् होकर अपनी शिखरिडनी नाम्नी बड़ी रानी में अपने ही समान रूप-गुण-बल वाले पावक, पवमान और शुचिनाम के तीन पुत्र उत्पन्न किये, और छोटी रानी नभस्वती के गर्भ से हविबर्द्धन नामक एक पुत्र उत्पन्न किया। बड़ी रानी के तीनों पुत्र तो अग्नि के अवतार थे, जिन्हें वशिष्ठ मुनि के शाप के कारण नरदेह धारण करना पड़ा था, और जो शाप की अवधि समाप्त होने पर फिर अपने रूप को प्राप्त हो गए। इस कारण महाराज विजिताश्व का राज्यभार उनके पीछे उनके पुत्र हविबर्द्धन को मिला। राजा हविबर्द्धन के ज्येष्ठ कुमार बर्हिषद् अति कर्मकाण्डी और योगी थे, उनके किये हुए यज्ञों से पृथिवी भर में तिलमात्र स्थान खाली नहीं रहा, यज्ञ के समय वेदी पर बिछाए हुए पूर्वमूल कुशों से उन्होंने पृथिवीमण्डल व्याप्त कर दिया, ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ उन्होंने यज्ञ न किया हो। इस कारण उनका दूसरा नाम प्राचीनबर्हि भी पड़ा।

योगेश्वर प्राचीनबर्हि ने राज्यभार ग्रहण करने पर आदि देव विधाता के आज्ञानुसार शतद्रुति नाम्नी समुद्र-तनया से विवाह किया। जिसके गर्भ से प्राचीनबर्हि के औरसजात महा-तेजस्वी और तपस्वी दस पुत्र उत्पन्न हुए, जिनका नाम प्रचेता हुआ। उन धर्ममूर्ति दसों प्रचेताओं का एक ही नाम, एकसा स्वभाव और एक ही सा आचरण था। उन्होंने पिता के आज्ञा-नुसार प्रजा उत्पन्न करने की कामना करके समुद्र के भीतर जाकर दस सहस्र वर्ष तक तप करके भगवान हरि की आराधना की। उनके जप, तप, ध्यान, धारणा और इन्द्रियसंयम द्वारा किए गए रुद्रगीत के जप से प्रसन्न होकर दस सहस्र वर्ष उपरान्त

भगवान विष्णु ने प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया। और दया-दृष्टि से उनकी ओर देखते हुए भगवान हरि ने कहा—"धर्मज्ञ पुरुषो! तुम्हारे पिता ने तुमको मुझे प्रसन्न करके प्रजा उत्पन्न करने की आज्ञा दी है। अतः मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, और तुम्हें आदेश देता हूँ कि, तुम जाकर कारडऋषि के वीर्यद्वारा प्रम्लोचा नाम्नी अप्सरा के गर्भ से उत्पन्न मारिषा नाम की कन्या से विवाह कर पिता की आज्ञा का पालन करो।"

यह आदेश देकर भगवान हरि अन्तर्धान हो गए, और प्रचेता गणों ने प्रसाद-स्वरूप भगवान के आदेश को शिरोधार्य कर समुद्र से निकल उस कन्या से विवाह कर उसके गर्भ से दक्ष नाम पुत्र उत्पन्न किया। यह दक्ष वे ही ब्रह्मपुत्र दक्ष हैं, जिन्होंने भगवान शिव का अपमान किया था; और जिस पाप के फल-स्वरूप उन्हें अब क्षत्रिय वंश में जन्म धारण करना पड़ा। आदिदेव ब्रह्मा ने अब प्रजासृष्टि का पालन करने के लिये प्रजापति के पद पर इन्हीं दक्ष का अभिषेक किया।

दक्ष को अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न जितने पुत्र प्राप्त हुए, उन सबको देवर्षि नारद ने मोक्षमार्ग का उपदेश देकर बिना संसारी हुए ही तप करने के लिये पश्चिम दिशा को भेज दिया। इसके उपरान्त दक्ष की रानी ने कितनी ही कन्याएँ उत्पन्न कीं, जिनका विवाह धर्म, प्रजापति कश्यप, चन्द्रदेव, भूत, अंगिरा, कृशाश्व और तार्क्ष्य के साथ हुआ। कश्यप प्रजापति को ब्याही गई कन्याओं में एक कन्या का नाम अदिति था, उसके कश्यप के वीर्य से इन्द्रादि देवता और सूर्यादि आदित्य उत्पन्न हुए। पुत्र सूर्य को अपनी संज्ञा और छाया नाम्नी भार्याओं के गर्भ से क्रमशः मनु और यम नामक दो पुत्र, और यमुना नाम्नी एक कन्या, एवं शनैश्चर तथा सावर्णि पुत्र, और तपती नाम्नी कन्या;

यह तीन तीन सन्तान उत्पन्न हुई। इनमें मनु के वंशज सब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मानव कहलाए, और उसी समय, से ब्राह्मण और क्षत्रिय का समागम हुआ। मनु को दस क्षत्रिय पुत्र और इला नाम्नी एक कन्या हुई, जो आठवीं सन्तान थी और पीछे से पुरुष हो गई थी। इला के गर्भ से बुध के पुत्र विद्याविशारद पुरूरवा हुए, जो गन्धर्व लोक से क्रिया के लिये विधि-विहित तीनों अग्नियों के साथ उर्वशी अप्सरा को ले आए थे; और जिसके गर्भ से उन्हें छः पुत्र प्राप्त हुए, जिनमें सब से बड़े पुत्र आयु के वीर्य द्वारा अपनी भार्या स्वर्भानु की तनया के गर्भ से नहुष, वृद्धिशर्मा, रजि, गय, और अनेना नामक पाँच पुत्र उत्पन्न हुए।

ज्येष्ठ पुत्र नहुष ने पिता के उपरान्त राजा होकर पित्र, गन्धर्व, ऋषि, देवता, नाग, किन्नर, यक्ष, राक्षस प्रभृति सब में अपने राज्य-शासन का नाम कर दिया। नहुष ने दस्युओं को जीत कर उनसे ऋषियों को कर दिलाया; और अपने तेज, तप, प्रताप, बल, पराक्रम और पुरुषार्थ द्वारा देवगण को वश में करके इन्द्रत्व प्राप्त कर लिया। एक बार कामवश होकर इन्द्राणी शचि के साथ सम्भोग करने की इच्छा से शचि के कथनानुसार ऋषियों से वाहन का काम लिया; और उन्हें सर्प सर्प (शीघ्र शीघ्र) त्वरित गति से चलने का आदेश देने के कारण उन्हीं के शाप से सर्प-योनि को प्राप्त हो गए।

इन नहुष राजा के अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न यति, ययाति, शर्य्याति, आयति, वियति और कृति नामक छः पुत्र थे। उनमें सब से बड़े यति राज्य का परिणाम भली भाँति जानते थे; इससे पिता के देने पर भी उन्होंने राज्यदण्ड धारण नहीं किया और वन को चले गये। वहाँ वे तप और योगाभ्यास द्वारा भगवान

की आराधना करके ब्रह्मरूप हो परमपद को प्राप्त हो गए। अतः ज्येष्ठ भ्राता के योग ले लेने पर, और नहुष को ऋषि-शाप के कारण सर्पयोनि प्राप्त होकर स्वर्गच्युत होने पर द्वितीय कुमार ययाति देश के राजा हुए। द्वितीय-नहुष-कुमार यह ययाति ही हमारे चरित्र-नायक हैं।

संक्षिप्त चरित्र

महाराज ययाति ने सम्राट होकर चारों कनिष्ठ भ्राताओं को चहुँओर का राज्य देकर चतुर्दिक को अपने आधीन कर लिया; और धर्म्म पूर्वक प्रजा का पालन और सत्य, पराक्रम एवं न्यायानुकूल राज्यशासन करते हुए कितने ही बड़े बड़े यज्ञ किये; और देवता और पितरों को अपने पूजन और पिण्डदान द्वारा प्रसन्न और सन्तुष्ट करके वे अभीत और अजीत राज्य संचालन करने लगे। वे कभी किसी से हारे नहीं और न कभी किसी को उन्होंने सताया। दैत्य-गुरु शुक्राचार्य्य और दैत्यराज वृषपर्व्वा की कन्याओं देवयानी और शर्मिष्ठा के साथ विवाह कर यथा समय उनके गर्भ से यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु पाँच पुत्रों को उत्पन्न किया; इनमें यदु और तुर्वसु देवयानी के गर्भ से; और द्रुह्यु, अनु और पुरु शर्मिष्ठा के गर्भ से उत्पन्न थे।

पंचपुत्र को प्राप्त करके राजा ययाति आनन्द पूर्वक अपने दिन व्यतीत करने लगे। परन्तु दैवात् उनके इस आनन्द-सुख में बाधा पड़ी। उन्होंने प्रथम दैत्याचार्य्य-तनया देवयानी से और फिर दैत्यराज-कुमारी शर्मिष्ठा से विवाह किया था। ऋषि-तनया देवयानी से विवाह करने पर सम्राट् ययाति देवर्षि शुक्राचार्य्य के सम्मुख प्रतिज्ञा कर चुके थे कि वे देवयानी को छोड़ कर किसी दूसरी स्त्री को अपनी अंक-शायिनी नहीं बनावेंगे। अब शर्मिष्ठा के साथ विवाह करके उसको पुत्र उत्पन्न करने के कारण देवयानी ने कुपित होकर समस्त वृत्तान्त अपने पिता को जा

सुनाया, और राजा को दण्ड देने के लिये हठ किया। सुन कर शुक्र को भी बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने तुरन्त ही राजा को वृद्ध हो जाने का शाप दे दिया, कि जिससे वे उस इन्द्रिय और यौवन का सुख न भोग सकें, जिसके वशीभूत होकर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा भंग करके शर्मिष्ठा को अंक-शायिनी बनाया। इस शाप के कारण राजा ययाति तुरन्त बूढ़े हो गए। निदान ऋषि की बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर यह वर प्राप्त किया कि, वे अपने किसी पुत्र से जरा-तरुणाई का परिवर्तन कर इन्द्रिय-सुख भोग कर सकते हैं, और इससे उन्हें और उनके उस पुत्र को, जो उन्हें यौवन देगा, कोई पाप न लगेगा।

इस वरदान के अनुसार वे अपने सबसे छोटे पुत्र शर्मिष्ठा के गर्भजात कुमार पुरु से जरा-तरुणाई का विनिमय कर पूर्ववत् राज्य-संचालन और इन्द्रियसुख भोग करने लगे। इधर देवयानी भी फिर शर्मिष्ठा के उद्योग से पति-गृह को लौट आई। सहस्र वर्ष पर्यन्त राजा ययाति के शरीर में सिंहतुल्य पराक्रम बना रहा। दोनों स्त्रियों से विषय-भोग करने पर भी उनकी विषय-लिप्सा तृप्त नहीं हुई। तब वे चैत्ररथ वन में विश्वाची अप्सरा के साथ बहुत दिनों तक विहार करते रहे।

जब किसी प्रकार भी राजा की भोग-लिप्सा शान्त नहीं हुई और विषय-तृष्णा ज्यों की त्यों बनी रही, तृप्ति हुई ही नहीं, तब एक दिन आप ही आप विचार करके मन ही मन सोचा कि, काम-भोग करने से कामना कभी शान्त नहीं होती। अग्नि में घृत डालने से जिस प्रकार अग्नि और भी प्रज्वलित हो उठती है; उसी प्रकार भोग से लालसा और भी बलवती होती जाती है; भूमण्डल के सभी भोगों को भोग कर भी कभी कोई तृप्त नहीं हो सकता; और न सहस्रों स्त्रियों के साथ विषय-भोग करने पर

विषय-तृष्णा ही कभी शान्त हो सकती है। इसलिये काम-भोग की लालसा त्याग कर ब्रह्म में मन लगाना ही मनुष्य के लिये उचित ग्रौर श्रेयस्कर है।

इस प्रकार विषय-भोग की ग्रसारता समझ कर मन को प्रबोध देकर ; चित्त को उस ग्रोर से हटा कर उसे शान्त किया। उन्होंने पुरु को उसकी तरुणाई लौटा कर ग्रपनी जरा उससे ले ली, ग्रौर विषय-भोग की स्पृहा से शून्य होकर, ग्रपने राज्य को पुरु को सौंप कर, वे उसे विविध प्रकार की शिक्षा ग्रौर ग्राशीर्वचन कह कर तप करने के लिये भृगुतुंग पर्वत पर चले गये। वहाँ सम्पूर्ण संग त्याग करके चिरकाल तक तपस्या करने के कारण ग्रात्मानुभव के द्वारा उनकी त्रिगुणात्मक उपाधि दूर हो गई। निदान उन्होंने भगवच्चरण में लीन होकर परब्रह्म में भागवती गति ग्रौर निर्मल सायुज्य मुक्ति पाई।

यह हमारे चरित्र-नायक महाराज ययाति का संक्षिप्त चरित्र है। इसी को ग्रागामी पृष्ठों में विस्तारपूर्वक लिखने का प्रयास किया है। ग्राशा है पाठकों को ग्रवश्य ही रुचिकर ग्रौर शिक्षा-दायक होगा। पाठकों को इससे थोड़ा भी मनोरंजन ग्रौर लाभ होने पर लेखक ग्रपने प्रयास ग्रौर परिश्रम को सफल ग्रौर कृतकृत्य समझेगा।

——

२

उपक्रमणिका

(१)

प्रस्थान

इस त्रिलोकी के राज्याधिकार के लिये एक बार देवता और दानवों में अति घोर युद्ध छिड़ गया। वह देवासुर-संग्राम उस समय और भी भयंकर और उग्र, एवं जटिल और गुरुतर हो उठा, जब जय पाने की इच्छा से देवताओं ने अंगिरासुत बृहस्पति को आचार्य-पद पर नियुक्त किया, और मृतसंजीवनी-मंत्र जानने वाले भृगु-कुमार ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य ने स्वेच्छा से जाकर दानवों के गुरु और आचार्य बन कर अति दुष्कर तपस्या द्वारा प्राप्त की हुई मृतसंजीवनी-विद्या के बल से दैत्यों को अति पराक्रमशाली बना दिया। युद्ध में देवता जिन दानवों को मार गिराते, उन्हें शुक्राचार्य मृतसंजीवनी-मंत्र द्वारा पुनर्जीवित कर लेते। किन्तु उस विद्या को न जानने के कारण देवाचार्य गुरु बृहस्पति मृत देवताओं को फिर जीवित न कर सकते। अतः दैत्यगण मृत्यु-भय-रहित होकर अवलीलाक्रम से देवताओं को भगा देकर चहुँओर आधिपत्य स्थापित करने लगे।

देवता लोग युद्ध में किसी प्रकार भी दैत्यों से पार न पा सके; क्योंकि देवताओं में जो मारा जाता, वह फिर जीवित न हो सकता; और दैत्य लोग मर कर भी शुक्रचार्य की मृतसंजीवनी के प्रभाव से पुनर्जीवित होकर बचे हुए देवताओं से मुहुर्मुह युद्ध करने लगते। इससे देवजन समर में दैत्यों के संमुख स्थिर न रह सके; उनके पांव उखड़ गए; वे भाग खड़े हुए। दैत्यों में जय

कोलाहल और देवताओं में हाहाकार मच गया। दैत्य लोग क्रमशः ही राज्य विस्तार करने लगे।

यह देख कर सुरों को बड़ा खेद हुआ; वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर कुछ भी स्थिर न कर सके। अन्त को सबने एकत्र होकर निश्चय किया कि, यदि मृतसंजीवनी-मंत्र किसी प्रकार देवताओं को उपलब्ध हो सके, तो उनका अभीष्ट सिद्ध हो जाय। यह निश्चय करके उन्होंने गुरु-पुत्र कच से कहा—"देखो कच! तुम हमारे आचार्य-सुत हो, तुम्हारा धर्म है कि, इस संकट के समय तुम हमारी कुछ सहायता करो। यदि तुम किसी प्रकार मृतसंजीवनी-विद्या सीख आ सको, तो देवताओं का बड़ा उपकार कर सकोगे।"

इधर तो कच से उन्होंने यह अनुरोध किया, उधर ज्यों ज्यों दिन बीतने लगे, धैर्य उन्हें असह्य हो उठा। इससे बात-बात में मृतसंजीवनी-विद्या की बात उठा कर वे लोग गुरु बृहस्पति से वाद-विवाद करने लगते, और उनका अपमान करने तक में आगा-पीछा न सोचते।

एक दिन सब देवताओं ने एकत्र होकर उधर तो कच से फिर मंत्र सीखने का अनुरोध किया, इधर गुरु को बुलाकर उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाई; जिससे क्षुब्ध होकर बृहस्पति घर लौट आए, और एकान्त में बैठकर अपने किये गये अपमान पर विचार करने लगे। इससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। मृतसंजीवनी-विद्या न जानने के कारण ही आज कितने ही दिनों से देवसमाज में उनका अपमान होता चला आरहा था। यह अपमान सहन करना उनके लिये अब सामर्थ्य के बाहर की बात थी। उससे छुटकारा पाने के अब दो ही उपाय थे। उन्होंने सोचा, या तो वे मृतसंजीवनी-मंत्र प्राप्त करें; या देवताओं के आचार्यपद को त्याग दें। इससे

भिन्न अपर गति नहीं थी; अपमान से छुटकारा पाने का दूसरा उपाय नहीं था।

गुरु बृहस्पति अपनी स्थिति पर इस प्रकार विचार कर रहे थे कि इतने ही में इस प्रकार सोच-मग्न पिता के सामने पहुँच कर पिता के श्रीचरणों में शीश नवा कर कच ने उनसे कहा— "पिताजी ! देवताओं ने मुझे मृतसंजीवनी-विद्या सीखने के लिये उद्योग करने का परामर्श दिया है। आप आज्ञा दें, तो मैं किसी प्रकार भी वह विद्या सीख कर देवताओं का अभीष्ट सिद्ध कर सकूँ।"

कच को देवताओं द्वारा किये गये पिता के अपमान की बात ज्ञात नहीं थी, इसीसे इस प्रकार सरल चित्त से आकर उन्होंने पिता से यह बात कही। सुनकर बृहस्पति के हृदय में क्या भाव उदय हुए, सो तो कहा नहीं जा सकता। उन्होंने उसी प्रकार पुत्र की बात का उत्तर देते हुए कहा—"पुत्र ! तुम अति पितृ-भक्त और देव-हितैषी हो। देवताओं के हितार्थ मृतसंजीवनी-विद्या उपलब्ध करो, यह तुम्हारा सौभाग्य है। किन्तु तुम उसे सीख किस प्रकार सकोगे, सो भी तुमने कुछ सोचा है"?

पिता की बात सुनकर कच ने उत्तर दिया—"क्यों ? क्या उद्योग करने पर मैं उसे सीख न सकूँगा; प्राप्त कर न सकूँगा ?"

बृहस्पति ने कहा—"तप द्वारा उसे प्राप्त कर सको, सो सामर्थ्य तुममें है नहीं। फिर दैत्याचार्य शुक्र के सिवा उस विद्या को कोई दूसरा जानता भी नहीं है। और जानता भी हो, तो भी शुक्र से भिन्न उस विद्या को अन्य कोई जानने पर भी किसी को दे नहीं सकता। क्योंकि प्रजापति ब्रह्मा का उनके लिये यही वरदान है। यदि तुम किसी प्रकार शुक्राचार्य को प्रसन्न कर सको तो अवश्य उस विद्या को सीख लोगे।"

सुनकर कच को बड़ा कौतूहल हुआ। कहा—"शुक्राचार्य को?"

वृहस्पति ने कहा—"हाँ शुक्राचार्य को। आश्चर्य न करो बेटा! यदि तुम सचमुच उस विद्या को सीख कर देवताओं का, देश का, और हमारा हित करना चाहते हो, देश को वैरियों से बचा कर मातृ-भूमि की रक्षा करना चाहते हो, स्वदेश और स्वराज्य की रक्षा करने, और देश-सेवा और देशोपकार की भावना यदि सत्य ही तुम्हारे हृदय में उदय हुई है, देश और देश-वासियों की पराजय से अपमान की अग्नि तुम्हारे अन्तःकरण में प्रज्वलित हुई है, और तुम देश-बैरियों के रक्त से उसे बुझा कर जननी-जन्मभूमि का हित करना चाहते हो, तो उसके एक मात्र उपाय मृतसंजीवनी-विद्या प्राप्ति के लिये तुम जाकर शुक्राचार्य के शरणापन्न हो। वे तुम्हें समुद्र-तट पर दानवेश वृषपर्वा की नगरी में मिलेंगे। तुम वहाँ पहुँच कर भक्ति-श्रद्धा-पूर्वक सेवा आराधना द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का उद्योग करना। यदि तुमने सेवा-भक्ति द्वारा उन्हें मुग्ध करके अपने अनुकूल बना लिया, तो तुम अवश्य ही उस विद्या को सीख आओगे।"

कच ने विस्मय-विस्फारित लोचनों से पिता की ओर देखते हुए आश्चर्य-सूचक स्वर में कहा—"यह कैसा विषम व्यापार है पितः? दैत्याचार्य शुक्र आपका पुत्र और देवताओं का पक्षपाती—शत्रुपक्षीय समझ कर मुझे क्यों उस विद्या को सिखावेंगे? जब उन्हें यह ज्ञात होगा कि उस विद्या को सीखने के लिये ही मैं उनकी सेवा में लगा हूँ, तो क्या वे प्रसन्न होने के स्थान में मेरा अपमान नहीं करेंगे। मैं समझ नहीं रहा हूँ, क्योंकर मैं ऐसी दशा में शत्रु-आचार्य से वह मंत्र आहरण कर अपनी मनोकामना पूर्ण करने में समर्थ हो सकूँगा?"

तनिक मुस्क्या कर वृहस्पति ने कहा—"पुत्र! महापुरुष प्रसन्न

होने पर अपने-पराए में भेद नहीं मानते। तिसपर शुक्राचार्य तो उस स्वभाव के हैं भी नहीं। वे अति नम्र, दयाशील, साधुस्वभाव, परोपकारी और समवृत्ति के महापुरुष हैं। उनका स्वभाव अति शान्त, और प्रकृति अति कोमल और प्रेमपूर्ण है, उन्हें स्यात् ही कभी क्रोध आता हो। वे शत्रु-पुत्र समझ कर भी तुम्हारे साथ अन्यथा व्यवहार नहीं करेंगे। हमारा विश्वास है, दृढ़ धारणा है कि, उन्हें प्रसन्न कर सकने पर तुम अवश्य ही अभीष्ट साधन कर सकोगे। साथ ही एक और उपाय भी हम तुम्हे बताए देते हैं।"

कच ने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि से पिता की ओर देखा ; देवाचार्य ने पुत्र का आशय समझ कर कहा—"दैत्याचार्य शुक्र को देवयानी नाम की एक अति सुन्दरी रूपवती कन्या है, वह उनकी अपनी कुक्षि से ही उत्पन्न हुई है। शुक्र का उसपर एकान्त प्रेम और वात्सल्यस्नेह है ; वे कभी उसकी कोई बात नहीं टालते ; सदैव उसके अनुरोध की रक्षा कर उसे प्रसन्न रखने का ध्यान रखते हैं। तुम जिस प्रकार भी हो, वहाँ रह कर शुक्राचार्य की सेवा-निष्ठा के साथही साथ सच्चरित्र, अनुराग, प्रीति, और विनयशीलता द्वारा शुक्र-कन्या देवयानी को प्रसन्न कर लोगे, तो तुम कदापि हतमनोरथ होकर देश को नहीं लौटोगे, अवश्य उस विद्या को सीख कर ही आओगे—यह निश्चय है।"

"तब आज्ञा दें, और आशीर्वाद करें कि, मैं सफल-श्रम होकर ही स्वदेश को लौटूँ, और मृतसंजीवनी द्वारा स्वदेश और स्वदेश-वासियों का हित कर सकूँ ;" ऐसा कह कर कच ने पिता की पद-रज शीश पर धारण की, और पिता का आदेश और आशीर्वाद लेकर उन्होंने दैत्यपुरी के लिये प्रस्थान किया। उन्हें अपनी अभीष्ट-सिद्धि पर पूर्ण विश्वास हो गया।

गुरु बृहस्पति जाते हुए पुत्र की ओर बड़ी देर तक स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते रह गए। उनका हृदय गद्गद् और शरीर रोमांचित हो उठा, पुत्र की पितृ-भक्ति और स्वदेश-निष्ठा देख कर उनके नेत्रों में प्रेम और आनन्द के अश्रु उमड़ आए। मन ही मन उन्होंने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहा—"जाओ, ईश्वर तुम्हारा कल्याण और मनोरथ पूर्ण करें; तुम सफलश्रम होकर स्वदेश को लौटो; और मृतसंजीवनी द्वारा तुम देश और देशवासियों का उपकार कर सको, पिता को अपमान से छुटा सको—यही हमारा आशीर्वाद है।"

गुरु बृहस्पति पुत्र को विदा और इस प्रकार आशीर्वाद देकर दूसरे कार्य को करने के लिये उठकर चल दिये।

उधर कच पिता के आशीर्वाद को ले शीघ्र ही निरापद और अप्रयास दैत्यराज वृषपर्वा की नगरी में जा पहुँचे।

भ्रम-निवारण

कच के दैत्यपुरी को प्रस्थान करने के इतरेद्यु इन्द्र-भवन में देवताओं की एक सभा बैठी। उस सभा में देवाचार्य बृहस्पति को छोड़ इन्द्र, वरुण, कुबेर, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, वसुगण, आदि प्रायः और सभी देवता विद्यमान थे। वन्दीजन आकर स्तुति और वन्दना कर गए, सिद्धचारण यशोगान, और विद्याधर विरदावली कीर्तन कर गए; अप्सराएँ नृत्य-गान कर के चली गईं। तब मुख्य विषय पर वार्त्तालाप आरम्भ हुआ। विविध प्रकार के परामर्श, और नाना प्रकार के कथोपकथन के उपरान्त देवराज इन्द्र ने कच का विषय उठाया। पूछाः—"तो यह बात सच है कि, कच 'मृतसंजीवनी-विद्या' सीखने के लिये दैत्याचार्य शुक्र के पास गये?"

उपस्थित सब देवताओं ने एकस्वर में कहा—"जी महाराज! गुरु-पुत्र कच उस मंत्र को प्राप्त करने के लिये दैत्यदेश को गये।"

सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए हर्ष-गद्गद् कण्ठ में इन्द्र ने कहा—"देवताओं का सौभाग्य! भगवान कच का परिश्रम सफल और देवताओं का मनोरथ पूर्ण करें। उस विद्या के सीख जाने पर सुरों को फिर कोई भय नहीं रह जायगा।"

वरुण ने कहा—"हाँ महाराज! क्योंकि फिर जो देवता रण में मारा जायगा, कच उसे उस मंत्र के प्रयोग से पुनर्जीवित कर लेंगे, और इस प्रकार देवताओं के दल में कोई कमी नहीं

आने देंगे। फिर ता देवता पूर्ण बलवान हो जावेंगे, और दैत्यों को सब स्थानों से मार भगावेंगे; उनका राज्य छीन लेंगे, और त्रिभुवन में सुर-साम्राज्य की दुन्दुभी बजा देंगे।"

इस बात से इन्द्र का मलिन मुख प्रसन्न हो उठा; परन्तु न जाने फिर तुरन्त ही क्या सोच कर उन्होंने गम्भीर मुद्रा धारण कर ली, उनकी वह प्रसन्नता विलीन हो गई, और मुख पर विषाद की काली रेखा दौड़ गई। देवराज इन्द्र की यह आकृति देखकर देवताओं को बड़ा विस्मय हुआ, उनका हृदय भी किसी अज्ञात आशंका के भय से सिहर उठा; सब एक दूसरे का मुख ताकने लगे। कुबेर ने डरते डरते पूछा—"यह क्या? आनन्द के स्थान में सुरपति का यकायक यह भाव-परिवर्त्तन क्यों?"

इन्द्र ने उत्तर दिया—"एक आशंका के कारण! भय है कच वहाँ जाकर कहीं अपने कर्त्तव्य को न भूल जावें। वहाँ उनके मार्ग में एक बड़ा भारी कण्टक है। और वह कण्टक है दैत्याचार्य शुक्र की परमा सुन्दरी, रूपलावण्यमयी तरुणी कन्या देवयानी। उसका अभी विवाह नहीं हुआ है। वह पिता के पास ही उनके आश्रम में रहती है। देवयानी अनिन्द्य सुन्दरी युवती रमणी है; कच भी रूपवान और सुन्दर तरुण युवक है। शुक्र-आश्रम एकान्तवासी तपस्वी का निर्जन स्थान है; दैत्याचार्य भी हर समय वहाँ नहीं रहते। सम्भव है कच और देवयानी उस निर्जन-निरीह-एकान्त स्थान में यौवन-तरंग में आकर एक दूसरे पर मोहित होकर परस्पर प्रणय-पाश में आबद्ध हो जायँ। यदि ऐसा हुआ; कच देवयानी के रूप और प्रेम में पड़ कर, उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर अपने कर्त्तव्य को भूल बैठें; तो विद्या सीखना तो एक ओर, उनका स्वर्ग को लौटना भी

असम्भव हो जायगा। यही आशंका हमारे हृदय को व्यथित किये हुए है, सुरसमूह !"

अश्विनीकुमार ने कहा—"परन्तु आपकी यह आशंका निरर्थक है देवराज ! कच रूप के मोह में आकर कर्त्तव्य को भूल जाने वाले व्यक्ति नहीं हैं। उन्हें हम भले प्रकार जानते हैं; वे एक कर्त्तव्य-निष्ठ, देशभक्त, देव-हितकारी, पितृपरायण, सरल चित्त नवयुवक हैं; कर्त्तव्य के आगे रूप का मोह, रमणी का रूप, सुन्दरी स्त्री का प्रेम उन पर प्रभाव न डाल सकेगा।"

इन्द्र बोले—"संसार में स्त्री और ऐश्वर्य वासना के दो खास मार्ग हैं; परन्तु दूसरे से पहला—ऐश्वर्य से स्त्री (अधिक) आकर्षक है। स्त्री की एक सरल चितवन पर पुरुष अपने आपको समर्पण कर देता है; उसकी एक मधुर मुसक्यान पर त्रैलोक्य के ऐश्वर्य को, समस्त वैभव को लुटा देता है। स्त्री में बड़ी मादकता है, बड़ा विष है, बड़ा आकर्षण है !! रमणी का रूप वह ज्वाला है, जिसकी लपट लगते ही पुरुष निर्जीव हो जाता है; स्त्री का सौन्दर्य वह मदिरा है, जिसे देखते ही पुरुष मत्त हो जाता है; नारी का लावण्य वह शीतलता है, जिसका स्पर्श होते ही पुरुष निस्तेज और निर्बल हो जाता है; रमणी की कान्ति—स्त्री की रूपप्रभा वह दुरन्त विष है, जिसके देखने मात्र से पुरुष संज्ञा-शून्य, चेतना-हीन हो जाता है। और सब वस्तुओं में आकर्षण है; परन्तु रूप में आकर्षण और आत्म समर्पण करा लेने वाली मोहिनी शक्ति है; रमणी-रूप हठात् पुरुष को अपने वशीभूत कर लेता है; सौन्दर्य में बड़ी विलक्षण विद्युत् और आकर्षण शक्ति है। रूप पर आज तक असंख्य हृदय निछावर हो चुके हैं। शुक्र-कन्या देवयानी अनिन्द्य सुन्दरी युवती रमणी—तरुणी स्त्री है; वही मदिरा, ज्वाला, विष और शीतलता

है। कच उसकी रूप-प्रभा—सौन्दर्य-छटा के वशीभूत हुए बिना रह न सकेंगे। और यदि ऐसा हुआ; कच देवयानी के रूप पर मोहित होकर अपने कर्त्तव्य को भूल गए, तो.........."

देवराज इन्द्र अभी अपना कथन समाप्त भी न कर पाये थे। कि हठात् देवगुरु बृहस्पति उस सभा में चले आए। इन्द्र के कुछ शब्द उन्होंने सुन लिये थे, उसी से उन्होंने उनके समस्त कथन का निष्कर्ष और आशय समझ लिया। सभा में प्रवेश करते ही देवपति की बात को बाधा देते हुए उन्होंने कहा—"तो कच विद्या न सीख सकेंगे, और देवताओं का कार्य होने से रह जायगा, देवता लोग पराजित होकर अमरपुरी छोड़कर भाग जावेंगे; इन्द्रासन धूल में मिल जायगा; और असुरगण आकर अमरपुर, देवलोक और इन्द्रासन पर अधिकार कर त्रिभुवन के स्वामी, कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता और भाग्य-विधाता बन जावेंगे। ब्रह्म-निर्मित-विश्व-ब्रह्माण्ड से सुरों का नाम तक मिट जायगा। क्यों देवराज ? यही होगा न।"

इस प्रकार गुरु के हठात् वहाँ आकर यह कहते ही सब देवता उनकी ओर देख कर उठ कर खड़े होगये; इन्द्र कुछ भयभीत से होकर सहम गये, और कातर दृष्टि से आचार्य की ओर देखते रह गये। उनकी यह दशा देखकर गुरु बृहस्पति को हँसी आगई, वे मनही मन मुस्कराने लगे। फिर स्वर को तनिक नम्र और गम्भीर करके उन्होंने कहा—"देवराज ! इतना शंकित होने का कोई कारण नहीं है। इस निरर्थक आशंका को व्यर्थ हृदय में पोषकर भयभीत न हो। कच के स्वभाव और चरित्र को तुम जानते नहीं हो, कच की प्रकृति से परिचित नहीं हो, इसी से स्यात् ऐसा समझते हो। तुम जिस प्रकार स्वयं व्यभिचारी, इन्द्रियपरायण, रमणी-लोलुप, सौन्दर्य के दास और

रूप के मोही, परस्त्रीगामी हो; उसी प्रकार तुम दूसरों (कच) को भी असंयमी और दुश्चरित्र समझते हो। कच मेरा पुत्र है; मैं उसके स्वभाव, चरित्र और प्रकृति को; आचार-व्यवहार को भले प्रकार जानता और समझता हूँ। तरुण और सुन्दर होने पर भी कच सच्चरित्र, इन्द्रियजित और संयमी है; कर्त्तव्य-परायण और देशभक्त है; गम्भीर, सीधा, भोला और सरल-चित्त है; सांसारिक वासनाओं से नितान्त अनभिज्ञ और ज्ञानरहित है; रूप का जादू, रमणी का प्रेम, तरुणी स्त्री का सौन्दर्य उस पर प्रभाव न डाल सकेगा, वह रूप के वशीभूत कदापि न होगा।"

सुनकर इन्द्र अवाक् रह गये; उनसे कुछ उत्तर देते न बना। उन्हें चुप देखकर कच-जनक बृहस्पति ने फिर कहा—" राजन्! भला बताओ तो कब किसी ने देश-सेवा के लिये अब तक ऐसा कठोर प्रण किया है; ऐसी कठिन साधना की है? देश और देशवासियों के हितार्थ, स्वदेश वासियों की कल्याण-कामना और स्वदेशोद्धार के निमित्त कब किसी ने ऐसा असाध्य और पुण्य व्रत धारण किया है? जननी-जन्मभूमि के कल्याण के लिये, मातृ-भूमि की रक्षा के लिये, स्वदेश को देश वैरियों से बचा कर उसके सम्मान और गौरव को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये, देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु, देशवासियों को अभीत रखने, स्वराज्य-विस्तार करने, और देश-शत्रुओं से बदला लेने का विचार कर के कब किसी ने अजान और पराए देश में जाकर कि जहाँ कोई अपना न हो, प्रवास में रह कर, जीवन की ममता न करके, प्राणों को हथेली पर रख कर, जान जोखिम में डाल कर, शरीर पर खेल कर, प्राणों की बाज़ी लगा कर, ऐसा कठोर कर्म, ऐसा असाध्य साधन, ऐसा दुस्साहसपूर्ण काम करने का पुण्य प्रयास किया है; इस प्रकार दुस्सह दुख उठाने का भार

अपने ऊपर लिया है ? किसने इस प्रकार जीवन-मरण के मध्य पड़ कर देशवासियों की इच्छा पूर्ण करने, उनके अनुरोध और परामर्श की रक्षा करने का कठोर व्रत धारण किया है ? किस ने बिना किसी प्रकार के परिणाम को विचार किये इस प्रकार के कठोर और प्राणनाशकारी भार को अपने ऊपर लिया है ? क्या बता सकते हो पुरन्दर ?"

अबकी इन्द्र को उत्तर देने का साहस हुआ। बोले—"इस प्रकार का कोई उदाहरण आज तक मैंने नहीं देखा सुना गुरुवर्य ! कच का यह उदाहरण अद्वितीय और प्रथम ही है आचार्य !

बृह०—तब फिर क्यों व्यर्थ की आशंका कर चित्त को चंचल करते हो देवराज ? इस नीच, घृणित और ओछे विचार को हृदय से निकाल दो पुरन्दर ! कच को नीच-प्रकृति-पूर्ण इन्द्रिय-परायण युवक न समझो। याद रखो, एक देवयानी क्या, सहस्रों देवयानियाँ भी यदि मूर्तिमान-सौन्दर्य का रूप धारण करके कच के सन्मुख आ खड़ी हों; तब भी कच कर्त्तव्य के आगे उनकी ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं। उसके हृदय में देश-प्रेम और देश-मर्यादा-रक्षा की; पितृ-भक्ति की जो ज्वाला भभक रही है, उसकी लपट में पड़कर अनेकों देवयानियों का रूप-लावण्य भस्म हो जायगा। उसके हृदय में स्वदेश-भक्ति की वह मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है, कि जिसकी तरंग-धार में पड़कर सहस्रों देवयानियों का सौन्दर्य एक साथ एकमूर्ति धारण करके आने पर भी बह जायगा। कर्त्तव्य के लिये, देश-हित के लिये, स्वराज्य-विस्तार की योजना के लिये, देश की गौरव-रक्षा के लिये, मातृ-भूमि को वैरियों से बचा कर उसकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनाए रखने के लिये, पिता की मर्यादा-रक्षा

के लिये, देशवासियों को शत्रुभय से अभीत बनाए रखने के लिये और सदैव के लिये जननी-जन्मभूमि को दुख से मुक्त करने के लिये वह सुदूर देश में—प्रवास में उस कठिन कर्म के करने के लिये गया है कि, जिसके करने का साहस आज तक कभी किसी ने नहीं किया; न कोई कर सकता है।

शत्रु-देश में, शत्रु-आचार्य से मृतसंजीवनी-मंत्र-आहरण !!! उफ़ ! कितना कठिन ! कितना भयावह !! कितना स्पर्द्धा और साहसपूर्ण कार्य !!! मानो बाघ के मुख से भोजन छीनना है ! कितना भयानक कठोर कर्त्तव्य है !! उस कर्त्तव्यकर्म के सम्मुख रमणी का सौन्दर्य, सुन्दरी नारी के रूप की लालसा, युवती स्त्री के लावण्य-भोग की लिप्सा और भावना उसको अपने वशीभूत न कर सकेगी; उस पर कोई प्रभाव न डाल सकेगी, उसे कदापि कर्त्तव्य से डिगा न सकेगी; उसे चंचल न बना सकेगी; अपने जाल में फँसा न सकेगी।"

कह कर देवाचार्य वृहस्पति जिस प्रकार यकायक आये थे; उसी प्रकार शीघ्रता से वहाँ से चले गये, किसी को उत्तर देने का अवसर तक नहीं दिया। सब उनकी ओर देखते रह गये। बड़ी देर में प्रकृतिस्थ होने पर इन्द्र ने वाष्पगद्‌गद् लोचनों और हर्ष-गद्‌गद्-चित्त से सब सुरों को विदा दे सभा भंग की। फिर और कोई परामर्श उस दिन नहीं हुआ।

---

(३)

शिष्यत्व-ग्रहण

दैत्य-देश में पहुँच कर जिस समय कच जाकर शुक्राचार्य के आश्रम-द्वार पर खड़े हुए; उस समय प्रथम ही प्रथम उनका देवयानी से साक्षात् हुआ।

उस समय संध्या हुई हुई थी; प्रदोषकाल था; आकाश में रक्त-रंजित-अरुणिमा छा कर अपने प्रकाश से गोधूलि-कणों को स्वर्ण-रंजित कर रही थी। शुक्र-तनया देवयानी उस समय गायों को चरा कर आश्रम को लौटी ही थी, और संध्या-परिचर्य्या के लिये पूंछ हिलाहिला कर अपनी इच्छा प्रकट करती हुई उन गायों को आश्रम-गोशाला में कर के संध्या-कर्म के लिये आश्रम द्वार पर आकर खड़ी ही हुई थी, कि उसी समय कच महर्षि शुक्राचार्य के आश्रम द्वार पर पहुँचे। देवयानी हठात् अपने सामने एक अत्यन्त सुन्दर युवा पुरुष को देख कर चौंक कर ठिठकसी गई; और बड़ी देर तक आश्चर्य-चकित दृष्टि से कच की ओर देखती रह गई।

देवयानी ने एक बार कच को नख-शिख से निहारा; और उनका अपरूप उज्वल शरीर-सौन्दर्य्य, सुदीर्घ-तनु, प्रदीप्त-कान्तिमय-देह-प्रभा, सुडौल शरीर-सौष्ठव, विशाल सुन्दर वपुः, और इन्दीवर-तुल्य-श्यामल-नेत्रद्वय देख कर समझ लिया कि, यह कोई दैत्य-देश-वासी युवक नहीं है। आदर पूर्वक उन्हें सम्बोधन कर देवयानी ने पूछा—" युवक! आप कौन हैं; कहाँ से किस निमित्त आप यहाँ पधारे हैं? अतिथि होना चाहते

हैं, तो कृपा कर आश्रम में प्रवेश कीजिये। मेरे पिता दैत्याचार्य ब्रह्मर्षि शुक्र इस आश्रम के अधिपति और स्वामी हैं; यहीं वे दूर देशों और प्रवास से आए हुए अपने शिष्यों को शास्त्र-शिक्षा और विविध-प्रकार की कला-विद्या का अध्ययन कराते हैं। मैं उनकी एक मात्र दुहिता, उनकी अपनी कुक्ष से उत्पन्न हुई कुमारी कन्या देवयानी हूँ। आप को देख कर पिता अति प्रसन्न होंगे, आप भीतर आश्रम में उनके समीप चलें, यथासाध्य आपकी सेवा-अभ्यर्थना और अतिथि-सत्कार किया जावेगा।"

कच ने उत्तर दिया—"ऋषिकन्ये! मैं विद्यार्थी-युवक हूँ; विद्या-प्राप्ति के लिये उपयुक्त गुरु की खोज में फिर रहा हूँ, तुम्हारे पिता के दर्शन अवश्य करूंगा, सम्भव है, उनका शिष्यत्व-ग्रहण करने से ही मेरी इच्छा पूर्ण हो, उनके गुरु बनाने से मेरा अभीष्ट-साधन हो जाय। सुना है, महर्षि शुक्राचार्य महाज्ञानी और बड़े पण्डित हैं, कितनी ही विद्याओं के ज्ञाता और अच्छे शिक्षक हैं। तुम मुझे उनके समीप ले चलो।"

कच को लेकर देवयानी ने आश्रम में प्रवेश किया। ब्रह्मर्षि-शुक्राचार्य्य उस समय एक वृक्ष के नीचे बैठे सायं-सन्ध्या और अग्निहोत्रादि करने में प्रवृत्त थे। देवयानी ने कच को ले जाकर उनके समीप खड़ा करके कहा—"पिताजी संध्या कर रहे हैं, अभी थोड़ी देर में वे अग्निहोत्र कर निवृत्त होंगे; तभी उनसे आपकी भेंट होगी। तब तक आप बैठकर विश्राम कीजिये।"

देवयानी की बात सुनकर कच महर्षि शुक्राचार्य्य से कुछ अन्तर पर एक दूसरे वृक्ष के तले बैठकर उनके निवृत्त होने की प्रतीक्षा करने लगे। ऋषि के नित्यकर्म से निपट कर अपनी ओर देखते ही उन्होंने समीप जाकर उनके चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। ऋषि शुक्राचार्य्य ने क्षण भर उनके तेजःपुंज कान्तिमय मुख को

अवलोकन कर स्नेहपूर्ण मुग्धस्वर से उन्हें आशीर्वाद देकर प्रेम भरे शब्दों में पूछा—"युवक! तुम कौन हो? तुम्हारा क्या परिचय है? किस देश से किस निमित्त यहाँ आए हो? तेजपुंज तपवेश ब्रह्मचारी सुन्दर युवक! तुम्हारा जो अभीष्ट हो, मुझ पर प्रकट करो।"

कच ने पुनः ऋषि को एक बार प्रणाम करके कहा—"देव! मैं अंगिरासुत, देवाचार्य्य महाराज वृहस्पति का पुत्र कच हूँ। मैं विद्यार्थी हूँ। आपके पाण्डित्य का बखान सुनकर विद्या-प्राप्ति के हेतु आपके समीप आया हूँ। आपका शिष्य होकर अभीष्ट विद्या प्राप्त करना ही मेरा ध्येय है। आशा है कृपया मुझे अनुमति दे मेरा मनोरथ सफल करेंगे।"

शुक्राचार्य्य बोले—"देवाचार्य्य वृहस्पति के तुम पुत्र हो? तुम्हारे आने से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तुम्हारी पितृ-भक्ति और देशप्रेम के विषय में मैंने बहुत सुना है। तुम एक कर्त्तव्य-परायण, ध्येय-निष्ठ युवक हो। मैं तुम्हें शिष्य बनाना स्वीकार करता हूँ। मेरे समीप रहकर शिष्य-धर्म का पालन करते हुए तुम विद्याध्ययन करो; तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा।"

भगवान शुक्राचार्य्य का आदेश पाकर कच के आनन्द की सीमा न रही; उन्हें आशा न थी कि; शुक्राचार्य्य इतना शीघ्र उन्हें शिष्य बनने की आज्ञा दे देंगे। प्रसन्नचित्त से आचार्य्य के चरण छूकर उन्होंने कहा—" भगवन्! आपका शिष्यत्व-ग्रहण कर आज मैं धन्य हुआ, मेरा प्रयास सफल हुआ, अपनी सिद्धि में मुझे अब कोई सन्देह नहीं रहा। मैं आपकी चरण-सेवा करता हुआ आपकी दी हुई शिक्षा और विद्या को हृदयङ्गम करता हुआ अपना अभीष्ट सिद्ध करूँगा।"

शुक्राचार्य्य ने कहा—वत्स! तुम्हारी दृढ़ता और तुम्हारे शुद्ध

विचार अवश्य ही तुम्हारा संकल्प और प्रयास सफल करेंगे। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी। तुम यहाँ रहकर ब्रह्मचर्य्यव्रत पालनपूर्वक अपनी अभीष्ट विद्या प्राप्त करो। देखो, यह कन्या देवयानी मुझे प्राणों से अधिक प्यारी है। आज से अपनी और इसकी सेवा का भार मैंने तुम्हें अर्पण किया, मेरी और इसकी समस्त परिचर्य्या का उत्तरदायित्व अब तुम पर न्यस्त रहा। इसमें कोई त्रुटि न हो।"

कच से इतना कह कर उन्होंने फिर देवयानी से कहा—"पुत्री! देवयानी!! कच एक होनहार सुभग युवक हैं, अवश्य ही मेरी कृपा और मेरे अनुग्रह तथा आशीर्वाद के पात्र हैं। मैंने इन्हें शिष्य बनाया है। इनकी उपस्थिति में आश्रम की देखरेख, गउओं की सेवा, और मेरी और तुम्हारी परिचर्य्या भले प्रकार होगी। यह इस समय दूर से चल कर आए हैं, थके और श्रान्त हैं, तुम इन्हें अतिथिगृह में लेजाकर इनके भोजन और विश्रामादि का प्रबन्ध करो; यह विश्राम कर अपना श्रम दूर करलें। कल से यथानियम कार्य आरम्भ करेंगे।"

पिता का आदेश सुन कर देवयानी कच को अतिथि-निवास को ले गई और उनके भोजनादि का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया। कच ने प्रसन्नचित्त से भोजन कर विश्राम किया।

दूसरे दिन उन्होंने आचार्य शुक्र से विधि-विहित ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। उन्हें अपनी सिद्धि पर अब कोई सन्देह न रहा। वे आश्रम में रहकर गुरु की आज्ञा पालन-पूर्वक आचार्य और देवयानी की सेवा परिचर्य्या करते हुए औरऔर विद्या-प्राप्ति के साथसाथ अभीष्ट-साधन के अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

---

(४)

सिद्धि

कार्य-सिद्धि में पदपद पर विघ्न-बाधाएं पड़ा करती हैं। उनसे पार पा जाने पर अन्त में कहीं बड़ी कठिनता और प्रयास से जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। कष्ट-सहिष्णु और धैर्य पर दृढ़ रहने वाला मनस्वी पुरुष ही ध्येय की सिद्धि प्राप्त करता है। अभीष्ट-साधन और तलवार की धार पर चलना एक ही बात है। शुभ-कार्य का मार्ग सदा कण्टकाकीर्ण रहता है, जिसने उस मार्ग को तय कर लिया, उसने अभीष्ट साधन कर लिया, यह निश्चय है ; इस में इतना भी सन्देह नहीं है। कच को भी अपने अभीष्ट-साधन करने में विविधप्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ; कई बार तो उन्हें अपने प्राणों को भी खोना पड़ा, तब जाकर कहीं बड़े दुःखों से उन्हें मृतसंजीवनी मंत्र प्राप्त हुआ।

महर्षि शुक्र को गुरु बना कर उनकी सेवा और देवयानी की परिचर्य्या का समस्त भार कच ने अपने ऊपर ले लिया। विद्या-प्राप्ति के साथसाथ वे बड़ी तत्परताओं से गुरु की सेवा और उनकी आज्ञाओं का पालन करते। सेवा-परिचर्य्या और आज्ञा-पालन द्वारा गुरु को प्रसन्न रखने के अतिरिक्त उन्हें गाने-बजाने, फूल-फल लाने एवं सेवा-सत्कार के द्वारा देवयानी को भी सन्तुष्ट रखना पड़ता। युवक कच के ऐसे व्यवहार से आचार्य्य शुक्र को और कन्या देवयानी को बड़ा विस्मय, बड़ा आनन्द और बड़ी प्रफुल्लता हुई। वैसी एकाग्रता, वैसी सेवा-परिचर्य्या,

वैसी गुरुभक्ति और वैसी तत्परता उन्होंने अबतक कभी किसी शिष्य में नहीं देखी थी। ऐसे शान्त-शिष्ट, आज्ञाकारी सुशील परिचायक को पाकर देवयानी का सब अभाव दूर हो गया। उस निर्जन आश्रम के निभृत कोण में बैठी हुई बालिका जिस समय निस्तब्ध-मध्यान्ह-नभ की ओर ताकते रहने के सिवा खोज करने पर भी और कोई कार्य्य न पाती, तब वह कच के साथ ही आलाप कर अपने समय का उपयोग करती; और तब दोनों मिल कर परस्पर संगीत-लालित्य के द्वारा एक दूसरे का मनोरंजन करते। प्रभात, मध्यान्ह और अपरान्ह में आश्रम-पालित पशु जिस समय आहारान्वेषण के लिये एकत्र होकर देवयानी को चारों ओर से घेर कर खड़े हो जाते, और देवयानी उनसे विव्रत हो उठती; उस समय वह क्षिप्रहस्त, कर्मनिष्ठ युवक कच ही उसकी रक्षा करते। उनके कार्यकलाप को देख कर कृतज्ञता और उत्साह से देवयानी का हृदय गद्‌गद् हो उठता। पिता के यज्ञ के लिये काष्ठ संग्रह कर के अग्नि प्रज्वलित करने के लिये देवयानी जब उसमें फूंक लगाती, और धूम्रपुंज उठ कर उसके नवनीत लोचन-युगल को ढंक लेता, तब नेत्र पोंछते पोंछते देवयानी उस युवक के ऊपर ही सब छोड़ कर उठ जाती।

अध्वान्त में अलिपुंज की मधुर गुंजार से पुष्पवृक्ष-लताओं के मुखरित हो उठने पर देवयानी सब छोड़ कर दौड़ कर उसके आनन्द को देखने के लिये वहाँ जाती; उस समय हाथ में जल-पूर्ण-घट लिये हुए कच भी उसके पीछे पीछे जाते, और एकएक कर के द्रुम-मूलों में जल-सिंचन कर चुकने के उपरान्त घट को भूमि पर रख कर विश्राम करते हुए, जब वह देवयानी की ओर दृगपात् करते; उस समय एक तृप्तिपूर्ण निःश्वास उनके

नासारन्ध्र से बहिर्गत होकर बातास में मिल जाती। देवयानी मुग्ध होकर कहती— "तुम मेरे सहोदर हो, जो अब तक बिछुड़ रहे थे; अब भगवान ने आश्रम के कष्ट-अभाव देख कर दया कर पुनः लौटा दिये हो।"

शुक्राचार्य की सेवा-परिचर्या का समस्त भार भी कच ने अपने ऊपर ले लिया था; वे महर्षि के समस्त कार्यों को अति द्रुतगति और क्षिप्रकर से कर के समिधि-पुष्प-फल-मूलादि एकत्र कर रखते।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रतपालनपूर्वक कच आचार्य शुक्र और गुरु-पुत्री देवयानी की सेवा-परिचर्या करते हुए विद्याध्ययन करने लगे। वर्ष पर वर्ष बीतते गये, परन्तु कच के कार्य-क्रम में कोई अनियमता नहीं आई। आचार्य शुक्र भी कच की ऐसी प्रगाढ़ गुरुभक्ति और एकनिष्ठ मन से की हुई सेवा-परिचर्या देख कर अति प्रसन्न रहते। क्रमशः कच के ऊपर उनकी प्रगाढ़ प्रीति हो गई; वे कच को अति यत्नपूर्वक शिक्षा देने लगे; तीक्ष्णबुद्धि कच भी गुरु की दी हुई शिक्षा को सहज ही हृदयंगम कर लेते। इस प्रकार उन्हें वहाँ रहते रहते कुछ और दिन बीते। शनैः शनैः अब उनकी मनोकामना सिद्ध होने का उपक्रम हुआ।

बृहस्पति-तनय-कच ने मृतसंजीवनी-विद्या सीखने के लिये आचार्य शुक्र के आश्रम में आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया है—यह समाचार क्रमशः दैत्य-राजधानी में पहुँच कर दैत्यराज्य भर में राष्ट्र हो गया। सुन कर दैत्यों को बड़ी चिन्ता हुई; उन्होंने एकत्र हो कर निश्चय किया कि, जिस प्रकार भी हो, उस महा शत्रु को निर्यात करना चाहिये; शुक्राचार्य के बिना जाने ही येनकेन

प्रकारेण उसे ठिकाने लगा देना चाहिये; जहाँ भी किसी को मिले चुपचाप पकड़ कर मार डालना चाहिये।

ऐसा निश्चय करने के दूसरे दिन ही दानवों ने गायें चरा कर आश्रम को लौट रहे अकेले कच को देख कर पकड़ कर मार डाला, और उनकी लोथ को वहीं गोचरभूमि में पड़ी छोड़ गये। जब गायें अकेली लौट कर आश्रम में पहुँची, तो कच को उनके साथ आया हुआ न देख कर देवयानी को कुछ आशंका हुई। आवेगभरे हृदय से उसने महर्षि शुक्राचार्य के पास जाकर कहा—"पिताजी! आज गायें अकेली लौट कर आई हैं, कच उनके साथ नहीं आये, अवश्य ही इसमें कुछ भेद है। कच क्यों नहीं आये, कारण कुछ समझ में नहीं आता। कहीं स्वर्ग को तो नहीं चले गये?"

शुक्र ने कहा—"बिना आज्ञा वह स्वर्ग को तो जायगा नहीं।"

देवयानी ने कहा—" तो किसी हिंसक-पशु ने तो पकड़ कर उसे नहीं मार डाला। आप एक बार अपनी विद्या का प्रयोग कर के देखें तो।"

शुक्र ने कहा—" सम्भव है, ऐसा ही हो। मैं अभी मृत-संजीवनी मंत्र का प्रयोग कर उसे बुलाता हूँ। यदि उसे किसी ने सचमुच मार ही डाला है, तो वह अवश्य ही मेरे मंत्र-प्रयोग से पुनर्जीवित होकर यहाँ आजायगा।"

कह कर आचार्य शुक्र ने ज्योंही मंत्र का प्रयोग कर कच को पुकारा कि, उसके क्षण भर उपरान्त ही कच ने आश्रम में आकर आचार्य को अपने दैत्यों द्वारा मार डाले जाने का समस्त वृतान्त सुना दिया। सुन कर पिता-पुत्री दोनों को बड़ा क्षोभ हुआ। परन्तु शुक्र ने उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। " किसकी

इतनी स्पर्द्धा जो महर्षि शुक्राचार्य के शिष्य पर आक्रमण कर के उसका बध करे"—कह कर देवयानी ने अवश्य कुछ रोष प्रकट किया।

इसके कुछ दिनों उपरान्त फिर एक दिन कच आचार्य के लिये सुमन संग्रह करने और यज्ञ-काष्ट लाने के लिये अकेले ही उपवन को गये। उस दिन भी दैत्यों ने उन्हें अकेला देख कर पकड़ कर मार डाला और उनके शव को उठा कर अबकी बार समुद्र में फेंक दिया। कच के आने में विलम्ब हुआ देख कर देवयानी ने पिता से कहा—"पिताजी! आज कच को फिर बड़ी देर हो गई, आपकी पूजा का समय हो आया, परन्तु कच अभी तक काष्ठ और पुष्प चयन कर उपवन से नहीं लौटे। जान पड़ता है, दैत्यों ने आज फिर उन्हें अकेला देख कर उनका बध कर डाला।"

इस बार आचार्य को भी कुछ आशंका हुई; साथही दैत्यों के ऊपर कुछ क्रोध का उद्रेक भी हुआ। उन्होंने तुरन्त मृत-संजीवनी-मंत्र का प्रयोग कर कच का पुकारा। मंत्र के प्रयोग से पुनर्जीवित होकर आर्द्रकलेवर और गीले वस्त्रों से आकर कच ने आचार्य को समस्त वृत्तान्त सुना दिया। सुनकर शुक्राचार्य का समस्त शरीर क्रोध से भभक उठा; परन्तु तुरन्त ही अपने को सम्भाल कर वे नित्यकर्म करने में लग गये।

कुछ दिन फिर योंही बीते। अबकी बार दैत्य लोग किसी ऐसी युक्ति के खोजने के विचार में लगे कि, जिससे कच निहत किये जाने पर फिर जीवित न हो सकें। विचारते विचारते उन्होंने एक युक्ति ढूँढ़ निकाली, और उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

दैवात् एक दिन कच फिर अकेले दैत्यों के हाथ पड़ गये। उन्होंने उन्हें तुरन्त पकड़ कर मार डाला, और उनके शरीर को जला कर, उसकी भस्म को मदिरा में मिला कर, उसे ले जाकर शुक्र को पिला दिया; और इस प्रकार अपनी विचारी हुई युक्ति का उपयोग कर के कच को सदैव के लिये नामशेष हुआ समझ कर आनन्द से फूले न समाये।

कच को उस दिन फिर बड़ी देर तक न आया हुआ देख कर देवयानी ने महर्षि के पास जाकर कहा—"पिताजी! भाई कच को आने में आज फिर बड़ा विलम्ब हो गया। सूर्य अस्त हो गये, आप नित्यकर्म भी कर चुके, मैं गायों की परिचर्या कर आई, चाँदनी छिटक आई है, आपके विश्राम का समय भी हो आया है, परन्तु कच अभी तक वन से नहीं लौटे। जान पड़ता है, आज फिर काण्ड घटित हुआ है; आज फिर दैत्यों ने उन्हें मारडाला जान पड़ता है।"

अब को आचार्य्य न तो भयभीत ही हुए, न उन्हें दैत्यों के ऊपर क्रोध ही आया। देवयानी की बात का उत्तर देते हुए उन्होंने उससे कहा—"बेटी! मैं अब इसमें क्या कर सकता हूँ? जान पड़ता है, कच की मृत्यु का समय ही आ गया है, इसी से तो पुनःपुनः यह घटना होती है—मैं मंत्रद्वारा उसे जीवित करता हूँ; और दैत्य पुनःपुनः उसे मार डालते हैं"।

देवयानी ने कहा—"पिताजी! जो भी हो, कच को तो आपको जीवित करना ही होगा; मैं उसके बिना जी नहीं सकती। आपके शिष्य दैत्यों का इतना साहस, इतनी स्पर्द्धा, कि वे आपका निरादर और अवहेला कर कच को पुनःपुनः मार डालें, और आप कुछ न कहें, आचार्य्य होकर मौन धारण किये बैठे रहें!! अबकी आप कच को पुनर्जीवित करके दानवों को उनके

कृत्य का उचित प्रतिफल दें, तभी वे अपने इस कुकर्म्म से पश्चात्पद होंगे।"

यह कह कर देवयानी रोने लगी। उसे रोते देखकर शुक्राचार्य्य ने कहा—"पुत्री! तुम जैसी अमरभाव को प्राप्त कुमारी को एक मरणशील व्यक्ति के लिये इस प्रकार रोना और शोक करना शोभा नहीं देता। मेरे कारण स्वयं ब्रह्म-ब्राह्मण-इन्द्रादि देवता, और समस्त संसार के अन्यान्य महज्जन तुम्हारी आराधना करते, और तुम्हारे सम्मुख विनय दिखलाते हैं। फिर एक कच के लिये तुम इतना शोक क्यों करती हो? इतनी व्याकुल क्यों होती हो? मुझे जान पड़ता है, कच की मृत्यु अब अनिवार्य्य है। मैं उसे कब तक इस प्रकार पुनर्जीवित करता रहूँगा? इसलिये तुम अब कच के लिये कातर मत हो। विधि-लिपि को टाल सके, सो सामर्थ्य किसी में नहीं है। 'विधि कर लिखा को मेटन हारा'?"

देव०--पिता जी! कच साधारण व्यक्ति नहीं हैं; वे आदि-देव वेदगर्भ ब्रह्मा के पुत्र महर्षि अंगिरा के पौत्र और देवाचार्य्य बृहस्पति के पुत्र हैं, ब्रह्मचारी, तपस्वी, कर्मकाण्डी, चतुर और पुरुषार्थी उदार युवक हैं। ऐसे पुरुषार्थी, भृत्य के समान आज्ञाकारी तरुण ऋषिकुमार को इस प्रकार आहत होते देख कर हृदय को किस प्रकार धैर्य्य हो सकता है? वे मुझे अति प्रिय हैं; उनके बिना मेरा जीना भी कठिन है पितः!

शुक्राचार्य्य देवयानी की यह कातरता सहन न कर सके। उन्होंने देवयानी को धैर्य्य देते हुए कहा—"अवश्य ही असुर लोग मेरा विरोध कर रहे हैं; वे मेरे निर्दोष सरल शिष्य को पुनः पुनः मार डाल कर मेरे विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। रौद्र-कर्म्म करने वाले दानव मुझे भी ब्रह्म-हत्या के पाप में लिप्त

करना चाहते हैं। ओह! इस पाप का अन्त नहीं है। ब्रह्म-हत्या का पातक इन्द्र को भी भस्म कर सकता है। अच्छा, तुम धैर्य्य रखो; मैं अभी कच को जिलाता हूँ। जिस अवस्था में भी होगा कच पुनर्जीवित होकर सदैव की भाँति अभी तुम्हारे सामने आ खड़ा होगा। कच को पुनर्जीवित करके फिर इन दुष्ट दैत्यों को भी उनके कृत्य का उचित प्रतिफल दूँगा। वे नहीं जानते, ऋषि का कोप त्रिलोकी को भी भस्म कर सकता है।"

इतना कह कर उन्होंने सदैव की भाँति मृत-संजीवनी-मंत्र का प्रयोग कर कच को पुकारा। कच ने पुनर्जीवित हो गुरु के पेट के भीतर से उत्तर दिया—"जी! मैं यहाँ आपके पेट के भीतर हूँ। बताइये किस प्रकार बाहर आऊँ?"

कच को अपने पेट के भीतर से ही बोलते हुए सुन कर आचार्य शुक्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—"कच! मेरे उदर के भीतर तुम कैसे पहुँच गये?"

पेट के भीतर से ही कच ने उत्तर दिया—"गुरुवर्य! आपकी कृपा से अब भी वे सब बातें मुझे स्मरण हैं। असुरों ने मुझे मार कर जला दिया और उसकी राख को मदिरा में मिला कर आप को पिला दिया; इस प्रकार मैं आप के पेट के भीतर पहुँचा। अब आपकी मृतसंजीवनी के प्रयोग से पुनर्जीवित हो कर यहाँ बैठा महान कष्ट पा रहा हूँ। आप का पेट फाड़ कर बाहर आने से तप की हानि होगी, इस विचार से ऐसा नहीं किया।"

कच के चुप हो जाने पर शुक्र ने देवयानी से कहा—"सुन लिया बेटी? अब बताओ मैं तुम्हारा प्रिय किस प्रकार करूँ? दुष्ट दैत्यों ने अबकी मुझ तक को मार डालने का उद्योग किया है। मेरे मरने पर ही अब कच का जीवन हो सकता है। मेरी

कुक्षि विदीर्ण किये बिना कच अब बाहर नहीं आ सकता। इस बार कच का मरण और मेरा जीवन; अथवा मेरा मरण और कच का जीवन—इन दोनों में से एक बात हो सकती है।"

देवयानी ने कहा—"और इनमें से किसी का भी होना मैं नहीं देख सकती। कच का मरण या आपकी मृत्यु, ये दोनों ही बातें मेरे लिये दुखद और शोकदायक होंगी। कच के न मिलने से मेरा शोक दूर न होगा, और आप के बिना मैं जीवित न रह सकूंगी।"

फिर थोड़ी देर चुप रह कर उसने कहा—"एक उपाय मुझे सूझ पड़ा है। आप अपनी मृत-संजीविनी-विद्या मुझे सिखला दीजिये, और तब कच को आपकी कुक्षि विदीर्ण कर के बाहर आने के लिये कहिये। उनके बाहर आने पर आपको मैं पुनर्जीवित कर लूंगी।

शुक्राचार्य ने उत्तर दिया—"बेटी! युक्ति तो तुम्हारी ठीक है। परन्तु उस मंत्र को ग्रहण करने की अधिकारिणी तुम नहीं हो। तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा और संस्कार अभी उस मंत्र को ग्रहण करने योग्य है नहीं।"

देवयानी ने पिता का उत्तर सुन कर कुछ देर चुप रह कर फिर कहा—"तब कच को ही वह मंत्र सिखला कर बाहर आकर आपको जीवित कर लेने के लिये कहिये।"

शुक्राचार्य ने कहा—"यह हो सकता है। कच उसके पाने का अधिकारी है; परन्तु क्योंकर उस अमूल्य-निधि को मैं दैत्य-आराति को दूँ। किस प्रकार मैं दैत्य-देश की इस परम सम्पदा को विपत्ती को देकर उनके साथ विश्वासघात और उनका अप्रिय और अहित करूँ? फिर कच को ही यदि अपने उदर के भीतर मरने देता हूँ, तो ब्रह्महत्या का पातक लगता

है। इस लिये कच को यह मंत्र देना ही होगा। इससे सभी ओर रक्षा होगी—कच के प्राण भी बच जायंगे, उसके बाहर आने के कारण मरने पर मैं भी पुनर्जीवित हो जाऊंगा, और तुम्हारा शोक भी दूर होगा।"

देवयानी—तब जैसा उचित समझें करें। परन्तु रक्षा आप और कच दोनों की हो।

"ऐसा ही होगा"—कह कर आचार्य शुक्र ने कच को सम्बोधन कर के कहा—"गुरु-नन्दन कच! आज तुम्हारी मनो-कामना पूर्ण होकर तुम्हारा अभीष्ट साधन हुआ। इतना प्रयास कर के तुम जिस कार्य के लिये यहाँ आये थे, और जिसके लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा में ठहरे हुए तुम प्रवास के इतने दुखों को सहन कर रहे थे, वह कार्य तुम्हारा आज हो गया, तुम्हारा प्रयास सफल हुआ है। आज तुम्हें सिद्धि हो गई; क्योंकि देवयानी तुम्हें इतना प्रेम करती है। तुम देवयानी के इतने प्रिय-पात्र हो, इस लिये मैं तुम्हें मृतसंजीवनीमंत्र प्रदान करता हूँ। तुम इसे प्राप्त कर मेरी कुक्षि विदीर्ण कर बाहर निकल आओ, और बाहर आकर फिर मुझे जीवित कर लो। मैं मंत्र उच्चारण करता हूँ. तुम उदर में बैठे ही बैठे उसे ग्रहण करो, और फिर मेरे कहे अनुसार कार्य कर के अपना, मेरा और देवयानी का प्रिय करो। लो सीखो।"

यह कह कर उन्होंने मृतसंजीवनीमंत्र उच्चारण करना आरम्भ किया। कच उदर के भीतर बैठे ही बैठे उसे सीखने लगे। मंत्र प्राप्तकर लेने पर वे आचार्य की कुक्षि विदीर्ण कर बाहर आगए, और बाहर आकर आचार्य को पुनर्जीवित कर लिया।

इस प्रकार कच को आज सिद्धि हो गई।

---

(५)

अभिसम्पात् और स्वर्ग-गमन

मृतसंजीवनीमंत्र प्राप्त कर कच के आनन्द की सीमा न रही। जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये ही वे माता-पिता, स्वजन-परिवार और स्वदेश को छोड़ कर यहाँ आए थे, और प्रवास के सब प्रकार के कष्टों को सहन कर रहे थे, और जो इतने वर्षों के कठिन-परिश्रम, आचार्य्य-तनया की सेवा-परिचर्य्या और निष्ठा-भक्ति के द्वारा भी प्राप्त न कर सके थे; उसी को आज हठात् प्राण-विसर्जन करने पर इस प्रकार प्राप्त कर लिया—यह देख कर कच के आनन्द की सीमा न रही। अब वे जयडंका बजाते हुए स्वर्ग पहुँच कर आटोपपूर्वक पिता के गर्व की रक्षा से हृदय फुला कर देवताओं का हित और स्वदेश का कल्याण कर सकेंगे, यह विचार कर कच का हृदय आनन्द और हर्ष से गद्गद् हो उठा।

इधर कच आनन्द में यों मग्न थे, उधर शुक्राचार्य्य ने यह देख कर कि मदिरा पिला कर ही असुरों ने आज उनके साथ छलना की है, मदिरा की बुराई करते हुए शाप दिया कि—"जो कोई मन्दमति ब्राह्मण, द्विज या उच्चजातीय मनुष्य आज से भूल कर भी मदिरा पान करेगा, वह धर्म्म से भ्रष्ट हो जायगा; उसे ब्रह्महत्या का पातक लगेगा; और उसकी इहलोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति होगी—साधु, ब्राह्मण, गुरुसेवक-ब्रह्मचारी, देवता और समस्त संसार के लोगों को पुकार कर आज से मैं द्विज-धर्म्म की यही मर्य्यादा बाँधता हूँ।"

और कुछ दिन योंही बीते। एक दिन हठात् कच ने गुरु के समीप जाकर उनसे स्वदेश-गमन की आज्ञा माँगी। शुक्राचार्य्य को सब विदित तो था ही, इच्छा न होने पर भी उन्होंने उस गुरु-भक्त, महत्-हृदय युवक को स्वर्ग जाने की अनुमति दे दी।

गुरु का आदेश और आशीर्वाद प्राप्त कर कच स्वर्ग जाने की तयारी में लगे। कल प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही वे स्वर्ग के लिये प्रस्थान करेंगे, इस लिये आज सब छात्रों और इष्टमित्रों से मिलभेंट कर उन्होंने विदा ले ली।

प्रदोषवेला थी, सूर्य्य अस्त हो चले थे, आकाश में सन्धिकाल की अरुणिमा छाई हुई थी, चन्द्रमा उदय होकर चाँदनी छिटकने लगी थी, तारे भी उदय होने लगे थे। अध्वान्त की ऐसी सुन्दर सुहावनी गोधूलिवेला में आश्रम-पार्श्व-प्रवाहिनी-स्रोतस्विनी-तट पर हरित दूर्वादल पर बैठे हुए कच अपनी सिद्धि-सफलता पर विचार करते हुए स्वर्ग-गमन के आनन्द में विभोर हो गान गाने लगे। तटस्थ घनकृष्णवृक्षों को भेदकर आलोकमय चन्द्ररश्मियाँ आकर उनके मुख पर पड़ रही थीं। हृदय में समाई हुई देश-प्रियता की उमंग गानरूप में हृदय से निकल कर वातास में मिल कर दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही थी। कच गान गाने में तन्मय हो रहे थे। ठीक इसी समय देवयानी चुपचाप आकर उनके पीछे खड़ी हो गई, और निश्चल प्रतिमा की नाई मौन हो गान सुनती रही। सारा वन उस तान पर जैसे नाच उठा हो, आकाश में नक्षत्र-मंडल जैसे हँस उठा, और वन के जीवजन्तु उस मनोहर स्वर-लहरी पर मोहित हो, चरना छोड़ कच के आसपास आकर एकत्र हो गये। यह सब हो रहा था, परन्तु देवयानी का उस पर कोई ध्यान नहीं था। कच विमुग्ध हो राग अलाप रहे थे, और देवयानी कुछ और ही बात विचार रही थी।

वह मनोमुग्धकारी स्वरलहरी, उस स्वरलहरी का मर्मस्पर्शी वह माधुर्य्य, नदी-सलिल का वह उल्लसित कलकलनाद, प्रकृति की वह मनोहर छटा—देवयानी के हृदय को आज यह सब कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। बाहर यह सुन्दर प्रकृति, और उसके हृदय के भीतर महाभड़ का सूत्रपात ! देवयानी उस समय विमना हो कच के स्वर्ग जाने की बात विचार रही थी।

विचारते विचारते देवयानी भाव-लहरी में बहुत दूर बह गई। निदान वह सोचने लगी—"कहाँ ? चिरईप्सा के लिये उसके हृदय में आकुल आवाहन का कोई शब्द तक नहीं सुन पड़ता। इस अनिन्द्य-सुन्दर युवक की स्निग्ध मुख-कान्ति देख कर कैसे किसी मधुर भाव से हृदय आप्लुत तो हो जाता है; उसके गान, उसकी साधना, उसके मधुर-हास्य की बात स्मरण होने पर मनमें होता तो है कि, जिस हृदय-पार्श्व में वे नहीं है; वह हृदय वस्तुतः बड़ा दरिद्र है। किन्तु हृदय के भीतर कहीं कोई ऐसा प्रकाण्ड भवन है, जो देवता हीन होकर इस युवक को कातर कण्ठ से आवाहन करता हो—यह भाव तो कभी कुछ अनुभूत हुआ नहीं। तो क्या केवल कर्त्तव्य-रक्षा के लिये ही आज इस देव-अतिथि को उस काल्पनिक-मन्दिर के द्वार तक आवाहन करनी होगा ? क्या प्रवंचना करनी होगी ? जो हो।"

देवयानी ने भावावेश में आ झट कच के सम्मुख पहुँच कर उसका हाथ अपने हाथ में लेकर पूछा—"कच ! क्या तुम सत्य ही स्वर्ग को जाना चाहते हो ? क्या इस दैत्यदेश में तुम्हारा अब कोई आकर्षण नहीं रह गया है ?

चकित दृष्टि से कच ने देवयानी की ओर देखते हुए कहा—"देवयानी ! बहिन !! तुम यहाँ कहाँ ? मैं तो तुम्हारे पास ही जा रहा था।"

देवयानी ने पूछा—"मेरे पास तुम क्यों जा रहे थे कच ?
कच ने उत्तर दिया—"विदा लेने के लिये।"

देवयानी ने फिर पूछा—तो तुम सच ही स्वर्ग जाओगे ? यहाँ अब किसी प्रकार भी नहीं रह सकते ?"

कच—देवयानी ! बहिन !! सच समझना। चिरकाल से माता-पिता के चरण-दर्शन नहीं किये हैं ; इससे उन्हें देखने के लिये प्राण अति आतुर हो उठे हैं। किन्तु इस आतुरता के होते हुए भी मन में यही भावना उदय होती है कि, जिससे मेरे अभाव में तुम्हें कोई कष्ट न हो। इस आश्रम की स्मृति मुझे स्वर्ग में भी सदा मुग्ध किये रहेगी। मुझे अकृतज्ञ न समझना……"

बीच ही में बात काट कर देवयानी ने कहा—"हा अतिथि ! इस बात पर तुमने एक वार भी विचार किया होता। तुम केवल गोचारण, पुष्पचयन, और पिता की सेवा-परिचर्या की बातही विचारते हो। किन्तु क्या कभी तुमने मेरी इस विपुल नीरवता शून्यप्राण और निःसंगजीवन के चित्र को भी खोल कर देखा है ? मेरी स्थिति पर भी कभी विचार किया है ?

कच ने उत्तर दिया—"नहीं विचारा ? तुम भूलती हो देवयानी ! किन्तु करूँ क्या ? कर्त्तव्य की ताड़ना से माता-पिता और स्वदेश को छोड़ कर यहाँ दैत्य-राज्य में आया था; और अब उस कर्त्तव्य की पुकार ही मुझे स्नेहमय-जनक-तुल्य-आचार्य, और तुम्हारे समान प्रेममयी भगिनी को छोड़ जाने के लिये विवश कर रही है। देवयानी ! इसका कोई उपाय नहीं है।"

देवयानी ने कहा—"उपाय है ! वह मैं तुम्हें बताती हूँ। एक बहुत भारी बात आज तुमसे कहती हूँ। सुनो कच ! गुरु

का आशीर्वाद और भगिनी का स्नेह, यह दोनों कर्त्तव्य के आगे तुच्छ हो सकते हैं। किन्तु एक वस्तु है, जो उसके सामने अवहेला की सामग्री नहीं है। वह वस्तु है रमणी का प्रेम; मैं तुम्हें वही दूँगी कच! तुम अमरपुरी का प्रलोभन और मोह छोड़कर यहीं रहो।"

कच आश्चर्य-चकित हो रहे। विस्मय-विस्फारित नेत्रों से वे देवयानी की ओर देखते रह गये। गुरु-गृह पर ब्रह्मचारी भाई के सम्मुख आचार्य-तनया की यह कैसी युक्ति!! व्यथित हृदय से उन्होंने कहा—"देवयानी! बहिन!! आज इस विदाबेला में परीक्षा के हेतु मेरे आत्माभिमान पर इस प्रकार चोट न पहुँचाओ। तुम आचार्य्य-दुहिता हो; तुम्हें सदैव भगिनवत् ही देखा है। दैत्य-देश में आकर महर्षि शुक्राचार्य्य के आश्रम में रह कर क्या शिक्षा प्राप्त करके स्वर्ग को जारहा हूँ—क्या यही परीक्षा लेने के हेतु पितृ-मर्य्यादाभिमानिनी होकर तुम आज यह बात कह रही हो?"

मस्तक नत किये हुए निर्य्यातित हृदय से देवयानी कितनी ही देर तक नीरव रही। फिर धीरेधीरे बोली—"नहीं कच! यह बात नहीं है। अब तक भाई का नाता मान कर तुम्हारी अभ्यर्थना करती आई हूँ, किन्तु आज यथार्थ ही मैं नारी तुम्हारे हृदयद्वार पर प्रेमाञ्जलि अर्पित करने आई हूँ। ठुकरा देकर मेरे इस दान की अमर्य्यादा न करना। स्वर्ग की ममता भूल जाकर प्रेम के आलोक में नव्य-स्वर्ग रच कर हमारे इस पुनीत आश्रम को धन्य; और मेरे इस नारी-जीवन को सफल बनाओ।"

कच ने तनिक आवेश में आकर कहा—"सुनो देवयानी! क्षुब्ध मत होना। तुम किसको अपना हृदय अर्पण कर रही हो, सो स्यात् तुम नहीं जानती?"

देवयानी ने उत्तर दिया—"जानती हूँ कच! भलीभाँति जानती हूँ। मैं अपने योग्य पात्र को ही हृदय अर्पण कर रही हूँ। तुम ब्रह्मपुत्र महर्षि अंगिरा के पौत्र और तपोनिष्ठ देवाचार्य बृहस्पति के पुत्र—कुलीन, सच्चरित्र, विद्वान्, सुशील, तपस्वी, जितेन्द्रिय, सुन्दर तरुण युवक हो। इसी लिये मैं तुम्हें अपना हृदय अर्पण कर रही हूँ। तुम भी अब ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर चुके हो। अब तुम मेरे साथ विधि-विहित विवाह करके गृहस्थ-संसार चलाओ।

"स्वप्न न देखो देवयानी!" कच ने कहा—"जिस प्रकार तुम्हारे पिता मेरे लिये मान्य और पूजनीय हैं। उसी प्रकार तुम भी मेरे लिये पूजनीया हो। तुम मेरी सहोदरा वहिन हो; भार्गव की जिस कोख में तुम रह चुकी हो, उसी में मैं भी रह चुका हूँ। गुरुकन्या होने के कारण भी धर्म्म की दृष्टि से तुम मेरी भगिनी हो। तुम ऐसा न कहो देवयानी! ऐसा कहना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

देवयानी ने कहा—"कच! तुम मेरे पिता के पुत्र नहीं हो; मेरे पिता के गुरु-पुत्र महामान्य बृहस्पति के पुत्र हो; इसलिये मेरे लिये मान्य और पूजनीय हो। मैं तुम्हें प्रेम भी करती हूँ, मुझे अंगीकार करना ही तुम्हारा धर्म और कर्त्तव्य है।"

कच ने उत्तर दिया—"कुमारी! अकरणीय कार्य को करने के लिये तुम मुझसे हठ न करो। तुम मेरे लिये आचार्य से भी बढ़ कर पूजनीया हो; इस विचार को हृदय से निकाल दो, और प्रसन्नचित्त से मुझे स्वर्ग जाने के लिये बिदा दो। मेरा यह कठोर कर्त्तव्य से परिपूर्ण क्षुद्र-जीवन स्वर्ग की एक अति आवश्यक और पवित्र साधना के लिये उत्सर्गित है, और वह साधना ही

मेरे इस देश में आने का कारण, और दृढ़ संकल्पपूर्ण इस दीर्घ-प्रवास, कठोर ब्रह्मचर्य और असह्य क्लेशों का मर्म्म है। मुझे आशीर्वाद दो बहिन! कि स्वर्ग में पहुँच कर मैं उस साधना की पूर्ति और उसका उद्यापन करके जीवन को सफल और धन्य बना सकूँ।"

"सो मुझे ज्ञात है कच! कि तुम यहाँ किस लिये आए थे" देवयानी ने कहा, "परन्तु क्या वह इतनी श्लाघा की समिग्री है, जितनी मैं तुम्हें प्रदान कर रही हूँ? सरलता और सत्यता के आवरण में घृणित चौर्यवृत्ति को परिवेष्टित किये हुए तुम देवचर होकर हमारे पास से दुर्लभ-मृतसंजीविनी-विद्या आहरण करने आए थे, और इतने दिनों की छलना और दैवानुग्रह से उसे प्राप्त कर तुम आज सब कृतज्ञता और इस चिरकालीन-व्यापी-सुख-स्मृति को छोड़कर स्वर्ग को जारहे हो।"

व्यथित-हृदय से कच ने कहा—"बहिन! देवयानी!! अब तक ऐसे स्नेह की धारा से हृदय को परिपुष्ट करके अब आज जाने के समय उस पर ऐसे निष्ठुर आघात न करो। काय-मनो-वाक्य द्वारा इतने दिनों तक तुम्हारी सेवा-परिचर्या और हित-साधन करके मैंने तुमसे कोई पुरस्कार प्राप्त किया हो, और जिसकी मैंने तुमसे कभी याचना न की हो, तो उसके लिये तुम मुझे इस प्रकार चोर और छली आदि कह कर गाली दोगी?"

"तरुण अतिथि!" देवयानी ने कहा, "प्राणभय से परोपकार का विचार करके वृद्धऋषि ने तुम्हें यदि मृतसंजीवनी-विद्या अर्पण कर दी, तो स्वार्थ-सिद्धि के लिये व्यर्थ क्यों उसे पुरस्कार संज्ञा देकर मुझे भुलाने की चेष्टा करते हो? तुम्हारा यह प्रयास

व्यर्थ है, मैं तुम्हारे इस भुलाने में आऊँगी नहीं। तुम स्वर्ग जा रहे हो ; जाओ, अब मैं तुमसे कुछ न कहूँगी। परन्तु स्मरण रखना कच ! इसका परिणाम तुम्हारे लिये अच्छा और सुफल न होगा"।

कच ने कहा—" तो क्या होगा देवयानी ?"

देवयानी ने उत्तर दिया—" तुम्हारा यह सब प्रयास निष्फल होगा कच ! मेरे स्वयं प्रार्थना करने पर भी जब तुम धर्म और काम की इच्छा से मुझे स्वीकार और अंगीकार न करके, मेरी प्रार्थना को ठुकरा कर स्वर्ग जारहे हो, उस अमूल्य निधि को, तो तुम, जिसके लिये तुम ऐसा कर रहे हो, भोग न कर पाओगे। मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि मृत-संजीवनी-विद्या तुम्हें सिद्ध न होगी, उसके द्वारा तुम स्वयं किसी का कोई उपकार न कर सकोगे।"

दुखी होकर कच ने कहा—" कुमारी ! गुरुकन्या समझ कर धर्म की दृष्टि से ही मैंने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार नहीं की, तुम्हारे साथ विवाह करना उचित नहीं समझा। इस पर भी यदि तुमने मुझे शाप दिया, तो तुम्हारी इच्छा। परन्तु देवयानी। इससे मेरी कुछ हानि न होगी। मुझे मतलब है स्वर्ग और स्वर्गवासियों के कार्य से ; विद्या की सिद्धि से नहीं। विद्या भले ही मुझे सिद्ध न हो, और मैं भले हो स्वयं उसके द्वारा देवताओं का हित न कर सकूँ ; मैं जाकर उसे औरऔर देवताओं को सिखला दूँगा ; उन्हें तो वह सिद्ध होगी, और वे तो उसके द्वारा देश का और देशवासियों का हित कर सकेंगे। बस इसी में मेरी साधना सफल हो जायगी। तुमने धर्माधर्म का विचार त्याग कर बिना सोचे समझे मुझे जो शाप दिया है, उसका प्रतिफल यही है कि, तुम्हारी इच्छा भी कभी पूर्ण न होगी। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि ; विप्रवंश में उत्पन्न कोई भी ब्राह्मण या ऋषिकुमार तुम्हारा पति न होगा। तुम विप्रवर को वरण न कर सकोगी।"

कच का शाप सुनकर देवयानी स्तम्भित होकर भौचकी सी खड़ी रह गई। उससे कोई उत्तर देते न बन पड़ा। कच भी फिर वहाँ पल भर न रुके, तुरन्त ही देवयानी के सामने से चल दिये। उसके उपरान्त कच को फिर किसी ने शुक्र-आश्रम अथवा दैत्यराज्य के किसी अन्य स्थान में नहीं देखा।

३

विषय-प्रवेश

प्रथम खण्ड

दर्शन

शर्मिष्ठा

दैत्यराज वृषपर्वा युग के सब से बड़े दानव-नरेश, महाशक्तिशाली, अति वीर्यवान, पराक्रमी और बलवान राजा थे। अपने बाहुबल और सैन्य-समुदाय की सहायता से उन्होंने समस्त भूमण्डल को विजय कर, त्रिलोकी में अपने राज्य की दुन्दुभी बजा दी थी। देवतालोग उस समय उनके नाम से भयभीत होकर थरथर काँपते थे। मृत-संजीवनी-विद्या के ज्ञाता महर्षि शुक्राचार्य को आचार्यपद पर वरण करके तो वे और भी दुर्जय, निर्भय और क्षमताशाली हो उठे थे ; उन्हें अब मृत्यु-मरण का कोई भय नहीं रह गया था ; क्योंकि मरे हुए दैत्यों को ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य अपने मंत्र-बल से पुनर्जीवित कर लिया करते थे ; इससे दैत्य लोग मृत्यु-भय विहीन होकर त्रिलोकी में विचर विचर कर शत्रुओं को परास्त कर महाराज वृषपर्वा का नाम विश्व-विख्यात और त्रिलोकी भर में दैत्यराज्य का विस्तार करने लगे थे। और दैत्यराज वृषपर्वा राजधानी के सिंहासन पर आसीन होकर विश्व-ब्रह्माण्ड के सामन्त नरेशों की भेंटें और प्रणामाभिनन्दन स्वीकार किया करते, अपने दूत भेजते, और जो देश अभी जीते नहीं गए थे, उन्हें विजय करके आधीन करने के लिये सेनाएँ भेजा करते। त्रिलोक-विजयिनी-वाहिनी थी उनकी, और दिगन्त-व्यापिनी शक्ति! ऐश्वर्य का समुद्र था उनका, और अजेय क्षमता!! वे भुवनपति थे और त्रिलोकी भर में परिव्याप्त था राज्य उनका, वे विश्व के स्वामी थे ;

अनन्त वायुमण्डल, विस्तृत भूभाग, अथाह जलराशि, पृथिवी-आकाश-पाताल, स्वर्ग-मर्त्य—सभी लोकों में जिनका समान शासन था। उनकी मूँछ का एक बाल मुस्करा उठता, तो त्रिलोकी को उसकी मर्याद-रक्षा के लिये अट्टहास करना पड़ता; और भृकुटी के किसी बाल का बाँकापन देखकर विश्व-ब्रह्माण्ड को उस कोप का दण्ड देखने के लिये श्वास रोककर खड़ा रहना पड़ता था। ऐसे क्षमताशाली, वीर्यवान प्रतापी, तेजस्वी दुर्द्धर्ष चक्रवर्ती सम्राट् थे दैत्यराज वृषपर्वा, विश्वब्रह्माण्ड में जिनका अटल और निश्चल राज्य था, और जो थे अखिल भुवन के ऐश्वर्यवान, समृद्धिशाली, शक्तिपूर्ण, त्रिलोकजयी, प्रतापवान, निर्भय, अजेय विश्ववन्द्य शासक और स्वामी !!!

उनकी एक परम रूपवती युवती कन्या थी, जिसका नाम था शर्मिष्ठा। शर्मिष्ठा जैसी रूपवती थी, वैसी ही गुणवती। उसके तेजोमय सौन्दर्य का विलास अति पवित्र और मनोरम था। बाह्य सौन्दर्य के साथसाथ उसका पवित्र मनोमण्डल भी शुद्ध और आनन्दमय भावों का लीला-निकेतन था। जितना सुन्दर, जितना सुश्रीयुक्त, जितना सुडौल और आभापूर्ण उसका कलेवर था, उतना ही शुद्ध, सरल, पवित्र, उदार, उच्च और महत्वपूर्ण उसका हृदय, मन और प्राण था; पावन और पुनीत, स्वर्गीय गुणों से परिपूर्ण उसका आत्मा था। वह दैत्यपुत्री के शरीर में देवकन्या थी। देव-दुर्लभ उसका रूप था, और अलौकिक उसकी गुणावली। अंगअंग से उसके सौन्दर्यरस टपका पड़ता था। वह परमरूपलावण्यमयी षोड़षवर्षीया युवती थी। उसके कान्तिमय कलेवर के प्रत्येक परिमाणु से पुण्यप्रकाश की धारा प्रवाहित होती थी। नवविकसित कली की भाँति उसके अंग प्रत्यंग से सुललित यौवन सुषमा और तरुणाई झलकती थी। वह

पवित्रता की प्रतिमा थी, और थी शान्ति की सरिता और तेज की धारा; सौन्दर्य की मूर्ति और सरलता एवं सुषमा का आगार। उसकी नवस्फुट तरुणाई और उमंगपूर्ण यौवन में ऐसे पुनीतभाव की आकर्षणी शक्ति थी कि, उसके दर्शन होने पर हृदय में पवित्रभावों का उद्रेक होकर मन उसकी ओर खिंच सा जाता। वह नन्दन-कानन में विचरण और परिश्रम करने वाली देवबालाओं के समान सुन्दरी और रूपलावण्यमयी थी; उसका मुखमण्डल अति प्रोज्वल, पुनीतभाव का प्रदर्शक और कान्तिपूर्ण था, और उस पर बिखरी हुई कलित-कुन्तल-केशराशि गुलाब की नवविकसित कली के मधुमय रस को पान करने के लिये मंडराती हुई श्यामल भ्रमर-मण्डली की भाँति शोभा देती थी। ज्योत्सना की उज्वल घटा के समान वह अपने अनिन्द्य सुन्दर मुखानन को मन्दहास से सदा आलोकित रखती थी। पारिजात के सजीवपुंज की भाँति मनोरम सौन्दर्य पर पुष्पों की वर्षा करने वाली उसकी मुखश्री थी; प्यार और प्रेम की सरल एवं सरस पवित्रतापूर्ण धारा सी बहाने वाले थे उसके कर्णायत कमल-लोचन युगल; गुलाबसदृश कोमल अधर-पल्लव, और थी उसकी उमंगपूर्ण, सुडौल, सुश्रीयुक्त एवं सुसम्पन्न पवित्र आभापूर्ण देहयष्टि। भारतीय सती-मण्डल आज भी उस महामयी देवी की पुण्य-कीर्ति की आभा से आलोकित है। भारतीय-महिलाएँ भारत की निधि हैं, और उनका दृष्टान्त है शर्मिष्ठा। महर्षि कण्व ने भी तो शकुन्तला को पतिगृह को विदा करते समय—आशीर्वाद दिया था कि "तू पति की आदरवती हूजो तो घर जाय। जैसे शर्मिष्ठा भई, नृप ययाति वर पाय"।

जब कुमारी शर्मिष्ठा के शोभामय प्रोज्वल शरीर पर यौवन का प्रथम प्रभात अपनी समस्त सुषमा के साथ उदय होकर

विकीर्ण हुआ, तब महाराज वृषपर्वा के हृदय में भी शील-शोभामयी दुहिता के योग्य बर जुटाने के लिये विचार उत्पन्न हुआ। कुमारी शर्मिष्ठा असाधारण सौन्दर्यमयी थी, उस समय उसके समान रूप-लावण्यमयी रूपवती तरुणी त्रिभुवन में दूसरी नहीं थी; देवयानी भी नहीं।

ऐसी श्रीमयी, शीलमयी, सौन्दर्यमयी, और गुणमयी अलौकिक सुश्रीसम्पन्न रूपवती कन्या के लिये उसी के अनुरूप उपयुक्त सुभग वर मिलना कोई सरल एवं सहज कार्य न था। महाराज वृषपर्वा ने त्रिभुवन में खोज कराई; देवलोक, गन्धर्वलोक, नागलोक, नरलोक सब कहीं घटक भेजे, परन्तु शर्मिष्ठा के उपयुक्त पात्र न मिला, जिसके हाथों राजा अपनी प्राणप्यारी रूपगुण-सम्पन्ना स्नेहमयी तनया को अर्पण कर कन्यादाय से मुक्त होते। राजा को विषम-चिन्ता आ उत्पन्न हुई यह देख कर। जितना ही दुहिता का यौवन-वन रूपके बसन्त-स्पर्श से विकसित होता जाता था, महाराज वृषपर्वा की चिन्ता भी उतनी ही परिवर्द्धित होती जाती थी। उसके अन्त होने का शीघ्रही कोई उपाय या लक्षण नहीं था। इसी समय एक अपूर्व घटना घटित हुई; जिसने महाराज वृषपर्वा की समस्त आशाओं पर पानी फेर दिया, अथवा उनकी आशा को स्वतः ही कार्यरूप में परिणत होने का अवसर दिया।

---

(२)

शर्मिष्ठा और देवयानी

कलह

स्वर्ग पहुँच कर कच ने मृतसंजीवनी-मंत्र कितने ही देवताओं को सिखा दिया, जिससे देव-समुदाय मृत्यु-भय-विहीन, अत्यन्त बलवान होकर दैत्यों पर आक्रमण करने का विचार करने लगे। इन्द्र देव-सेनापति को वाहिनी तयार रखने का आदेश देकर उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर कच के चले जाने से देवयानी अति विषण्ण हो उठी ; कच के शाप ने उसके हृदय में एक प्रकार की भय-मिश्रित-आशंका और निराशा उत्पन्न कर दी थी, जिसे विचार कर देवयानी कभी कभी किसी अज्ञात आशंका के भय से विह्वल होकर आकुल हो उठती, और कभी कभी रो भी पड़ती। वह अपने अपमान से आप ही खीझ कर भावी अनिष्ट का विचार करके भीतर ही भीतर दग्ध होती रहती; उसका चित्त सदा उद्विग्न और उत्यक्त रहता । मौनाश्रुपात करने के सिवा उसे अब दूसरी गति नहीं थी। धैर्य का कोई उपाय नहीं था।

दिन पर दिन बीतते गए, परन्तु देवयानी के हृदय से कच के अभिसम्पात की बात दूर नहीं हुई, वह ज्यों की त्यों बनी रही। पहले की भाँति देवयानी गोपरिचर्या, पिता की सेवा, आश्रम की देखरेख, अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत-सत्कार, आश्रम-वृक्ष-लताओं में जल-सिंचन, गो-दुहन, सखियों से वार्त्तालाप, पिता से उपदेश-श्रवण, राजगृह में गमनागमन, लिखना-पढ़ना विद्याध्ययन, शिल्पकारी आदि सभी कार्य करती,

य०—५

परन्तु सब उन्मनी होकर । अब उन सब में उसकी उतनी आसक्ति, खिंचाव, उत्साह और तत्परता नहीं रह गई थी। अब केवल कच द्वारा किया गया अपना अपमान और अभिसम्पात ही उसके मन को सब से अधिक अपनी ओर आकर्षित और उद्विग्न किये हुए था । कभी कभी तो उसकी वह उद्विग्नता और उत्तेजना अत्यधिक बढ़ जाती, वह प्रमत्त सी हो उठती।

एक दिन देवयानी बहुत उत्यक्त हो उठी; किसी कार्य के करने में उसका जी न लगा। एक स्थान पर उससे बैठा भी नहीं रहा गया। कभी गोशाला में जाती, कभी अतिथि-निवास में, कभी आश्रम-द्वार पर और कभी शयन-कुटीर में। कभी कोई पुस्तक उठा कर पढ़ने लगती और फिर तुरन्त ही उसे बन्द कर मन ही मन बड़बड़ाने लगती। कभी कुछ गाने लगती, तो फिर तुरन्त ही क्षोभ और रोष से अधीर हो रो उठती। चित्त बहलाने का उस दिन उसने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु उसे उसमें सफलता मिली नहीं। निदान वह उठ कर राज-भवन को चल दी। वहाँ जाकर उसने देखा, राजपुत्री शर्मिष्ठा अपनी अन्यान्य सहेलियों को साथ लेकर वाटिका-भ्रमण को जा रही है। मन-बहलाव का उसने यह उपयुक्त साधन समझा; वह भी उनके साथ वाटिका को चल दी। उसको उन्मत्त सी देखकर शर्मिष्ठा तथा अन्यान्य सखियों ने उसके क्लेश का कारण पूछा भी, परन्तु उसने उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप उनके साथ वाटिका को चल दी।

प्रातःकाल आठ बजे का समय था, ग्रीष्मऋतु थी। वनश्री अपूर्व शोभा धारण किये हुए थी। वाटिका में आम्र, मकुल, कटहल, मौलश्री, अनार आदि विविध प्रकार के फल-वृक्ष, और गुलाब, केतकी, जुही, चमेली, बेला, नरगिश, मोतिया,

हरश्रृङ्गार आदि नाना भाँति के पुष्पवृक्ष लगे हुए थे, जिनसे भीनी भीनी सुगन्ध निकल कर मन को मोहित कर रही थी, और अलिकुल जिन पर मत्त होकर गुँजार कर रहा था। वाटिका के ठीक मध्यभाग में एक सुन्दर और सुशीतल निर्मल जल का जलाशय था, जिसमें राजपुरी की रमणियाँ और राजकुमारी शर्मिष्ठा अपनी सखी देवयानी आदि के साथ बहुधा जलकेलि किया करती थीं। यहाँ यह कह देना अत्युक्त न होगा कि, अन्यान्य सखियों की अपेक्षा राजकुमारी शर्मिष्ठा और आचार्य-तनया देवयानी में विशेष सौहार्द्र था, दोनों सख्यभाव में आबद्ध मानो एक मन, दो प्राण, अथवा भिन्न भिन्न शरीर होते हुए भी अभिन्न हृदया थीं।

वाटिका में पहुँच कर सब कुमारियाँ उस पद्मरागपूरित अति रमणीक सरसि के पुलिन-पथपर भ्रमण करती हुई वाटिका की शोभा निहारने लगीं; और परस्पर वार्त्तालाप करती हुई वाटिका-भ्रमण का आनन्दानुभव करने लगीं।

शर्मिष्ठा ने कहा—"सखि! आज इस समय इस मधुर बेला में प्रकृति का यह परम पवित्र सौन्दर्य कितना अनुपम जान पड़ता है।"

पुष्पलता ने कहा—"सचमुच सखी! आज वन की अपूर्व शोभा है; उसे देख कर हृदय में आनन्द की हिलोर उठने लगती है; और मन आनन्द से नाच उठता है।"

शर्मिष्ठा—जनरवपूर्ण नगर से यहाँ आने पर हृदय को एक अनुपम शान्ति मिलती है; साँसारिक वासनाएँ एकदम भूल सी जाती हैं। अहा! वाटिका की इस वनश्री को देखकर मेरा मन आनन्द से ओतप्रोत होकर परिप्लुत हो जाता है। प्रकृति की

लीला विचित्र है। देखो न, खिले हुए पुष्प अपनी आनन्ददायिनी मनोमुग्धकारी सौरभ चहुँओर फैला रहे हैं, और कलियाँ प्रसन्न हो मुस्करा रही हैं, जिन पर प्रेमी-भ्रमर मधुर गुँजार करते हुए उनका रस ले लेकर कैसा आनन्द-राग गा रहे हैं, मानो प्रकृति का सुखद सन्देश सुना रहे हैं।

जया ने कहा—"और जलाशय में क्रीड़ा करती हुई इन सुन्दर मछलियों का केलिकौतुक और पक्षियों का कलरव चित्त को कितना आनन्द दे रहा है। आन्तरिक आनन्द के मानों यह सजीव उदाहरण हैं।"

सखियों में इस प्रकार वार्त्तालाप हो रहा था, परन्तु देवयानी को आज यह सब कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। प्रकृति की इस शोभा और सौन्दर्य की ओर उसका इतना भी ध्यान नहीं था; न सखियों का वार्त्तालाप सुनकर उसके हृदय में कोई उल्लास। उसने कहा—"अच्छा चलो, सखि शर्मिष्ठा! पहले चल कर पुष्करिणी-स्नान करें, फिर वाटिका में भ्रमण करेंगी।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"ठीक है बहिन! चलो, मेरी भी यही इच्छा है, वेला हो रही है। और देर करने से ताप बढ़ जाने पर फिर स्नान ठीक न होंगे।"

सब सखियाँ पुष्करिणी-तट पर वस्त्र उतार कर, नग्न हो जलाशय में उतर कर जल-विहार करने लगीं; और परस्पर एक दूसरी पर जल छिटकातीं, गोता लगातीं, तैरतीं, बड़ी देर तक जल-क्रीड़ा करती रहीं।

उधर देवराज इन्द्र ने दैत्यों से बदला लेने का यह एक उचित अवसर समझ और उनकी कुमारियों में पारस्परिक कलह-विवाद खड़ा कर आनन्द और मनोरंजन का एक अपूर्व सुयोग देख कर पवनदेव को बुलाकर बड़े वेग से, प्रभंजन गति से बहकर आँधी

पानी साथ लेकर कन्याओं को जल-क्रीड़ा में बाधा डालने का आदेश दिया। देवराज का आदेश पाकर पवनदेव ने प्रभंजन गति से जाकर सब कुमारियों के वस्त्र उड़ा ले जाकर दूर वाटिका-सीमा पर तितर-बितर कर दिये, और फिर आँधी पानी लाकर मेंह बरसाना आरम्भर कर दिया।

प्रकृति का ऐसा परिवर्तित हुआ रूप देखकर पानी और शीत के कारण सब कुमारिकाएँ जल से निकल वस्त्र पहनने के लिये व्यग्रता से किनारे पर आईं। परन्तु वस्त्रों को जलाशय-तट पर न देख इधर उधर ढूँढ़ने लगीं। उद्यान-सीमा पर वस्त्रों को पड़ा देखकर हड़बड़ाकर उधर दौड़ीं, और जिसके हाथ जो वस्त्र पड़ा, उठाकर पहन लिया। इस हड़बड़ी में राजकुमारी शर्मिष्ठा ने भूल से उठा कर गुरुकन्या देवयानी की साड़ी पहन ली। इसी बात पर देवयानी और शर्मिष्ठा में वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। इन्द्र की इच्छा पूर्ण हुई।

शर्मिष्ठा को अपनी साड़ी पहने हुए देखकर देवयानी ने क्रुद्ध होकर उससे कहा—"शर्मिष्ठा! यह क्या? तुमने मेरी साड़ी क्यों पहन ली? तू मेरे पिता के शिष्य की कन्या है। शिष्य-पुत्री होकर तूने मुझ आचार्य-दुहिता की साड़ी पहन कर सदाचार और धर्म की रक्षा नहीं की। इससे तेरा भला न होगा।"

सुनकर शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया—"गुरुकन्ये! भूल से यदि मैंने तुम्हारी साड़ी पहन ली, तो इसमें धर्म की क्या हानि हुई? इससे मर्यादा की सीमा क्यों उलंघन होगई? व्यर्थ गाली क्यों देती हो बहिन! लो मैं तुम्हारी साड़ी उतार देती हूँ, तुम इसे पहन लो।"

देवयानी ने तनिक तीव्र स्वर में कहा—"दैत्यपुत्री तू, और मैं विप्रकन्या; तेरी पहनी हुई साड़ी अब मैं पहनूँगी? तुझ

दैत्यपुत्री को तो मुझ ब्राह्मण-कुमारी के वस्त्र छूने तक का अधिकार नहीं है। काक का जूठा कहीं हंस भी खा सकता है ? शूद्री ! यह तूने अच्छा नहीं किया।"

सुनकर शर्मिष्ठा को भी तनिक आवेश आगया। स्वर को ऊँचा करके उसने कहा—" देवयानी ! तनिक समझ कर बात करो, आवेश में आकर पागल न बन जाओ। अपनी मर्यादा और पद का ध्यान रख कर ही जो कहना हो, कहो ; भिक्षुक-पुत्री होकर अधिक स्पर्द्धा न करो।

देवयानी ने रोष में आकर कहा—" भिक्षुक-पुत्री हूँ मैं ? मेरे पिता भिखमंगे हैं ? वे, जिन्होंने तपोबल से जगत की सृष्टि की है, जो ब्रह्मरूप वेद के जानने वाले हैं, और सब लोकपाल, दिक्‌पाल, देवगण, और स्वयं विश्वात्मा विश्वपति श्रीनिवास जिनकी बन्दना करते हैं। मेरे पिता वेही परम-पवित्र भृगुवंशी आचार्य शुक्र भिक्षुक हैं ? किसके ? भला बताओ तो शूद्र-पुत्री !

" हमारे " शर्मिष्ठा ने कहा—" हमारे ! जूठा खाने वाले काक के समान क्या तेरे पिता हमारे द्वार पर अन्न के लिये हाथ पसारे नहीं खड़े रहते ? मेरे पिता बैठे हों ; खड़े हों, लेटे हों, चाहे कुछ कर रहे हों ; तेरे पिता बन्दीजनों की भाँति विनय पूर्वक सदा उनकी बन्दना किया करते हैं। उनका गुण गाया करते हैं। तू माँगने वाले, स्तुति करने वाले, लेने वाले की कन्या है, और मैं स्तुति सुनने वाले, देने वाले, और दान करने वाले राजा की पुत्री राजकुमारी हूँ। तू मेरा बिगाड़ ही क्या सकती है ? साड़ी पहन ली तो तू मेरा करही क्या सकती है ?"

अन्यान्य सखियों ने बहुत चाहा कि, यह विवाद बन्द हो, परन्तु देवयानी उस समय इतने रोष में आई हुई थी कि, किसी प्रकार मानती ही नहीं थी। निदान झगड़ा शान्त न होते देख

कर अन्यान्य सखियाँ तो अपने अपने घर चली गईं, और देवयानी शर्मिष्ठा झगड़ा करती ही रह गईं। शर्मिष्ठा की बात सुनकर देवयानी ने कहा—"शर्मिष्ठा! तेरी यह स्पर्द्धा! तू मुझे भिक्षुक-कन्या कह कर पुकारे, और मेरे पिता को चारण बन्दीजन और भिक्षुक कह कर गाली दे!! मेरे पिता के चरण चूमकर ही तो तेरे पिता इतने बड़े हुए हैं। भला बता तो; यदि दया करके मेरे पिता तेरे इस राज्य में न आते, तो आज तेरा यह राज्य और देना कहाँ होता? देवताओं के चरणतले दब कर तेरा राज्य कभी का नष्टभ्रष्ट होकर तेरा यह दान करने का सब अभिमान चूरचूर होगया होता। और तुम दोनों पिता-पुत्री इस समय घरघर की भीख आप माँग रहे होते। महर्षि शुक्राचार्य के अनुग्रह से ही तो तुम्हारा यह राज्य बना हुआ है।

शर्मिष्ठा ने कहा—"और देवपुरी से निकाले जाने पर तुम्हारे पिता ने जिस समय मेरे पिता के सामने आकर गिड़गिड़ा कर हमारे गुरु-पद पाने की याचना की थी; यदि उसी समय मेरे पिता कृपा कर उन्हें आश्रय न दे, फटकार बतलाकर दुतकार देते, तो तेरा यह गुरुकन्यापन आज कहां होता? कहाँ की धूल फाँक रहा होता? किसके चरण चूम रहा होता? किसका दासत्व कर रहा होता?"

देवयानी अधिक न सह सकी, क्रोध से उन्मत्त हो वह शर्मिष्ठा को मारने झपटी। परन्तु उसके आक्रमण करने से पूर्व ही शर्मिष्ठा सम्भल गई; और देवयानी के आगे बढ़ते ही उसने उसे ऐसा धक्का दिया कि देवयानी लुढ़क कर दूर जा गिरी। पवनदेव ने, जो यह सब देख रहे थे, देवयानी के गिरते ही उसे उड़ाकर उद्यान-पार सीमास्थ एक अन्धकूप में डाल दिया। शर्मिष्ठा देवयानी को कुएँ में गिरी देखकर घर लौट गई।

दर्शन

जिन दिनों दैत्यराज वृषपर्वा आचार्य शुक्र को गुरुपद पर वरण कर निर्भय अपने राज्य का संचालन कर रहे थे, उन्हीं दिनों पृथ्वी के दूसरे भाग में दक्ष प्रजापति की अदिति नाम्नी कन्या के वंशज राजा नहुष के द्वितीय पुत्र महाराज ययाति अपने प्रबल प्रताप से अपने राज्य का शासन कर रहे थे। महाराज ययाति अद्वितीय वीर थे ; परम न्यायी और प्रजावत्सल शासक थे, और धर्म के पालन में सदा रत रहते थे। शक्ति, उत्साह, सौन्दर्य, कान्ति, यश, पराक्रम और वीरता में वे सर्वश्रेष्ठ क्षत्रिय नरेश थे। समदृष्टि, शान्ति, प्रेम, उदारता, ऐश्वर्य और सम्पूर्णता आदि ऐश्वर्य की महाविभूतियों से परिपूर्ण थे ? परम न्यायी, निराभिमानी, सद्‌गुणी, धर्मपरायण एवं विनयी थे, सहनशीलता और क्षमा उनमें कूटकूट कर भरी थी, महादानी और देवगुरु बृहस्पति के समान बुद्धिमान और ज्ञानवान थे। उन्होंने कितने ही यज्ञ किये थे, और अनेक देशों को जीत कर सार्वभौम-सम्राट् की पदवी प्राप्त की थी। अति कुशलता पूर्वक राज्य का प्रबन्ध और पुत्र के समान प्रजा का पालन करते थे। उनके प्रोज्वल प्रताप की ऐसी महिमा थी कि, उनके शासनान्तर्गत समस्त भूमि स्वर्ग के समान शान्तिमयी, ऋषिलोक के समान तपोमयी और देवलोक के समान ऐश्वर्यमयी हो रही थी। प्रजा धनधान्यपूर्ण होकर धर्म का पालन और लोक-व्यवहार करती थी। पुरुष सच्चरित्र और स्त्रियाँ विदुषी, पतिव्रता थीं। पाप

अधर्म, और दुर्व्यसन का राज्य में लेशमात्र नहीं था। सिद्धि और समृद्धि उनके राज्य की दासी और चिरनिवासिनी हो रही थीं।

आखेट करना क्षत्रियनरेश का धर्म और राज्य-कार्य का एक अंग माना जाता है। मांस-भोजन की लालसा से पशुओं का मारना धर्मशास्त्र में निषेध है, परन्तु पशुबध की व्यवस्था को जानकर आवश्यकता के अनुसार वन में जाकर पवित्र पशुओं का आखेट करना—यही शास्त्र की आज्ञा बताई जाती है। महाराज ययाति उसी व्यवस्था और आज्ञा के अनुसार शास्त्र-विहित आखेट करने के लिये आवश्यकता होने पर वन में जाया करते थे। एकबार बसन्तोत्सव आया। राजा को उस समय पवित्र पशुओं के आखेट की आवश्यकता हुई। अपना धनुष ले, तरकस बाँध, ढाल तलवार डाल, एक शीघ्रगामी घोड़े पर चढ़कर कुछ संगी-साथियों को लेकर महाराज ययाति ने आखेट के लिये वन का प्रस्थान किया।

वन में पहुँच कर जिसे पवित्र पशु समझते, महाराज उसीके पीछे घोड़ा दौड़ाते, परन्तु उस दिन ऐसा हुआ कि, बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई आखेट हाथ न आया। जिसके पीछे घोड़ा डालते; वही थोड़ी दूर सामने भाग कर वन में किसी झाड़ी या लता के पीछे छिप अदृश्य हो जाता। सबेरे प्रातः काल से मध्याह्न और मध्यान्ह से तृतीय-प्रहर आ पहुँचा, राजा और घोड़ा दोनों ही शिथिल हो क्षुधा तृष्णा से अति व्याकुल हो उठे, संगी-साथी भी भटक कर कहीं के कहीं रह गये। राजा घबड़ा उठे, और घोड़े पर चढ़ेचढ़े इधरउधर पानी की खोज में फिरने लगे। एक स्थान से थोड़ी दूर पर पर्वत-उपत्यका के पार उन्हें

कुछ विशाल-भवनों के शिखर दिखलाई दिये, राजा ने उसे कोई नगर समझा, उनकी जान में जान आई।

यही दैत्यराज वृषपर्वा की राजधानी थी, जिसके भवन-शिखर महाराज ययाति को दिखलाई दिये थे, उन्होंने उधर ही को अपना घोड़ा डाल दिया, और वहाँ पानी मिलने की आशा से चलते ही चले गये। राजधानी के समीप पहुँच कर राजा ने देखा, सुन्दर नगर सा प्रतीत होता है, तीन ओर ऊँची दीवार (चार दीवारी) और एक ओर समुद्र था। समुद्र-तट पर बसा हुआ वह सुन्दर नगर बड़ा भव्य सा जान पड़ता था, दीवारों में प्रवेश द्वार थे; जिन पर विकट भूधराकार शरीर वाले प्रहरी पहरा दे रहे थे। अट्टालिका, खाई, झरोखे फाटक आदि सभी उस नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। ऊँचे ऊँचे भवन थे, जिनके शिखर स्वर्ण, चाँदी, ताम्र और पीतल के थे, वे ही राजा को दूर से दिखलाई दिये थे। नगर की सीमा पर एक उपवन था, उसी से सटा हुआ राज-प्रासाद और पुर-बाटिका थी, जिसमें भ्रमण करने के लिये राज-अन्तःपुर की रमणियाँ आया करती थीं, और जहाँ अभी अभी कुछ कालपूर्व देवयानी और शर्मिष्ठा में झगड़ा हुआ था। पुर-बाटिका के बाहर ही लता वृक्षादि से घिरे उस उपवन में बाटिका की सीमा पर वह अन्ध कूप था, जिसमें पवनदेव देवयानी को उड़ा कर डाल गये थे, और जो अब वहाँ ही पड़ी सहायता के लिये पुकार रही थी।

देवयानी को कुएँ में पड़ेपड़े सारा दिन व्यतीत हो गया। उस समय नील-नभोमण्डल के प्राङ्गण में सन्ध्या-सुन्दरी अपनी समस्त शोभा के साथ विहार कर रही थी, दिन की प्रचण्ड ज्वाला शान्त हो चुकी थी, और शीतल, मन्द पवन बहने लगा था, जिसके स्पर्श से प्रकृति प्रफुल्लित हो रही थी, ठीक ऐसे समय

में महाराज ययाति अपने साथी संगियों से बिछुड़ कर थके माँदे घोड़े पर चढ़े पसीने से आर्द्र दैत्यराजधानी के उपकण्ठस्थ उस उपवन में पहुँचे, और दूर ही से उस अन्धकूप को जलपूर्ण कूप समझ उसकी ओर बढ़े। कुएँ के पास पहुँच कर घोड़े से उतर कर महाराज ने कुएँ पर चढ़ने के लिये ज्योंही उसकी सीढ़ी पर पैर रखा कि, कुएँ के भीतर से आवाज़ आई—"रक्षा करो, कोई यहाँ हो, तो मेरी रक्षा करो।"

राजा ठिठक कर वहीं खड़े होगए, और फिर आवाज़ के आने की प्रतीक्षा करने लगे। दो क्षण उपरान्त ही देवयानी ने फिर पुकारा—"मैं यहाँ कूएँ में पड़ी हुई मरणप्रायः हो रही हूँ; कोई मुझे इससे निकाल कर मेरी प्राण-रक्षा करो।"

राजा का कुतूहल कुछ कम हुआ। उन्होंने सुना, आवाज़ कुएँ के भीतर से ही आरही है। कोई स्त्री है जो किसी प्रकार इसमें गिर गई है, और न निकल सकने के कारण निकालने के लिये सहायता के लिये पुकार रही है। वहीं खड़ेखड़े उन्होंने कहा—"कुएँ में पड़ी तुम कौन हो रमणी? कोई भय न करो, मैं आ पहुँचा हूँ, अभी तुम्हें कुएँ से निकालता हूँ।"

कहकर वे कुएँ पर चढ़े। अब जलपीना तो वे भूल गए, और जिस प्रकार भी हो देवयानी को कुएँ से बाहर निकालने के उपाय में लगे। कुएँ पर चढ़ कर उन्होंने कुएँ में झाँका, तो देखा, कुआँ जलरहित है, और देवबाला सी एक अनिन्द्य सुन्दरी, दिव्य सौन्दर्यमयी रमणी नग्नावस्था में उसमें पड़ी हुई कराह रही है। रमणी युवती तरुणी है, और रूप उसका इतना सुन्दर है कि जो कोई देखे, वही मोहित हो जावे। राजा ने अचकचा कर मधुर स्वर में देवयानी को सम्बोधन करके कहा—'सुन्दरी! डरो नहीं। मैं अभी तुमको कुएँ से बाहर निकालता हूँ। तुम

नग्न हो ; लो, पहले मेरा यह दुपट्टा पहन लो, तब तुम्हें निकालूँगा।"

राजा ने अपना दुपट्टा कंधे से उतार कर कुएँ में डाल दिया, और जब देवयानी उसे लपेट चुकी, तब अपने घोड़े की बागडोर कुएँ में लटका कर उन्होंने कहा—"लो, इसे पकड़ लो, मैं तुम्हें बाहर खींच लूँगा ; 'परन्तु सावधान' छोड़ न देना, नहीं तो फिर कुएँ में गिर पड़ोगी, और तुम्हें चोट लग जायगी।"

देवयानी ने खूब कसकर दृढ़ करों से रस्सी पकड़ ली, महाराज ययाति ने उसे बाहर खींच लिया। दोनों दोनों को देख कर स्तम्भित होगए।

राजा ने देखा—देवयानी की अवस्था पन्द्रह सोलह वर्ष की है। ठीक चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है, अंग अंग में स्फूर्ति भरी हुई है, नेत्रों में तृष्णा है। कैसा सुन्दर रूप है उसका, मानों स्वर्ग की शोभा शरीर धारण करके सामने खड़ी हुई है। अपूर्व रूप लावण्य है, सौन्दर्य में शशि की सुहावनी छटा है, अरुण श्वेत कपोलों पर दिव्य लाली है, अधरों पर मीठी मुस्कान के स्थान में विषाद की रेखा है ; शीतल समीर के साथ क्रीड़ा करते हुए पीठ पर बिखरे हुए कलित कुन्तल केश उसके सौन्दर्य को और भी बढ़ा रहे हैं। मधुर मुखमण्डल है और समस्त शरीर से सौन्दर्य का प्रभापूर्ण सौरभ निकलकर देह को कान्तिमय और देदीप्यमान कर रहा है। राजा मुग्ध हो गये, और चुपचाप खड़े खड़े देवयानी की रूपमाधुरी को निहारने लगे। बड़ी देर में जब प्रकृतिस्थ हुए तो पूछा—"सुन्दरी ! तुम कौन हो ? देवबाला सी सुन्दर तुम्हारी रूपश्री है, और सुडौल सुश्रीवान एवं सुसम्पन्न देहयष्टि है। प्रेम और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा ! तुम कौन हो ? कोई देवकन्या, नागकन्या, या गन्धर्वकन्या हो ? स्वर्ग

की शरीर-धारिणी शोभा तो नहीं हो? किसकी कन्या हो? कौन महाभाग तुम्हारा स्वामी है? कहाँ से इस पुरी में आई हो? यह नगर ही कौन है, किस देश में है? सुन्दरी! तुम चिन्तित सी क्यों हो? कैसे इस अन्धकूप में गिर गईं थीं?

कुएँ के बाहर निकलने के उपरान्त से देवयानी एकबार राजा की ओर देखकर अब तक नतमस्तक किये खड़ी थी। अब सिर उठा कर एकबार सलज्जभाव और अपूर्व अनुराग भरी दृष्टि से राजा की ओर देखकर, और एकबार चहुँओर दृष्टिपात करके वीणा-विन्दित स्वर में उसने राजा से कहा—"इस दुखकी बात तुमसे क्या कहूँ प्राणरक्षक! अद्भुत मृत-संजीवनी-विद्या जानने वाले ब्रह्मज्ञ महर्षि शुक्राचार्य की मैं पुत्री हूँ; अभी कुमारी हूँ। मेरा नाम देवयानी है। यह दैत्यदेश है; इसमें आने का फल ही मेरी यह दुर्गति है। इस राज्य के अधिपति दैत्यराज वृषपर्वा की सुन्दरी कुमारी शर्मिष्ठा ने मेरी यह दुर्दशा की है। वही मेरे वस्त्र पहन मुझे नग्नावस्था में ही इस अंधकूप में ढकेल राजपुरी को लौट गई है, पूर्व-मध्यान्ह से पड़ी हुई इस कुएँ में मैं दुख और क्लेश से आर्त्त, भूख-प्यास से व्याकुल हो सहायता के लिये चिल्ला रही थी, तब कहीं अब इस गोधूलि बेला में आपने आकर इस कुएँ से मेरा उद्धार कर मेरी प्राणरक्षा की है। अभी पिता को मेरी इस दुर्गति की सूचना नहीं मिली है; मिलने पर वे दानवराज से इसका यथोचित प्रतिकार कराए बिना न मानेंगे।"

कह कर देवयानी ने राजा की ओर ऐसे ललित हावभाव, सलज्जदृष्टि, मधुर मुस्कान, अपूर्व कटाक्ष एवं अनुरागपूर्ण विभ्रम द्वारा देखकर दृष्टि नीची कर ली, जिससे प्रतीत होता था कि वह

भी राजा के ऊपर मुग्ध हुई है, और उनके हाथों अपना हृदय सौंप चुकी है।

तनिक देर चुप रहकर देवयानी ने फिर कहा—"मेरे भाग्य से ही आप इधर आ निकले। आप कौन हैं प्राणरक्षक! आपका परिचय क्या है? मैं किसके प्रति कृतज्ञ होऊँ? आप चाहें जो भी हो, यह प्राण और शरीर आपके हुए।"

कहते ही दाँतों से जीभ काट कर अति लज्जा और त्रपा से मरी सी होकर देवयानी ने दृष्टि फिर नीचे कर ली। उसकी बात सुनकर महाराज ययाति को साहस हुआ, हृदय में आशा नृत्य कर उठी। बोले—"मैं नहुष-कुमार क्षत्रियपुत्र छत्रपति महाराज ययाति हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज तुम्हारा यह उपकार कर सका देवि! भगवान ने मुझे इधर भेज दिया।

देवयानी ने कहा—"विश्व-विख्याति महाराज ययाति आपही हैं! आपके बल-वीर्य, रूपमाधुरी, सुख-वैभव के विषय में सुना तो बहुत था, आज आपके दर्शन भी कर लिये। आपका रूप अति मनोहर और हृदय को आकर्षण करने वाला है। मैं आपकी दया से बिना मोल ही आपके हाथ बिक चुकी हूँ।"

राजा का साहस और भी बढ़ा, कहा—"देवि! इसमें सन्देह नहीं कि, जब मेरा यह मन तुम्हारी ओर चलायमान हुआ है, तब मैं तुम्हारे प्रेम का पात्र बनने के योग्य ही हूँ। तुम्हारी इस सलज्ज दृष्टि और रूपमाधुरी ने, तुम्हारी इस दिव्य शोभा ने मेरे मनको विजय कर लिया है। देवि! क्या तुम सम्राट् ययाति के हृदय और अन्तःपुर को आलोकित करना स्वीकार करोगी? तुम मेरी होगी ऋषिकन्ये! मैं उत्तम कर्म करने वाला वीरनृपतियों में श्रेष्ठ क्षत्रिय महीपति हूँ। तुम्हारे योग्य हूँ।"

देवयानी ने दृष्टि ऊपर उठाकर राजा की ओर देखते हुए उत्तर दिया—" वीरश्रेष्ठ पुरुषसिंह नरपुङ्गव ! मुझसी कौन स्त्री होगी, जिसका मन आप सरीखे स्वयं आए हुए ; उदार, सुन्दर, शृंगार-विभूषित गौरवर्ण, दिव्यकान्ति वदनमण्डल वाले, ताम्बूल-चर्चित अधरामृतधारी, प्रेम की विमल धारा बहाने वाले, सुठि, सुकुमार परिपुष्ट, कलेवर, विशाल हृदय युवक नृपति को अपना पति न बनावे ? आप क्या साधारण पुरुष हैं राजन् ? आप कृपापूर्ण मनोहर मुस्कान से युक्त दीनार्तों की व्यथा दूर करने वाले प्यासे चातक के लिये स्वाति के जलस्वरूप श्रेष्ठ नृपति हैं। चकोर के लिये चन्द्रमा हैं। महाराज ! मैंने आपको देखते ही आपके महिमामय चरणों में अपना मन, प्राण और शरीर गुंथे हुए पारिजात पुष्प की भाँति निछावर कर दिया है। महाबाहो ! नग्नावस्था में कुएँ में पड़ी हुई मुझ अबला को आपही ने लज्जा निवारणार्थ अपना वस्त्र दिया है ; और आपही ने मेरा पाणि-ग्रहण कर मुझे कुएँ से बाहर निकाल कर मेरी प्राण-रक्षा की है। इसलिये आपही धर्म से मेरे........"

देवयानी आगे कह न सकी ; वह लजा गई ; सिर नीचा कर लिया, और चरणनख से भूमि खुरचने लगी। राजा कुछ कहना ही चाहते थे कि, देवयानी को खोजती हुई उसकी परिचारिका अखिला वहाँ आई ; और दूर ही से एक पुरुष के पास खड़ी हुई देवयानी को देखकर उसने कहा—" देवयानी ! तू यहाँ क्या कर रही है ? सबेरे से आश्रम ही नहीं गई। संध्या हो चुकी, और तू अभी यहीं हैं। आ चल, मुनि महाराज तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। रसोई तयार है।"

कहते कहते अखिला देवयानी के पास जा पहुँची। राजा ययाति उसे देखकर बिना जल पिये ही तृषित आत्मा और तृषित

हृदय को लेकर घोड़े पर चढ़ वहाँ से चल दिये। देवयानी व्यथित दृष्टि से जाते हुए नरेश की ओर देखती रह गई। जब महाराज ययाति दृष्टि-पथ से ओझल हो गये, तब देवयानी ने दृष्टि फिराई, और एक आह भर कर अखिला की ओर देखते हुए उसने उससे कहा—"अखिला! आज शर्मिष्ठा ने मुझे गाली देकर और कुएँ में ढकेल कर मुझे बड़ा दुख दिया है। तू जाकर पिताजी से कह दे, मैं इसका पूरा बदला लिये बिना न अब आश्रम को ही जाऊँगी, न इस नगर में चरण ही दूँगी।"

---

(४)

शुक्राचार्य और देवयानी

उपदेश

अखिला ने आश्रम जाकर सारा वृत्तान्त महर्षि शुक्राचार्य से कह सुनाया। सुनते ही शुक्राचार्य अधीर हो, दौड़े हुए वहाँ आए, जहाँ नगर-सीमा पर पुरवाटिका के बाहर उसी अन्धकूप की सीढ़ी पर बैठी हुई देवयानी दुख, क्षोभ और वियोग से व्याकुल हो, रो रही थी। उन्होंने आते ही दुहिता को हृदय से लगा लिया, और आद्योपान्त सब वृत्तान्त उसके मुख से सुनकर क्षुब्ध मन से उन्होंने देवयानी को समझाते हुए उससे कहा—"बेटी! सब लोग अपने गुण-दोष और कर्म-विपाक के कारण भाग्य-विपर्यय से सुख-दुख भोग करते हैं। तुमने कभी कोई ऐसा कार्य किया होगा, जिसके फल-स्वरूप तुम्हें आज यह दुख देखना पड़ा। आओ अब, क्रोध को शान्त कर हमारे साथ आश्रम को चलो।"

देवयानी ने कहा—नहीं पिता जी! मैं जब तक शर्मिष्ठा से अपने इस अपमान और अकारण दुख देने का प्रतिशोध नहीं ले लूँगी, मैं आश्रम को नहीं जाऊँगी। मुझे चाहे जिस कर्म-दोष का प्रतिफल यह मिला हो, परन्तु अब इसका उचित प्रतिकार हुए बिना मैं इस दैत्यराज में नहीं रहूँगी। शर्मिष्ठा ने मुझे स्तुति करनेवाले, याचक, भिखारी और हाथ पसारने वाले की कन्या कह कर गालियाँ दी हैं, और अपने को स्तुति सुननेवाले, दाता और दानी राजा की सुता और राजकुमारी

कहकर अहंकार और आटोप प्रकट किया है। इसका प्रतिफल मिले बिना पिता! मेरा यहाँ ठहरना अब असम्भव ही है। शर्मिष्ठा की वे सब बातें मेरे हृदय में काँटे के समान चुभ रही हैं।"

सुनकर शुक्राचार्य मुस्करा दिये। बोले—"बेटी! तुम स्तुति करनेवाले, माँगनेवाले और हाथ पसारनेवाले की सुता नहीं हो; तुम मुझ ब्रह्मर्षि, महर्षि और देवर्षि की कन्या हो। मैं किसी की स्तुति नहीं करता; सब मेरी ही स्तुति करते हैं। देवराज इन्द्र और पृथ्वीपति नहुषकुमार ययाति इस बात को भले प्रकार जानते हैं। मेरा यह ईश्वर-सम्बन्धी ब्रह्मबल अचिन्त्य और अद्वितीय है। द्रुहिण विधाता ने प्रसन्न होकर मुझे पृथिवी और स्वर्ग के सब पदार्थों का अधिकारी बनाया है। भला बताओ, तब तुम किसकी पुत्री हो—याचक-भिक्षुक की अथवा संसार के स्वामी ब्रह्मर्षि की?"

देवयानी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। नहुषकुमार महाराज ययाति का नाम पिता के मुख से सुनकर वह एक बार चौंकी तो अवश्य, परन्तु पिता की इन गूढ़ सत्य बातों का कोई उत्तर उससे देते न बन पड़ा। दुहिता को चुप देखकर शुक्र ने फिर कहा—"बेटी! देखो, जो कोई अपनी निन्दा सुनकर भी उसे सहन कर लेता है, वही संसार में जयी होता है। क्रोध के आवेग को रोक लेनेवाला ही सच्चा जितेन्द्रिय है, क्षमा-द्वारा मन को वशीभूत कर लेनेवाला ही सर्व-विजयी मनुष्य कहलाता है। सैकड़ों-सहस्रों यज्ञ करनेवाले से भी कभी क्रोध न करनेवाले की महिमा अधिक है। शान्ति देवताओं का धर्म और रागद्वेष दैत्यों का कर्म है। तुम विप्रतनया हो, और शर्मिष्ठा दैत्यपुत्री। तुम्हारा धर्म क्षमा है, तुम शर्मिष्ठा को क्षमा कर दो।

देवयानी स्वभावतः ही हठी और दुर्द्धर्ष प्रकृति की थी, तनिक तनिक सी बात पर उसे सहज ही क्रोध आ जाता था। पिता के इस प्रकार उपदेश देने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने कहा—"पिता जी! मैं प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ; मैं शर्मिष्ठा से बिना प्रतिशोध लिये नहीं मानूँगी। मैं उस दानवीर के दिये हुए चने चबाकर जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा भूखे रह कर मरना उचित समझती हूँ। शर्मिष्ठा-द्वारा किये गये अपमान का प्रतिकार अथवा सत्वर इस स्थान को छोड़ देना—यही मैंने निश्चय किया है। पिता! आप से मैं कर जोड़ कर प्रार्थना करती हूँ, आप मेरे सम्मान-गौरव की रक्षा करें।"

कह कर देवयानी रो पड़ी। यह देखकर शुक्राचार्य ने कहा—"छिः! देवयानी! तुम रोती हो, इस सामान्य सी घटना के लिये, मेरी पुत्री होकर? यह दुर्बलता तुम्हें कहाँ से आई बेटी! ब्राह्मण का धर्म तो क्षमा है, उसी क्षमा को यदि न अपनाया, तो ब्राह्मण-सन्तान होने का व्यर्थ गर्व करने से क्या होता है। तुम्हें यह शोभा नहीं देता देवयानी! इस प्रकार क्षमा का निरादर कर ब्राह्मण-वंश का अपमान न करो पुत्री! ब्राह्मण-मुख पर कलङ्क न लगाओ। मेरा कहा मानो, हठ को छोड़ दो, क्षमा को पहचान कर पहचानो। ब्राह्मण की शोभा क्षमा से है, तुम उसी क्षमा को अपनाकर ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने का परिचय दो। तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

देवयानी ने कहा—"पिता! प्रतिशोध की अग्नि से इस समय मेरा हृदय दग्ध होरहा है, क्षमा की महिमा जानकर भी वह जानना नहीं चाहता। शर्मिष्ठा से अब प्रतिशोध लेकर ही मुझे शान्ति मिलेगी, उसे क्षमा करके नहीं। इस प्रकार अपमान सहन कर के मैं जी न सकूँगी।"

कह कर देवयानी फिर रो दी। शुक्राचार्य सुता को अत्यधिक प्रेम करते थे, उसकी यह कातरता देख न सके। वात्सल्य-स्नेह उनके हृदय में उमड़ आया। बोले—"तब वही सही। नियति की गति मेट सके, सो सामर्थ्य किसमें है? होनी होकर ही रहती है, भावी बड़ी प्रबल है। जिसे शक्ति पर विश्वास नहीं; वही क्षमा को कापुरुषत्व समझता है। आओ चलो, राजगृह को चलो। देखोगी, इस शक्ति के सम्मुख समस्त दैत्य-राज्य आज किस प्रकार सिर झुकाता है। आओ चलो।"

दोनों राज-प्रासाद को चले।

प्रतिकार

राज-प्रासाद में पहुँच कर महर्षि शुक्राचार्य ने असुरपति वृषपर्वा से कहा—"राजन्! मैं विदा लेने के लिये आया हूँ। चिरकाल तक तुम्हारे राज्य में निवास करके सब प्रकार की सुविधाएँ और आनन्द-सुख पाया। अब एक बार फिर अमरावती जाकर स्वर्ग-सुख भोगने की इच्छा हुई है।"

दैत्यराज वृषपर्वा उस समय राज-प्रासाद के सभा-भवन में बैठे हुए मंत्रि-मण्डल के सहित देवासुर-संग्राम पर परामर्श कर रहे थे। ऋषिराज शुक्राचार्य के इन वचनों को सुनकर समस्त दैत्यसमुदाय के सिर पर जैसे आकाश टूट पड़ा। दैत्यराज वृषपर्वा ने तुरन्त ही उठ कर आचार्य की पद-वन्दना की, और उन्हें योग्य आसन पर विराजमान कराके नम्र स्वर में उनसे कहा—"गुरुदेव! शिष्यों के साथ परिहास तो करेंगे नहीं? तब फिर बात क्या है? दैत्यपुर छोड़कर अमरपुर जाने का आचार्य का विचार क्यों हुआ है? आपके चले जाने पर फिर हमारा रह ही क्या जायगा? हम फिर किसके सहारे रहेंगे? आप के बल पर ही तो हम अब तक देवताओं को जीत कर त्रिलोकी के अधिपति बने हुए हैं। आपके चले जाने पर फिर हम क्या करेंगे, कैसे जियेंगे? तपोधन! इस प्रकार यकायक आपके यहाँ से जाने के लिये उद्यत होने का कारण क्या है? क्यों दास पर हठात् इतना कोप हुआ?"

देवज्ञ शुक्राचार्य ने कहा—"राजन्! तुम दैत्यों का उपद्रव

अब इतना बढ़ गया है कि, उससे उकता कर ही मैं आज तुम्हारा नगर छोड़ने के लिये तयार हुआ हूँ। मेरे साथ उपद्रव मचाने में भी अब तुम लोग संकोच नहीं करते हो। पुण्यात्मा गुरुभक्त धर्मज्ञ कच को कई बार तुम लोगों ने मार डाला। और अब आज तुम्हारी पुत्री शर्मिष्ठा ने मेरी इस पुत्री देवयानी को नाना प्रकार के कटु वाक्य कहकर, और फिर अन्धकूप में ढकेल कर जो क्लेश पहुँचाया है, उसके कारण ही मैं तुम्हारा नगर परित्याग करके वैकुण्ठ जा रहा हूँ। ऐसे जघन्य पापाचार करनेवाले दुरिष्ठ दुरात्माओं के साथ मेरा निर्वाह अब हो नहीं सकता।"

वृषपर्वा ने कहा—"गुरुदेव! शान्त हों। दोनों बातों में से मुझे एक बात का भी पता नहीं है। किस दुष्ट दैत्य ने धर्मविज्ञ गुरु-सेवा-संलग्न विप्रपुत्र कच को मारा था, सो मैं अब तक नहीं जानता था, आज आपके मुख से सुना है। शर्मिष्ठा ही ने फिर आज गुरु-कन्या के साथ यह असद्व्यवहार क्यों किया, सो भी मैं नहीं जानता। मैं अभी बुलाकर उससे सब पूछता हूँ, और जैसा गुरुकन्या देवयानी कहेंगी, मैं उन्हीं के सामने उन्हीं के इच्छानुसार उसे दण्ड दूँगा।

दैत्यराज वृषपर्वा को यह बात सुनकर देवयानी ने उनसे कहा—"राजन्! शर्मिष्ठा ने आज मुझे अपमानित करके, और कुएँ में ढकेल कर जो मर्म्मान्तिक पीड़ा पहुँचाई है, बताइये उसके प्रतिकार में आपने उसे कौन दण्ड देना निश्चय किया है?"

दैत्यराज ने उत्तर दिया—"गुरुकन्ये! उसका दण्ड-विधान मैं तुम्हारे ही ऊपर छोड़ता हूँ। तुम जो कहोगी, राज की भलाई का विचार करके शर्मिष्ठा को मैं वही दण्ड दूँगा। बताओ, तुम क्या चाहती हो? उसके लिये किस दण्ड की व्यवस्था करती हो।"

देवयानी ने कहा—"गुरुदेव के चरण छूकर शपथपूर्वक मुझे इस बात का विश्वास दिलाओ, तभी मैं शर्मिष्ठा की दण्ड-व्यवस्था तुम्हें सुनाऊँगी।"

देवयानी की इस बात से दैत्यराज वृषपर्वा को देवयानी के क्षुद्र हृदय का पता पूर्णरूप से लग गया। तथापि दैत्यराज्य और दैत्यकुल की भलाई का विचार करके आचार्य शुक्र के चरणों को स्पर्श करके उन्होंने कहा—"आचार्य-तनये! मैं गुरु के इन चरणों को स्पर्श करके शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि, शर्मिष्ठा ने कारण या अकारण तुम्हें जो दुख दिया है, उसके प्रतिकार में तुम जो निश्चय करोगी, राज्य की मंगल-कामना से मैं उसे अप्रमेय होने पर भी वही दण्ड दूँगा।"

प्रतिज्ञा को सुनकर देवयानी ने गर्वोन्नत कण्ठ से एक बार पिता के मुख की ओर देखा। महर्षि शुक्राचार्य ने उसके देखने पर दृष्टि-द्वारा उसे इस बात को सुझाया कि 'बस प्रतिकार हो गया, अब रहने दो, बात आगे न बढ़ाओ।' किन्तु क्रोध और प्रतिहिंसा के वशीभूत हुई देवयानी ने उस दृष्टि का मर्म न समझा, और उसकी अवहेला करके झट बोल उठी—"महाराज! आप प्रतिज्ञा करते हैं तो, शर्मिष्ठा के औद्धत्य के प्रतिकार में मैं यह व्यवस्था करती हूँ कि, शर्मिष्ठा आज ही से मेरी दासी होकर मेरे साथ आश्रम में रहे, और मेरी आज्ञाओं का पूर्णरूप से पालन करती हुई मेरी सेवा करे। मेरे विवाह के उपरान्त भी वह मेरे साथ मेरे पतिगृह को जाकर वहाँ भी उसी प्रकार मेरी सेवा और मेरी आज्ञाओं का पालन करे। मैं उसके लिये इसी आजन्म-दासीत्व की व्यवस्था करती हूँ।"

देवयानी का दण्ड-विधान सुनकर सभी दैत्य मर्माहत होगये; मानो उनके ऊपर बिना मेघ के ही वज्रपात हुआ। महर्षि

शुक्राचार्य को भी इससे कुछ कम दुःख नहीं हुआ, पुत्री की व्यवस्था पर क्षोभ और ग्लानि से उनका हृदय भर गया, वे मुख को ऊपर उठाए न रह सके, अधोवदन हो पृथ्वी की ओर देखते रह गये, नेत्रों में उनके अश्रुबिन्दु उमड़ आए। महाराज वृषपर्वा की दशा तो विचित्र ही थी, वे जैसे पागल होगये हों; कठोर दुख और यातना से मुँह फाड़े, निश्चल दृष्टि से देवयानी की ओर देखते रह गये। कैसी निष्ठुर प्रतारणा थी वह, कैसी प्रवंचना थी। वृषपर्वा मानो स्वप्न देख रहे हों। सरल-विश्वास का यह फल। देवयानी क्या इतनी निठुर है? स्त्रियों को तो कोमल हृदया बतलाया जाता है; परन्तु यह क्या—यह तो कठोरता की सीमा है। देवयानी यदि वृषपर्वा का शरीर और प्राण भी माँगती, तो भी उन्हें उसे देने में स्यात इतना सन्ताप न होता, जितना उन्हें प्यारी पुत्री के लिये देवयानी की इस दण्ड-आज्ञा को सुनकर हुआ। प्राणाधिक-प्रिय दुहिता का सर्वनाश, जीवन भर दासीत्व—यह तो अचिन्तनीय और असहनीय था।

विचार कर वृषपर्वा सिहर उठे; बड़ी देर तक योंहीं बैठे रहे। जब कुछ प्रकृतिस्थ हुए तब उन्होंने देवयानी से कहा—"देवयानी! क्या सत्य ही तुमने शर्मिष्ठा के लिये यही व्यवस्था की है?"

देवयानी ने स्वर को तनिक कठोर करके उत्तर दिया—"और क्या मैं आपके साथ परिहास कर रही हूँ? शपथ भूल गये क्या आप? एक ओर यह दण्ड, दूसरी ओर ब्रह्मशाप, बताइये किसे स्वीकार करने की इच्छा है? या तो शर्मिष्ठा को मेरी दासी बनाइये या मेरा शाप ग्रहण कीजिये।"

वृषपर्वा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर इधर उधर देखने लगे कि कहीं से कुछ सहारा मिले। उनकी दशा विचित्र थी, मानों बाघ के सम्मुख पड़ गए हों। यह तो स्वप्न से भी अधिक

असम्भावनीय बात थी, अचिन्तनीय विषय था। शर्मिष्ठा की सुकुमार छवि रहरह कर वृषपर्वा के नेत्रों के सम्मुख नृत्य करने लगी। दैत्यगृह में कब किसी ने इतना सौन्दर्य-सम्भार; इतनी रूपश्री लेकर अब तक जन्मग्रहण किया है? उसी अतुलनीय सुकुमार कुमारी को जीवनभर दासीत्व-शृङ्खला में आबद्ध करना पड़ेगा—हा दुर्विपाक !!! ब्रह्मशाप ; आचार्य का गमन ; दैत्यपुरी-ध्वंस ; अथवा शर्मिष्ठा का सर्वनाश ! कितना भयानक ! कितना दुखद !! कितना कठोर और अशोचनीय !!! शर्मिष्ठा एक स्वर्गीय-आभा--स्वर्ग की एक किरण है; जो दया करके दैत्य-लोक में उतर आई है। वही किरण जन्मभर दासीत्व करे—कितनी कठोर यातना है? राजा का हृदय काँप गया। "भई गति साँप-छछूंदर केरी"; हाँ करते भी नहीं बनता था, और मना भी नहीं की जा सकती थी। जब शर्मिष्ठा ही गई, तो रहा ही क्या? फिर राज्य का और राज्य-सिंहासन का ही क्या होगा? ब्रह्मशाप तो सहन भी किया जा सकता है, किन्तु कुसुमकोमला प्रिय दुहिता का निर्यातन, चिरदासीत्व सहन करना सम्भव नहीं था। वह सुकुमार कलेवर क्या आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके एक हठी-अभिमानिनी रमणी की पद-सेवा करने योग्य है? हा हन्त !!!

इसी प्रकार के कितने ही भाव और विचार राजा के मस्तक में घूम गये। इतने ही में देवयानी ने अधीर होकर फिर कहा—"राजन्! उत्तर के लिये मुझे कितनी देर और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी?"

राजा मानों सोते से जग पड़े। बोले—"गुरुकन्ये! यह अति कठोर और साँघातिक दण्ड है। राजकन्या समझ कर उसके ऊपर कुछ दया करो; किसी और दण्ड की व्यवस्था करो।"

देवयानी ने उत्तर दिया—"सो असम्भव है राजन्! मैं शर्मिष्ठा को यहाँ दण्ड देने आई हूँ; उसके ऊपर अनुग्रह करने नहीं।"

वृषपर्वा ने आचार्य के मुख की ओर देखा, परन्तु शुक्राचार्य तो कन्या के दुराग्रह को देखकर स्वयं ही अधोमुख हुए गम्भीर-चिन्ता में निमग्न बैठे थे। राजा को बहुत खोजने पर भी कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ा। इतने ही में सब लोगों ने बड़े आश्चर्य से सुना और देखा कि, शर्मिष्ठा स्वयं ही—"गुरुकन्ये! पिता क्या मैं उत्तर देती हूँ। सुनो;" कहती हुई वहीं आई; और आकर देवयानी से बोली—"पिता की मंगलकामना और दैत्यराज्य की रक्षा के हेतु मैं आज से तुम्हारी दासी होना स्वीकार करती हूँ। आज से तुम्हारी सेवा करना और तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करना ही मेरा कर्त्तव्य हुआ। परन्तु गुरुकन्ये! इतना भी ध्यान रखना कि, यह बात मैं तुम्हारे किसी भय या तुम्हारे किसी उत्ताप के कारण स्वीकार कर रही हूँ, सो नहीं। वरन अपनी जाति और देश की रक्षा, और पितृराज्य की कल्याण-कामना करके ही मैंने तुम्हारी दासी होना स्वीकार किया है।"

सभी ने आश्चर्य-निमग्न कर्णों से इस बात को सुना, और विस्मयपूर्ण दृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखा कि, शर्मिष्ठा के मुख-मण्डल पर जातीय-गौरव की एक आभा प्रस्फुटित हो रही है। ओष्ठों पर मधुर-मुस्क्यान की हास्यरेखा छिटक रही है, और उसकी गर्वोन्नत ग्रीवा जैसी गर्वोन्नत थी, वैसी ही गर्वोन्नत है; नेत्रों में वही चिरदीप्ति विकसित हो रही है, ललाट पर अपमान वा अभिमान की कालिमा का लेशमात्र नहीं है, और जातीय-गौरव तथा पितृ-भक्ति की उज्ज्वल और कर्त्तव्यपूर्ण श्री समस्त शरीर से प्रस्फुटित होकर मुख-मण्डल पर उद्भासित हो रही है।

सब के हृदय शर्मिष्ठा के प्रति आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण होगए।

हर्ष और आनन्द से गद्गद् हो वाष्परुद्ध कण्ठ से वृषपर्वा ने शर्मिष्ठा से कहा—" शर्मिष्ठा ! पुत्री !! यह तूने क्या किया ? पिता और देश के लिये आजीवन दासीत्व ? त्याग और धर्म की तूने पराकाष्ठा कर दी। यह सुकुमार शरीर क्या इसीलिये धारण किया था, कि इस प्रकार कठोरव्रत........"

बीच ही में बाधा देकर शर्मिष्ठा ने कहा—" पिता जी ! आप क्षुब्ध न हों। अपना कर्त्तव्य मैं भली भाँति समझती हूँ। जन्मभूमि की रक्षा के लिये मरने से कौन डरता है ? जो डरता है, वह भीरु है, कापुरुष है, कायर है। उसे सौ बार धिक्कार है !! अपनी मातृभूमि के लिये कष्ट सहने में, मरने में एक अपूर्व सान्त्वना मिलती है; उसकी आराधना ही सब पापों का प्रायश्चित्त है। जननी जन्मभूमि—मातृभूमि के लिये प्राण धारण करना ही जीवन की सब से बड़ी सफलता है; और प्राण देना तो अक्षय-अमरपद को पाना है।"

वृषपर्वा ने कहा—" पुत्री ! तुम्हारा कहना सत्य हो सकता है। परन्तु इस वज्राघात से मैं कितना कातर हूँ, सो तुमसे कैसे कहूँ ? तुम्हारा यह त्याग देख कर भी तुम्हारे मोह में मेरा हृदय रोए देता है।"

शर्मिष्ठा ने कहा—" पिता जी ! उस मोह को हृदय से निकाल दीजिये, जो कर्त्तव्य-पालन में बाधा डालता है। देश-प्रेम के सम्मुख माता-पिता, सन्तान-सन्तति सब तुच्छ हैं। देश और जाति की कल्याण-कामना करके किसी का मोह न करके, किसी सुख की कामना को हृदय में स्थान न देकर, जो सब मोह-ममता त्याग कर निर्विकार प्रसन्न चित्त से देश की सेवा करने के लिये तयार होता है, उसी का जन्म धारण करना सार्थक है। दैत्य-देश और

दैत्यराज्य के लिये मैं अपना सुखैश्वर्य, महल-प्रासाद, माता-पिता सब का मोह त्याग कर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके देवयानी की पद-सेवा करूँगी। आप कोई चिन्ता न करें।"

वृषपर्वा ने कहा—"पुत्री! तू धन्य है, और धन्य है यह दैत्यवंश, जिसमें तूने जन्म ग्रहण किया है। तेरे कारण आज यह दैत्यवंश और दैत्यराज्य उज्ज्वल और गौरवान्वित हुए हैं। फिर भी न जाने क्यों तेरा यह त्याग देख कर........."

उसी प्रकार बाधा देकर शर्मिष्ठा ने फिर कहा—"पिता जी! इस देश की पुत्रियाँ अपने कर्त्तव्य को भले प्रकार समझती हैं; उन्हें यह सिखाना न होगा। दैत्यराज की कन्या के लिये यह समझना कठिन नहीं है कि, त्याग श्रेष्ठ है अथवा स्वार्थ के कारण देश को शत्रुओं द्वारा ध्वंस हो जाने देना। दासीत्व के भय से मैं अपना देश नष्ट न होने दूँगी। जीवन से भी बढ़ कर प्रिय अपने सर्वस्व इस दैत्यराज्य को—पूर्व पुरुषाओं के संचित और अनेक वर्षों के स्मारक इस दैत्यराज्य को अपने सुख के लिये मैं नष्टभ्रष्ट हो जाने दूँगी? कदापि नहीं। यह मेरा सौभाग्य—परम सौभाग्य होगा कि मैं सर्वस्व त्याग कर देवयानी का दासीत्व स्वीकार करके अपने देश की रक्षा करूँगी।"

शर्मिष्ठा की यह बात सुनकर वृषपर्वा का हृदय आत्म-गौरव से परिपूर्ण होकर पुत्री के प्रति प्रेम से ओतप्रोत हो गया। हर्ष-गद्गद् कण्ठ से स्नेहार्द्र स्वर में उन्होंने कहा—"शर्मिष्ठा! तू मेरी पुत्री है, अथवा कोई स्वर्गीय........."

शर्मिष्ठा इतने ही से पिता के हृदय का भाव समझ गई। उसने फिर उन्हें अधिक कहने का अवसर नहीं दिया। वह अपने आपको पिता की दृष्टि में इतना उच्च और महत् बनाना नहीं चाहती थी कि उसके पिता उसकी तुलना किसी स्वर्गीय-पदार्थ

के साथ करके उसे बहुत ऊँचा उठा दें। बीच ही में पिता को रोक कर उसने कहा—"हाँ पिताजी! मैं आपकी पुत्री हूँ। मैं आपका गौरव कभी नष्ट न होने दूँगी। मुझे आज यह प्रकट करने का बड़ा भारी सौभाग्यपूर्ण अवसर मिला है कि, मैं आपकी पुत्री हूँ। आपने जिस प्रकार दैत्यदेश के लिये अपना जीवन उत्सर्ग किया है; मैं भी उसी प्रकार आज महा-आनन्दोत्सर्ग के पथ पर जा रही हूँ। आप क्षुब्ध न हों। मैं अपने इस तुच्छ जीवन को देश और जाति के कल्याण के लिये निछावर कर दूँ—यही मेरा कर्त्तव्य और धर्म है।

वृषपर्वा ने तनिक विचलित और दुखी होकर रुद्धकण्ठ से कहा—"शर्मिष्ठा! मेरा सारा राज्य चला जावे; मैं देवताओं द्वारा परास्त होकर रङ्क बनकर वनवन भटकता फिरूँ; परन्तु मैं तुझे दासी कदापि नहीं बनने दूँगा। मुझसे यह भयानक चोट सही न जायगी। भला जिसकी आज्ञा और आदेश मानने के लिये, जिसकी सेवा करने के लिये आज सैकड़ों प्रेष्या-दासियाँ तयार हों; वह स्वयं किसी और की दासी बनकर उसकी आज्ञाओं का पालन करे—क्या यह भी कभी सम्भव है? भला जब तूही न होगी, तो मेरा ही क्या होगा? इस राज्य का ही क्या होगा? और इस धन-सम्पद और राज्य-वैभव का ही क्या होगा? फिर मुझे ही राज्य करने और देश पर देश जीतने की क्या आवश्यकता है? फिर व्यर्थ ही रक्तपात करके, नरबलि देकर पाप का बोझ क्यों बढ़ाया जाय? फिर मेरे लिये तो नगर और वन, राज्य और सन्यास, सिंहासन और तप बराबर हैं!!!"

शर्मिष्ठा ने शान्त गम्भीर स्वर में तनिक उत्तेजित होकर उत्तर दिया—"पिता! आप महाराजाधिराज; पृथिवीपति नरेश हैं। आपका धर्म है कि आप राज्य-विस्तार करें, देश पर देश जीतें,

और प्रजा तथा देश के लिये कष्ट सहन करें। उसी प्रकार मेरा भी कर्त्तव्य है कि, देश और राज्य के कल्याण के लिये, देश-वासियों की रक्षा और मंगल के लिये, देश को शत्रुओं-द्वारा आक्रान्त होने से सुरक्षित रखने के लिये; देश, जाति, कुल और राज्य की मर्याद-रक्षा के लिये, स्वदेश की स्वतंत्रता स्थिर रखने के लिये दासीत्व स्वीकार करना तो क्या, आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन तक निछावर कर दूँ। देश, राज्य और पिता का कल्याण हो; देशवासी सुखी और निरापद रहें, कुल का गौरव बढ़े, स्वदेश की मान-मर्यादा, स्वतंत्रता और अस्तित्व अक्षुण्ण रहें—दासी होते हुए भी मुझे इसी में सुख और आनन्द होगा।"

पिता से इतना कहकर और उन्हें बोलने का अवसर न देकर झट देवयानी की ओर मुख करके उसने कहा—"गुरुकन्ये! पिता की मान-रक्षा, तथा देश, जाति और राज्य की कल्याण-कामना का विचार करके; दैत्य-वंश और दैत्यपुरी को तुम जैसी एक हठी, अभिमानिनी, निरांकुशा ब्राह्मण-कन्या के कोपशाप से बचाने के लिये मैं आज से तुम्हारी दासी होकर रहूँगी, और सदा तुम्हारी आज्ञाओं का पालन करूँगी। तुम्हारे पति-गृह में भी तुम्हारे साथ चल कर तुम्हारी अनुगामिनी बन कर तुम्हारी सेवा, और आज्ञाओं का पालन किया करूँगी।"

सुनकर देवयानी को असीम आनन्द हुआ। हर्ष से गद्‌गद् होकर गर्वपूर्ण स्वर में आटोपपूर्वक उसने शर्मिष्ठा से कहा—"राजकुमारी! शर्मिष्ठा!! तनिक विचार कर प्रतिज्ञा करना। राजपुत्री हो तुम—तुम एक भिक्षुक-ऋषि कन्या की दासी होकर रहो, क्या यही तुम्हारा गर्व है? भला अब तुम्हारा वह देना, दान करना, स्तुति सुनना और राजदर्प कहाँ है? वह गौरव अब क्या हुआ?"

शर्मिष्ठा ने दर्प से ग्रीवा को उसी प्रकार उन्नत करके आटोप-पूर्वक उत्तर दिया—"देवयानी ! शर्मिष्ठा अब भी राजकुमारी और राजपुत्री है ; उसे अब भी वही दर्प और गर्व है, अब भी उसका वही गौरव, और वही मान-सम्भ्रम है। अपने पूज्य देश के लिये, पिता और देशवासियों के कल्याण के लिये, तुम्हारे क्रोध से देश की रक्षा करने के लिये मैं तुम्हारी दासी होऊँ—यही मेरा गौरव है, यही मेरा गर्व है : और यही मेरा मान है !!!"

शुक्राचार्य अब तक चुप थे, अब एक दम खड़े हो गये, और शर्मिष्ठा को सम्बोधन करके प्रेमपूर्ण स्वर में उन्होंने उससे कहा—"पुत्री ! शर्मिष्ठा !! तुम धन्य हो; और धन्य है वह दैत्य-वंश, जिसमें तुमने जन्म धारण किया है। तुम्हारे इस त्याग को देख कर मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ है। भगवान मायापति सर्वदर्शी और दयालु हैं; उन्हीं परमपिता पूर्णब्रह्म परमेश्वर को साक्षी करके मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि, तुम्हारा यह त्याग व्यर्थ नहीं जायगा, परमात्मा के परम अनुग्रह से दासी रह कर भी तुम सुखी होगी, तुम्हारा त्याग सफल होगा, तुम्हारा जीवन आनन्दमय तथा विजयी, और तुम्हारा सिर ऊँचा व उन्नत होगा; भाग्य तुम्हारा उज्ज्वल, और कीर्ति तुम्हारी चिरव्याप्त होगी; तुम राजरानी होकर अमर यश प्राप्त करोगी।"

फिर महाराज वृषपर्वा ने कहा—"सुनो बेटी ! पिता का आशीर्वाद भी सुनो। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि, तुम्हारा यह त्याग व्यर्थ नहीं जायगा। इससे तुम्हारा परम हित और कल्याण होगा; तुम्हें जय मिलेगी। इस दासीत्व के द्वारा ही तुम एक दिन सुख-सौभाग्य प्राप्त करके राजरानी बनकर परम आनन्दित और चिर-सुखी होगी; तुम्हारा ललाट उन्नत होगा, और तुम्हारा जीवन कल्याणप्रद और मंगलमय। परम भाग्यशालिनी बनकर तुम्हारा

निर्मल यश अमर और स्थायी होगा। भगवान तुम्हारा मंगल करेंगे। जाओ, तुम देवयानी के साथ जाओ, और उसकी सेवा करती हुई एक दिन यह आशीर्वाद सफल करके जीवन सुखी बनाओ।"

शर्मिष्ठा उसी समय से देवयानी की दासी बनकर शुक्र-आश्रम में निवास करने लगी।

द्वितीय खण्ड

मिलन

(१)

आसक्ति

अखिला के आते ही महाराज ययाति अश्वारूढ़ हो अपनी राजधानी की ओर चल दिये। वे आए तो; परन्तु अपना हृदय देवयानी के पास ही छोड़ आये। गये तो वे आखेट करने के लिये, परन्तु स्वयं ही षोडशी मुग्धा के रूप पर उन्मत्त हो उसके आखेट हो आए। देश लौटने पर भी सुन्दरी देवयानी का स्मरण उन्हें ज्यों का त्यों बना रहा। ज्योंज्यों दिन बीतने लगे, उसकी स्मृति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती गई। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष बीते, स्मृति में कोई अन्तर नहीं पड़ा; अब तो राजकार्य में भी उनका जी न लगता, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, काज-कर्म करते, मृगया-आखेट को जाते, मित्र-पात्र, मंत्री-सेनापति आदि से बातचीत करते, हर समय उन्हें देवयानी का ही ध्यान बना रहता; देवयानी की मनोहर मूर्ति हर समय, हर घड़ी, प्रति क्षण उनके नेत्रों के सामने घूमा करती; देवयानी की स्मृति ही उनके कार्य का विषय बन गई। अग्नि-शिखारूपिणी सौन्दर्य्यमयी नवयौवना देवयानी ने उनके हृदयपटल पर अधिकार कर लिया। राजा चंचल हो उठे।

सच है; सौन्दर्य्य आत्मदीप्ति है, ऐसी प्रदीप्त कि, हृदय में चिनगारियाँ—ज्वाला उत्पन्न कर देती है। नवयौवनोन्मेष-सौन्दर्य्य का प्रलोभन बड़ा प्रबल होता है। यौवन के प्रथम मोह को अपसारित करना सरल बात नहीं है; उसका उत्ताप हृदयपटल को पार करके अन्तःकरण के निगूढ प्रदेश में जाकर ज्वाला उत्पन्न कर देता है। संसार में स्त्री से बड़ा आकर्षक और कोई नहीं है, उसमें बड़ी मादकता, बड़ा आकर्षण है। रमणी-रूप में—

सौन्दर्य्य में बड़ी विलक्षण चपलाशक्ति है। जिसके सामने दास-गण सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते हैं; जो प्रचुर प्रजा-मण्डली का शास्ता और असीमराज्य तथा अपार धन-वैभव का, पुष्कल भण्डार का अधिकारी और स्वामी है, उस समर्थशाली नरेश को भी सौन्दर्य्य अपना दास बना डालता है। स्त्रीरूपी महा समुद्र में बड़े बड़े अमूल्य रत्न भरे रहते हैं; रसिक जन उन्हीं सब महा रत्नों के अधिकारी होकर चिरसुखमय-जीवन व्यतीत करते हैं; और घृणित कामान्ध व्यक्ति मत्त होकर उस महासमुद्र में डुबकी लगा कर अपने अस्तित्व को भी खो बैठते हैं। देखना है, राजा ययाति किस मार्ग का अवलम्बन करते हैं।

किसी भी युवक के लिये, वह चाहे रङ्क हो या राव; धनी हो या दरिद्र; ऊँच हो या नीच; युवावस्था के कषायपूर्ण और वासनामय प्रभाव से निकल भागना कठिन हो है; तिसपर ऐसे युवक के लिये तो जिसने कभी किसी प्रकार भी सौन्दर्य्य और सुन्दरी स्त्री के दर्शन किये हों, यह बात और भी कठिन है। इस यौवन-श्री-सम्पन्न संसार में स्त्री-पुरुष जीव-जन्तु, वृक्ष-लता जिस किसी को भी यौवन प्राप्त हुआ है, वह उस यौवन के उमगपूर्ण रसरंग को आनन्द और सुख से विलासिता के साथ व्यतीत करने को आतुर हो उठता है। इस वासनामय आनन्द और सुख से परिपूर्ण जगत में जिधर देखो विलास-लीला का व्यापार ही देख पड़ता है। संसार प्रेम और आनन्द का, सुख और विलास का अगाध समुद्र —गहन क्रीड़ा-क्षेत्र है। उसको पार कर जाना महा ऐश्वर्यशाली नृपति की कौन कहे, साधारण स्थिति के दीन-दरिद्र युवक के लिये भी कठिन—महा कठिन है। सौन्दर्य्य के माया-जाल ने जब बड़े बड़े महात्मा और ऋषि-मुनियों की तपामय साधना और समाधि तक को अपने तीक्ष्ण बाणों द्वारा विद्ध करके विचलित

और चंचल कर दिया है, तब सौन्दर्योपासक महा वैभवशाली, ऐश्वर्यवान, प्रतापी ययाति की तो बात ही क्या थी। राजा ययाति देवयानी के रूप-लावण्य पर मुग्ध हो अपने आपतक को भूल बैठे। वे देवयानी को हृदय से लगाने के लिये पागल हो उठे। प्रेम और प्रणय की असंख्य कल्पनाएँ उनके हृदयमंच पर आआ कर नृत्य करने लगीं; देवयानी को प्रेयसीरूप से प्राप्त कर अपनी अंकशायिनी बनाने के लिये उनका हृदय रहरह कर हुलस उठता।

दिन पर दिन बीतने लगे, राजा की मानसिक-दशा भी विचित्र होने लगी। जिन महाराज ययाति के प्रफुल्ल मुखमण्डल पर चिन्ता की रेखा कभी क्षण भर के लिये भी प्रकट नहीं होती थी, निमेष भर के लिये भी जिनके प्रशान्त मानस-पटल पर वेदना की क्षुद्रातिक्षुद्र तरंग उत्थित नहीं हुई; अब देवयानी की स्मृति में उन्हींके हृदय की प्रवृत्तिशाला में दुख-केसरी सदा गर्जन करने लगा। प्रफुल्ल गुलाब में विषकीट प्रविष्ट होकर बैठ रहा। राजा की सौन्दर्य-लिप्सा में अग्नि की लपटें उठने लगीं; पागल के प्रलाप की तरह उनके यौवन का उन्माद, उनकी रूप-पिपासा असंख्य गुना बढ़ गई। मन में अशान्ति की हलचल, प्राणों में सौन्दर्य की पिपासा, और निद्राहीन नेत्रों और काज-कर्म-रहित दिनों में प्रेयसी की प्राप्ति-आकांक्षा—राजा की यही दशा थी। देवयानी के रूप-सौन्दर्य का वे जितना ही विचार करते, उनकी सौन्दर्य लिप्सा उतनी ही बढ़ती जाती, उनकी रूप-चिन्ता उतने ही प्रबल वेग से हाहाकार करती जाती। परन्तु विचार न करना भी तो असम्भव और दुखदाई था। अभाव का नाम ही तो अभिलाषा तथा आकांक्षा है।

और कितने ही दिन इसी प्रकार बीते। एक दिन संध्या-समय राजा ययाति अपने राज्य-प्रासाद के बाहिरी भाग के

पुरोद्यान में एक शिलाखण्ड पर बैठे देवयानी के विषय में कुछ चिन्ता कर रहे थे। भगवान भुवन-भास्कर दिनभर के अविश्रान्त परिश्रम से अवकाश पाकर अस्ताचल को गमन कर रहे थे। सारी प्रकृति नीरव होकर सान्ध्यकालीन सुन्दर सुहावने दृश्य को निरखने में तन्मय हो रही थी, और राजा तन्मय हो रहे थे किशोरी देवयानी के देवोपम रूप-लावण्यमय-यौवन-रस-परिपूर्ण-कलेवर और सुन्दर मुख का ध्यान करने में। राजा विचार कर रहे थे देवयानी की पारिजात-सदृश, सजीव सौन्दर्य्य की भाँति मनोरम रूप-छटा पर फूलों की वर्षा करनेवाली मुख श्री का, प्रणय और प्रेम की रसधारा सी बहानेवाले कमल-लोचन-युगल का, गुलाब-कलिका-सदृश कोमल अधर-पल्लव का, उसके उमंग-पूर्ण उन्मत्त यौवन का, और उसकी सुडौल सुश्रीवान एवं सुसम्पन्न देहयष्टि का।

राजा विचार करने लगे—" अहा! कैसा देवदुर्लभ सौन्दर्य्य उसका है! नव-विकसित कली की भाँति उसके अंग-प्रत्यंग से सुललित यौवन-प्रभा विकसित हो रही थी; वह नन्दन-कानन में विहार करनेवाली देव-बालाओं से भी अधिक सुन्दरी है। क्या ही देव-विनिन्दित उसकी रूप-राशि है!! उसका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रोज्वल और माधुर्यपूर्ण है, उस पर विखरी हुई कलित-कुन्तल-केशराशि अपूर्व शोभा विकीर्ण कर रही थी। रूप-रंग, हावभाव, कटाक्ष-चितवन, कान्ति-छटा सब में देवयानी मानो अद्वितीय सुन्दरी है, चन्द्रमा को भी लज्जित करने वाली उसकी अपरूप-रूप-माधुरी है। अंग-अंग से यौवन टपक रहा है। वह चित्र-लिखित भ्रूयुगल, वह भ्रमरविनिन्दित कृष्णोज्वल विशाल नेत्र, पुष्प-विनिन्दित-मधुमय दोनों अधर, निविड़ केशपाश, अतिशय गौर सुगोल बाहु, अति स्निग्ध, आनन्दमय और कमनीय अतुल-रूप-

लावण्य !! नूतन उद्वेग और नूतन लावण्य से परिपूर्ण यौवन-सम्पन्ना वह देवयानी ! उसे देखकर, कौन ऐसा होगा, जो विलास-लालसा की प्रबल वेदना से उन्मत्त न हो जावे ?"

संध्या बीत चली, यामिनी हो आई। शुक्लपक्ष-पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं से परिपूर्ण होकर गगन-मण्डल में उदय हो आया, तारिकावली चमक उठी; परन्तु राजा की विचार धारा प्रशमित नहीं हुई ; और भी बढ़ गई। नीलाकाश, अनन्त तारिकाएँ, कामारि-भाल-भूषण-मयंक, मन्द मारुत, उज्वल ज्योत्स्ना, स्वर्गीय शान्ति, मंजीरे की मधुर कलकल ध्वनि—इन सबों ने मिल कर प्रमोदोद्यान में एक अद्वितीय शोभा और स्वर्ग की सृष्टि कर दी थी। परन्तु राजा का उस ओर ध्यान नहीं था, शान्त-स्निग्ध-प्रकृति की उस मनोरम छटा की ओर उनका लक्ष्य नहीं था, वे देवयानी की विचार-धारा के स्रोत में वहे चले जा रहे थे।

राजा विचारने लगे—"देवयानी ! प्यारी देवयानी !! तुम कौन हो ? धूम्र-रहित अग्निशिखा की तुम ज्वाला हो, अथवा प्रशान्त-कलकल-कलेवरा-नदी की सुशीतल वारि-धारा ? सुन्दरता की जाल हो, या प्रेम की मधुमय मूर्ति ? उमंग की उल्लसित उच्छ्वास हो, या अनंग की अभिशापित आवास ? अथाह तृष्णा की तीव्र तरंग हो, या विलास की उर्वरा भूमि ? अधःपतन हो, असफलता हो, मायाविनी हो, या स्वर्ग की देवी, आशा की उमंग या प्रेम की साकार मूर्ति ? कौन हो तुम बाले ? कठिन तुम्हारा पाश है, निमग्न करके मुझे छोड़ोगी निराशा की सरिता में, या परिपूर्ण करोगी मेरे जीवन को अपने सहवासद्वारा अपने मधुर अधर का रसपान कराके ? तुम्हें देखकर मैं भूल नहीं सका हूँ, चेष्टा करने पर भी तुम्हारी याद को हृदय से निकाल

नहीं सका हूँ। एक बार तुम्हारी झलक देखकर आशा और निराशा से अपने जीवन को लेकर दिन बिता रहा हूँ तुम्हारी मधुर स्मृति में। तुम कहाँ हो प्रिये! देवयानी! तुम तक अपना प्रेम-सन्देश क्यों कर भेजूँ? हा! अब तो तुम्हारी आनन्दमय सुन्दर-प्रिय-मधुर-मूर्ति के सिवा कुछ भी स्मरण नहीं, सब कुछ भूल गया हूँ।"

विचारते विचारते राजा अधीर हो उठे। हृदय तीव्रगति से स्पन्दन कर उठा, देवयानी की सुन्दर मनोहर मूर्ति मानो उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ने लगी। वे अधीरता से उन्मत्तवत् हो ज्योंही उसे पकड़ने दौड़े कि कुछ नहीं—अपने आपही स्वयं उनके ही दोनों हाथ परस्पर मिलकर मुट्ठियां मिच गईं। राजा सिर पकड़ कर फिर वहीं बैठ गये।

राजा अधिक देर तक बैठे भी न रह सके, उठकर टहलने लगे। टहलते टहलते यकायक खड़े होकर फिर विचारने लगे—"अब तो सहा नहीं जाता, उसका वियोग अब तो सहा नहीं जाता। वह सुन्दर प्रतिमा; हमारे मन-मन्दिर में बसी हुई अलौकिक प्रीति-ज्योति की भाँति सुदीप्त प्रदीप्त प्रभापूर्ण सुन्दर प्रसन्न प्रतिमा—आकाश के सूर्य की भाँति करोज्वल, विद्युत-प्रभासम अपरूपरूपमयी प्रतिमा। हाय! वह प्रतिमा क्या अब देखने को फिर न मिलेगी? क्या उसे हम अपनी—अपनी अंकशायिनी न बना सकेंगे? देवयानी! देवयानी!! तुम इतनी सुन्दर, इतनी मधुर........"

इसी समय प्रधान मंत्री ने आकर पुकारा—"महाराज!"

राजा की विचारशैली भंग होगई। आँख उठाकर देखा, सामने अमात्य खड़े हैं। राजा मानो सोते से जाग पड़े; मानो

स्वप्न देखते देखते हठात् उनकी निद्रा भंग होगई ; मानो उनके गिरते गिरते किसी ने उन्हें सचेत कर दिया। राजा ने मंत्री की ओर देखकर कुछ देर चुप रह कर पूछा—"तुम इस असमय में यहाँ क्यों ? क्या हठात् राज्य का कोई आवश्यक कार्य आ पड़ा ? किसी शत्रु ने राज्य पर चढ़ाई कर दी, अथवा प्रजा-विद्रोही होगई ? सेना बिगड़ खड़ी हुई वा अन्तःपुर में कोई गड़बड़ उठ खड़ा हुई ? द्विज, ब्रह्मचारी या ऋषि-मुनियों का कोई काम आ पड़ा ; वा किसी देव-कार्य से इस समय मेरे पास आए हो ? बोलो, बोलो, शीघ्र बोलो, चुप क्यों हो ?"

सुनकर मंत्री अवाक् रह गए। उन्हें राजा के इन प्रश्नों पर बड़ा असमंजस हुआ। राजा का यह कैसा भाव, कैसी जल्पना, कैसा प्रलाप !!! विचार कर मंत्री को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने फिर कहा—" महाराज ! "

राजा ने जैसे कुछ अधीरता-सूचक कोप-व्यंजक व्यस्त स्वर में कहा—" शीघ्र कहो. क्या कहना है। "

मंत्री को और भी आश्चर्य हुआ। उस समय राजा की यह दशा देखकर उन्हें उनसे कुछ भी कहने का साहस नहीं हुआ. कुछ कहना उचित न समझा। मंत्री मन की बात मनही में लिये उस समय चुपचाप वहाँ से चले गये। राजा ने भी उन्हें रोककर उनसे कुछ नहीं पूछा।

अमात्य चले गये ; राजा ने फिर देवयानी के चिन्तन में ध्यान लगाया। विचारा —" जिसे देखने की उत्कट इच्छा हो रही है, वह दिखलाई क्यों नहीं देती ? जिसका स्पर्श करने की लालसा से रोम खड़े हो रहे हैं, वह निकट क्यों नहीं आती ? जिसकी सुधामयी वाणी सुनने के लिये हृदय व्याकुल हो रहा है, वह आकर मुझसे बोलती क्यों नहीं ? जिसे आलिंगन करने के लिये,

अंक भरने के लिये आतुर हुए प्राण अकुला रहे हैं, वह आकर मुझसे लिपट क्यों नहीं जाती, मुझे अंक में क्यों नहीं भर लेती ? मैं यहाँ उसके वियोग में, उसकी स्मृति में अवसन्न हूँ, परन्तु उसे मेरी अवस्था का ज्ञान तक नहीं। वन में ; वाटिका में, पुर-महल में, कुटीर में कहीं भी शान्ति नहीं मिलती, राजकार्य में चित्त नहीं लगता, आखेट के लिये जाने को मन नहीं करता, न दिन को चैन, न रात्रि को नींद। खड़े, बैठे, लेटे चित्त नहीं थमता। मन व्याकुल है, हृदय आतुर है ; चित्त दुखी है, प्राण अकुला रहे हैं ; परन्तु यह सब जिसके लिये हो रहा है, वह कहाँ है ? कहाँ उसे पाऊँ, कैसे उसे अपनाऊँ ? ओह ! कैसा मनोरम उसका सहज सौन्दर्य है ! उसके यौवन-वन में बसन्त की बहार है, रूप-सौन्दर्य में शशि की सुहावनी छटा है। काम-वासना की प्रोज्वल ज्योति से चमचमाते हुए गुलाब-सदृश कोमल कपोल, प्रेम की विमल धारा बहाने वाले युगल लोचन, जगमगाता हुआ प्रभात-प्रभा की भाँति, मूर्तिमान सौन्दर्य के समान उज्वल आभामय सुन्दर कलेवर !!! क्या वर्णन करूँ उसके सौन्दर्य का ? वह तो अवर्णनीय है, बारबार स्मरण करने पर भी तृप्ति नहीं होती। उसके बिना मेरा सब व्यर्थ है, जीवन निस्सार है, राज्य निरर्थक है। हा ! क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, कैसे समय बिताऊँ, क्यों कर उसे पाऊँ ? कुछ उपाय नहीं सूझता। तब ? तब क्या करूँ ? फिर वहीं चलूँ ? सम्भव है वहाँ मिल जावे, दिखलाई दे जावे। परन्तु इससे क्या होगा ? हृदय को शान्ति। कदापि नहीं। उसके देखने से तो ज्वाला और भी बढ़ेगी, शान्ति तो उसे प्राप्त करने पर ही होगी। बिना उसके पाए शान्ति कहाँ ? तब भी एकबार चलूँगा अवश्य। कौन कह सकता है, जिस भाँति मैं उसके प्रेम में व्याकुल हूँ, मेरी याद भी उसे उसी प्रकार न सता रही है।"

यह विचार उत्पन्न होते ही राजा भवन की ओर चल दिये। राजप्रासाद में पहुँच कर मंत्री को बुलाकर आदेश दिया—"कल सवेरे हम आखेट को जावेंगे, न जाने कितने दिन लगेंगे, कितने ही वन-पर्वत भ्रमण करने हैं। हमारे पीछे राज्य को सुचारु रूप से चलाने का भार तुम पर रहा। देखना, कोई त्रुटि न हो।"

मंत्री बिना कोई उत्तर दिये ही उठकर चल दिये। राजा जाकर सोए, परन्तु नेत्रों में नींद कहाँ? ज्यों त्यों कर रात बिताई। प्रातःकाल प्रत्यूष में घोड़े पर चढ़कर अकेले ही दैत्य-देश की ओर चल दिये।

भावी प्रबल है, भाग्य आकर्षक है। स्त्री-चरित्र और पुरुष के भाग्य को देवता तक नहीं जान सकते। कौन कह सकता है, किस अदृष्ट दैव ने महाराज ययाति को पुनः दैत्यपुरी चलने के लिये विवश किया? देवयानी को दिये हुए कच के अभिसम्पात, अथवा महाराज ययाति के भाग्य ने; सो कहा नहीं जा सकता।

महाराज शीघ्रही नगर के उपकण्ठस्थ राज-वाटिका के समीपस्थ उस वन में जा पहुँचे, जहाँ कुएँ में पड़ी हुई देवयानी को कुएँ से निकाल कर उन्होंने पहलेपहल उसे देखा था, और उसके रूप को देखकर उस पर मुग्ध हुए थे। आज भी उसी कुएँ पर बैठी हुई अनायास ही देवयानी से उनकी भेंट होगई।

विरह-व्यथा, पुनर्दर्शन और अनुरोध

राजपुत्री शर्मिष्ठा देवयानी की दासी होकर आश्रम में निवास करती हुई उसकी परिचारिका का काम करने लगी। किन्तु देवयानी का दुख उससे भी न गया; शर्मिष्ठा को दासी बना कर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसके हृदय में निरन्तर एक प्रकार की आगसी सुलगी रहने लगी। महाराज ययाति की स्मृति रात्रिदिवस उसे अस्थिर किये रहती।

सौन्दर्य का मोह कभी भूलता नहीं है। किसी को भूला भी कब है? आँखों में बसे हुए सौन्दर्य की मूर्ति का ध्यान करके स्त्री पुरुष आत्म-विस्मृति हो जाते हैं। जो सौन्दर्य मन में खूब छिप कर अपना घर बना लेता है, उसकी स्मृति भी कभी कभी अधीर बना देती है।

दिन पर दिन बीतते गए, परन्तु वह स्मृति ज्यों की त्यों बनी रही। दिन बीते, सप्ताह और मास बीते, वर्ष बीते, परन्तु स्मृति नहीं गई, कम भी नहीं हुई, उत्तरोत्तर और बढ़ती ही गई। देवयानी अस्थिर हो उठी। वह सब कुछ करती, परन्तु किसी काम में उसका जी न लगता। गो-चर्या, पिता की सेवा, वृक्ष-लताओं में जल-सिंचन, पिता की पूजा उपासना के लिये सामग्री-समिधा एकत्र करना, आतिथ्य-सत्कार, तथा आश्रम के अन्यान्य सब कार्य, वह करती तो प्रतिदिन उसी प्रकार थी, परन्तु किसी के करने में उसका जी न लगता। हर समय महाराज ययाति की स्मृति उसे अधीर बनाए रहती। वे सब काम मानो किसी यंत्र-चालित-शक्ति के द्वारा परिपूर्ण और सुसम्पन्न होते हों, ऐसी ही देवयानी की स्थिति और अवस्था हो उठी थी। एक प्रकार का

स्मृति-उन्माद सा उसके हृदय पर छाया हुआ था। आकुलता-मिश्रित-आतुरता उसके उन सब कार्यों के करने में परिलक्षित होती थी। यह देवयानी की दशा थी, महाराज ययाति की स्मृति में।

दिन को विचार-प्रवाह उसे परिवेष्टित किये रहता, और रात को कभीकभी सोतेसोते वह चौंक उठती, बड़बड़ा उठती और चिल्ला उठती। उठकर शय्या पर बैठ जाती और घण्टों आँसू बहाकर महाराज ययाति की मनोहर मूर्ति का चिन्तन किया करती। स्वप्न में कभीकभी उन्हें देखकर घबड़ाई सी उठ बैठती और उन्हें पकड़ने दौड़ती, मानों वे अभी उसके पास थे. और उसके सचेत होते ही उठकर उसके पास से चले गये हैं। देवयानी उन्हें पकड़ने दौड़ती. तो शयन-कक्ष की बन्द किवाड़ों से उसका सिर टकरा जाता। देवयानी सिर पकड़ कर वहीं बैठ जाती। यह दशा थी देवयानी की महाराज ययाति के वियोग में।

देवयानी बहुधा अकेले में बैठकर महाराज ययाति के रूप का चिन्तन कर विचारती—"क्या इस जीवन में अब उनसे भेंट न होगी? हृदय की आशा पूर्ण न होगी? क्या वे मेरे न होंगे? उन्हें कहाँ ढूढूँ? कहाँ पाऊँ? उनका पता-धाम भी तो न पूछ लिया, कि ढूँढ़ते ढूँढ़ते उनके पास पहुँच जाती। तब अब क्या करूँ? कैसे उन्हें पाऊँ? क्योंकर उनके पास तक पहुँचू? जब से दर्शन दे गए हैं, फिर एक बार भी तो मेरी सुधि नहीं ली। ऐसे निठुर हो गए। मैं उनके वियोग में उनकी स्मृति में तड़प रही हूँ, और उन्हें मेरा ध्यान तक नहीं। क्या यह भी कभी सम्भव है? प्रेम का आकर्षण तो दोनों ओर समान कहा जाता है। फिर ऐसा क्यों है? हाय! प्यारे ययाति! क्या तुम नहीं देख रहे हो, तुम्हारे वियोग में मेरी कैसी दशा है? हृदय चिन्तित है, प्राण

व्याकुल हैं, मन व्यथित है, नेत्र तृषित हैं, शरीर सूख रहा है, विश्राम नहीं मिलता, तुम्हारे स्नेह-सलिल का स्वच्छ-स्रोत हृदय से रहरह कर निकल पड़ता है। तुम कहाँ हो प्रियतम !!! "

कभी विचारती—" सुन्दरता की वह सजीवमूर्ति, रूप की वह माधुरी प्रतिमा ! ओह ! कैसे कहूँ, चन्द्रमा के उज्वल प्रकाश-पुंज सा कैसा सुठि सुन्दर सुकुमार उनका कलेवर है। उनका अद्वितीय सौन्दर्य मेरी आँखों से एक क्षण के लिये भी नहीं बिसरता ; उनके चरणों पर ही तो मेरा यह शरीर निर्माल्य के रूप में समर्पित है। उनकी मनोहर मोहिनी मूर्ति मन-मानस में बसी हुई है। प्रेम और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा हैं वे। कैसा उमंगपूर्ण यौवन है उनका ; वे साक्षात् प्रद्युम्न के अवतार हैं, उनके नयनों की माधुरी, कपोलों की सुषमा, शरीर की कान्ति, वीरत्व की आभा, सब मिलकर ऐसी प्रतीत होती थी ; मानो सौन्दर्य और वीरत्व देह धारण कर मेरे सामने खड़े हों। मैं तो उन्हें देखते ही मोहित हो गई, अपनी सब सुधिबुधि भूल गई। उनका विलासपूर्ण, शृंगार-विभूषित, गौरवर्ण वदन-मण्डल, ताम्बूल-रंजित अधर-पल्लव, प्रेम और विलास की विमलधारा बहानेवाले नीलाभ्र कृष्णवर्ण उज्वल लोचन-युगल, घुँघराली निविड केशपाश, सुगोल बाहु, विशाल-उन्नत ललाट, शुभ्रसुन्दर कान्तिपूर्ण मुखमण्डल, जगमगाता हुआ परिपुष्ट कलेवर, अब तक सब मेरे नेत्रों के सामने मानों देह धारण कर नृत्य कर रहे हैं। उनके यौवन-वन में बसन्त की बहार है, सौन्दर्य में शशि की सुहावनी छटा है, अरुण-कपोलों पर दिव्य तेज है, अधरों पर माधुरी है, मीठी मुस्कान-सहित कालेकाले मनोहर घुँघराले बाल उनके सौन्दर्य को बढ़ा रहे थे, मानों रूप के आकाश में मेघमाला के मध्य विद्युतरूपी शुभ्रमूर्ति चमक

रही हो। मानो पुष्पवाटिका में कलियाँ खिल कर सर्वत्र वायु में सौरभ उड़ने लगा हो।"

सैकड़ों सहस्रों बार देवयानी के मन-मन्दिर में महाराज ययाति की आनन्दमयी सुन्दर प्रतिमूर्ति रहरह कर इसी प्रकार फिरने लगती; और देवयानी उसे स्मरण करके घण्टों बैठकर आँसू बहाया करती। फिर विचारती—"अब तो सिवा उस आनन्दमयमूर्ति के कुछ भी याद नहीं, सब कुछ भूल गई हूँ, कुछ भी अच्छा नहीं लगता। नभ-मण्डल में तारे अब भी झिलमिलाते हैं, चन्द्रदेव अब भी हँसते हैं, सुगन्धित पुष्पों से परिमिलित-समीर मन्दगति से अब भी बहता है, पृथ्वी अब भी हरीभरी देख पड़ती है, परन्तु कुछ भी अच्छा नहीं लगता। दिन बीत जाता है, तो रात नहीं कटती; और किसी प्रकार यामिनी व्यतीत हो जाती है, तो दिन युग-समान जान पड़ता है। सुन्दरी प्रकृति के हास्य को देखकर मुझे ज्वरसा चढ़ आता है; हृदय में आनन्द-तरङ्गावलि नहीं उठती। क्यों? वह तो प्यारे की कमी से सूना है, उनकी स्मृति में व्याकुल है, वियोग में व्यथित है। आनन्द उसमें समाए कहाँ से? कैसे उस कमी की पूर्ति करूँ? कैसे उन तक अपना सन्देश भेजूँ? हाय! क्या उन से मिलन-सौभाग्य का कोई उपाय नहीं है? दर्शन के प्यासे अपने इन नेत्रों को, प्रेमालिङ्गन के भूखे अपने इस हृदय को कैसे शान्त करूँ!!"

एक दिन मध्यान्होपरान्त अपने आश्रम के एक निरीह-निभृत स्थान में बैठी देवयानी इस प्रकार विचार कर रही थी। विचारते विचारते अधीर हो उठी। मन उसका व्याकुल होकर घबड़ा उठा, शान्ति का कोई उपाय न देख पड़ा। तो वह राजकन्या शर्मिष्ठा को साथ लेकर नगर-उपकण्ठ पर उसी वन को गई, जहाँ अन्धकूप में शर्मिष्ठा ने उस दिन उसे ढकेल दिया था, और

महाराज ययाति ने उसे कुएँ से निकाल कर उसकी प्राण-रक्षा की थी। सम्भव है, वहीं उनसे आज फिर भेंट हो जावे, उनसे मिलने का कोई मार्ग देख पड़े।

देवयानी जाकर उसी कुएँ पर बैठ गई, और विचारने लगी—"यहाँ भी वे नहीं हैं। सब ओर आशा निराशा में ही बदल रही है। परन्तु क्या करूँ? मृगतृष्णा की भांति उनके मिलने की आशा से इधर उधर भटकती हूँ, परन्तु उन्हें कहीं नहीं पाती। भुलाने का प्रयत्न करती हूँ परन्तु भुला भी नहीं सकती। उनकी प्रेममूर्ति मेरे विचारों में, नेत्रों में, मन में, हृदय में बसी हुई है। हाय! क्या उन्हें भी मेरी याद आती है?"

कुएँ पर बैठी देवयानी इस प्रकार विचार कर रही थी कि, उससे मिलने की आशा किये महाराज ययाति अश्व पर चढ़े वहाँ आए। उन्होंने दूर से ही देखा, दो सुन्दरियाँ कुएँ पर बैठी हुई हैं। फिर उन्होंने देवयानी को पहचान लिया, उनका हृदय आनन्द से उछल पड़ा, मन-मयूर नृत्य कर उठा, आशा देह धारण कर उनके सामने आ खड़ी हुई। घोड़े से उतर कर उन्होंने उसे एक वृक्ष की डाल से बाँध दिया, और स्वतः पैदल ही देवयानी के पास पहुँचे। साल भर का दीर्घकाल उसे देखे हो गया। इस बीच में उसके रूप-यौवन में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ, उसका रूप-सौन्दर्य्य वैसा ही स्निग्ध, शान्त, कमनीय और आनन्दमय है, तथापि समीप बैठी हुई शर्मिष्ठा के रूप-यौवन की समता नहीं कर सकता। शर्मिष्ठा का रूप गुलाब था, तो देवयानी का जुही, चमेली या बेला। शर्मिष्ठा के मुख पर गम्भीरतापूर्ण दिव्य तेज था, दैवी आभा थी, तो देवयानी के मुख पर उच्छृंखलता और विलास-कामना-पूर्ण कमनीय कान्ति। बस यही दोनों के रूप में भेद था। राजा

ने देवयानी को देखा। नई आशा, नवीनोल्लास, शान्ति-पूर्ण तृप्ति, और आशापूर्ण सौभाग्य ने राजा के हृदय पर अधिकार जमा लिया। उल्लसित, विकम्पित और स्पन्दित आशामय हृदय को लेकर वे कुएँ की ओर को चले।

कुएँ के समीप पहुँच विचार-मग्ना देवयानी के सामने खड़े हो, बिना किसी प्रकार का सोच-विचार किये वे देवयानी से झट पूछ ही तो बैठे —"देवयानी ! हमें पहचानती हो ?"

प्रश्न सुनते ही देवयानी और शर्मिष्ठा दोनों चौंक कर खड़ी हो गईं। शर्मिष्ठा ने आंचल नीचा कर मुख दूसरी ओर फेर लिया, और देवयानी भौंचक हृदय से महाराज ययाति की ओर देखती रह गई। देखा—यह तो वही मूर्ति है, जिस का ध्यान वह अब तक करती चली आती है, जो उसके मन-मन्दिर में बसी हुई है, और जो उसके प्रेम की आराध्य, जीवन की सम्बल और कामना की पूर्ति है। जिसकी प्रेम-स्मृति में वह व्याकुल है, जिसके चरणों पर उसका सारा जीवन अनन्तकाल के लिये अर्पित है, जिसकी अनुपम रूप-माधुरी उसके मन-मानस और नेत्रपट से क्षणकाल के लिये भी दूर नहीं होती, और जिसके मिलन की आशा लेकर ही वह यहाँ आई है। वह नहीं जानती थी, उसकी आशा इतनी शीघ्र पूर्ण होगी। देवयानी अतृप्त दृष्टि से महाराज ययाति की ओर देखती रह गई। फिर बोली—" यह प्रेम-प्रतिमा क्या भूली जा सकती है महाराज ! यह जीवन इन चरणों पर निर्माल्य की भाँति समर्पित है, मैं तुम्हारी हूँ, और तुम्हें खोजती हुई ही तो यहाँ तक आई हूँ। हाय ! न जाने तुम्हारे विरह में कितनी तड़प रही हूँ !! जब से दर्शन देकर गये, एक बार सुधि भी

न ली! तुम क्या जानों, मैं तुम्हारे प्रेम में कितनी व्याकुल हूँ महाराज!"

हृदय-आवेश में आकर कहने को तो देवयानी यह सब कह गई, परन्तु कह कर तुरन्त ही लजा गई। रमणी-सुलभ-लज्जा ने उसे संकुचित कर दिया। देवयानी ने चुप होते ही मुख नीचा कर लिया। शर्मिष्ठा चुपचाप वहाँ से आश्रम को चल दी। देवयानी का उत्तर सुनकर राजा का हृदय आशा से चमक उठा।

शर्मिष्ठा को जाते देखकर राजा ने पूछा—"यह सुन्दरी कौन थी देवयानी?"

देवयानी ने मुख नीचा किये ही उत्तर दिया—"मेरी सखी और दासी दैत्यराजपुत्री शर्मिष्ठा।"

राजा ने कौतूहल-वश फिर पूछा—"असुरपति वृषपर्वा की परमासुन्दरी कन्या शर्मिष्ठा तुम्हारी दासी कैसे हुई ऋषि-कन्ये?"

आटोपपूर्ण गर्व और विजय-पूर्ण उल्लास ने देवयानी का हृदय भर दिया; हर्ष-गद्गद्-कण्ठ से उसने उत्तर दिया—"मुझे कुएँ में ढकेलने के फल-स्वरूप। पिता से अनुरोध करके राजा-द्वारा मैंने अपने उस अपमान और दुख के बदले में शर्मिष्ठा के लिये इसी दण्ड की व्यवस्था कराई थी देव!"

राजा को रहस्य समझने में बाकी न रहा। वे मनही मन रह रह कर देवयानी के कर्म की आलोचना और शर्मिष्ठा के दिव्याचरण की प्रशंसा करने लगे। परन्तु देवयानी को वे अपना हृदय पहले ही दे चुके थे, इस कारण देवयानी का शर्मिष्ठा के प्रति यह निष्ठुर व्यवहार निष्ठुर होने पर राजा को

उतना निष्ठुर और अनुचित न जान पड़ा। प्रेम! तेरी बलिहारी!!!

देवयानी ने कहा—"महाराज आपने उस दिन मुझे कुएँ से निकाल कर मेरी प्राण-रक्षा की थी, मैं तब आपको धन्यवाद देना भूल गई थी, आज मेरी कृतज्ञता स्वीकार कीजिये और......"

राजा ने परीक्षा के हेतु देवयानी को बीच ही में रोक कर कहा—"भद्रे! अपनों के प्रति कृतज्ञता और धन्यवाद कैसा? मैं तो तुम्हारा ही हूँ। इतनी कातरता दिखलाने की आवश्यकता नहीं है, मैंने अपना कर्तव्य ही किया था। इसमें कृतज्ञता की कौन बात है? क्या तुम मुझे कोई अपना पराया समझती हो?"

देवयानी उत्तर न दे सकी, संकोच और लज्जा ने उसका कण्ठ रोक दिया। वह कटाक्षपूर्ण दृष्टि से राजा की ओर देखती रह गई। फिर बोली—"महाराज! कृपा कर आये हैं, तो आश्रम को चलिये। पिता जी आपको देख कर बहुत प्रसन्न होंगे।"

अन्धे को क्या चाहिये? दो नेत्र। राजा भी तो यही चाहते थे, तथापि एकबार ही देवयानी की बात को मान लेना भी उन्होंने उचित न समझा। बोले "देवि! राजधानी में प्रचुर कार्य हैं, देर होने से उनमें बाधा पड़ेगी, इस कारण मेरा शीघ्र वहाँ पहुँचना अत्यावश्यक है।"

देवयानी ने विचारा "आई हुई निधि को हठात् यों खो देना उचित न होगा, महाराज चले गये, तो न जाने फिर प्राणों की क्या दशा हो। पास रहने से सम्भव है, किसी दिन आशा पूर्ण हो ही जावेगी।" प्रकाश्य में कहा—"महाराज! नरेशों को सदा

कार्य लगे ही रहते हैं। फिर विश्राम और भ्रमण भी तो राजाओं के मुख्य कार्य हैं। कुछ दिनों आश्रम में निवास कर फिर पिता की आज्ञा लेकर देश को लौट जाइये।"

राजा भी यही चाहते थे। उन्होंने कहा--"देवि! मैं तुम्हारे अनुरोध को टालने का साहस नहीं कर सकता। चलो, मैं तुम्हारे पिता के दर्शन कर, ऋषि की आज्ञा लेकर ही स्वदेश को जाऊँगा।"

दोनों ही की इच्छा एक थी, दोनों ही एक रोग के रोगी थे। देवयानी का विचार था कि, राजा के आश्रम में रहने से एक न एक दिन उनसे मिलन का सौभाग्य प्राप्त हो ही जायगा। और राजा ययाति ने विचार किया कि, सम्भव है, कुछ दिनों आश्रम में निवास करने से उनकी इच्छा पूर्ण हो जावे, देवयानी उन्हें मिल जावे। सुयोग को खोना उचित नहीं है।

यह विचार कर उन्होंने देवयानी के अनुरोध की रक्षा करना स्वीकार कर लिया। वे देवयानी के साथसाथ महर्षि शुक्राचार्य के आश्रम को गये। देवयानी-द्वारा सब वृत्तान्त सुनकर भार्गव शुक्र को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने आश्रम में ठहरने के लिये महाराज ययाति के लिये पूर्ण व्यवस्था करके ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि, जिससे आश्रम में निवास करते समय तक उन्हें कोई कष्ट न हो।

८.

प्रेम-वेदना

एक दिन सुयोग पाकर शर्मिष्ठा ने देवयानी से कहा—" गुरु-कन्ये ! यह क्या उचित हो रहा है ? "

देवयानी ने पूछा—" क्या शर्मिष्ठे ? "

" यही जो तुम कर ही हो " शर्मिष्ठा ने कहा—" इस गुप्त दावानल को बिना प्रज्वलित किये हुए भीतर ही भीतर दग्ध क्यों हो रही हो ? कहो तो, मैं एक दिन गुरुदेव से कह देखूँ ?"

देवयानी ने पूछा—" कैसी गुप्त दावानल राजकुमारी ! पिताजी से तुम क्या कहोगी ? मैं समझी नहीं ।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"यही जो हो रहा है, जो तुम्हारी इच्छा है । उनसे पूछ कर देखूँ तो, क्या विप्रकन्या किसी प्रकार से भी क्षत्रिय की पत्नी हो सकती है ? "

कह कर शर्मिष्ठा सहज-सुलभ-भाव से मुस्करा गई । सुनकर देवयानी झुंझला उठी । बोली—" शर्मिष्ठे ! क्या……"

बीच ही में रोककर प्रबोधस्वर में शर्मिष्ठा ने कहा—"गुरु कन्ये ! उत्तेजित न हो । सुनो ; मैं रात्रि-दिवस तुम्हारी परिचर्या करती हूँ, क्या मैं इतना भी नहीं समझ सकती ? स्त्री होकर स्त्री के मन का भाव नहीं ताड़ सकती ? तुम्हारे दीर्घ निःश्वास, तुम्हारा अन्यमनस्क भाव, तुम्हारे व्यथित लोचन-युगल, तुम्हारी भावभंगी, तुम्हारा आचरण, रहन-सहन, तुम्हारा स्नेह सरस-स्वरभंग, प्रीतिपूर्ण भावविकास, अनुरागमयी अरुण लोचनश्री, यह सब इस बात को प्रकट कर रहे हैं, कि तुम महाराज ययाति पर अनुरक्त हो, उनके साथ विवाह करना चाहती हो ।

क्षमा करना बहिन ! मैं स्पष्टरूप से तुम्हारे इस प्रणय-रहस्य को तुम्हारे राग-रञ्जित कपोलों पर प्रेमपूर्ण विभ्रम और प्रणय-पूर्वक लालसा-द्वारा सलज्ज भाषा में लिखा हुआ देख रही हूँ। जिस दिन से महाराज ययाति ने आश्रम में प्रवेश किया है, उसी दिन से मैं तुम्हारा यह भाव देख रही हूँ। तुमने अब मेरा तिरस्कार करना भी छोड़ दिया है, सदा प्रेमपूर्ण सख्य भाव से सम्भाषण करती हो। छिपाने की चेष्टा न करो देवयानी ! मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। मैं तुम्हारी परिचारिका हूँ, हृदय का बलिदान देकर भी इस गुप्त प्रणय-रहस्य में मैं तुम्हारी सहायता करूँगी। मैं तुम्हारा यह व्यथितभाव देख नहीं सकती। बताओ, गुरुदेव से कहूँ ?"

सुनकर देवयानी ने सिर झुका लिया, कोई उत्तर नहीं दिया। शर्मिष्ठा ने फिर पूछा—"क्यों देवयानी ! बोलती क्यों नहीं ? बताओ, क्या इच्छा है ?"

महाराज ययाति महर्षि शुक्राचार्य्य के आश्रम में रहकर आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। दिन में दो चार वार उनकी देवयानी से भेंट हो जाया करती, देवयानी भी आकर उनके अभाव-आवश्यकताएँ पूछ जाती। भेंट होने पर दोनों परस्पर एक दूसरे को देखकर दीर्घ-निश्वास छोड़ते, परन्तु अपनी प्रणय-कथा को कोई किसी पर व्यक्त करने का अवसर न पाता, साहस न करता। महाराज ययाति आश्रम के सुख और देवयानी के संसर्ग में ऐसे भूले, कि उन्हें स्वदेश को लौटने की इच्छा ही नहीं हुई।

इधर देवयानी की यह दशा थी, कि जब अवकाश पाती, आप ही आप बैठी हुई उच्छ्वास भरा करती, मन ही मन गुनगुनाया करती, और रात को घण्टों जागकर विचार किया

करती। हृदय में मार्त्तण्ड-अग्नि की प्रज्वलित ज्वाला के समान प्रणय की गुप्त अग्नि सुलगा करती, अकेले में बैठकर निरन्तर अश्रु प्रवाह किया करती।

देवयानी का यह भाव शर्मिष्ठा से छिपा न रहा। वह देवयानी और महाराज ययाति के पारस्परिक प्रणय-भाव को ताड़ गई, और इस बात का अवसर खोजने लगी कि, देवयानी से इस रहस्य के सम्बन्ध में बातचीत करे। सुयोग पाकर उसने देवयानी से जो कहा, उससे पहले तो देवयानी ने उसे झिड़क कर छिपाना चाहा, परन्तु निदान शर्मिष्ठा के अधिक अनुरोध करने पर उससे रहा न गया। जब शर्मिष्ठा ने उससे कहा कि "बताओ गुरु-कन्ये! गुरु-देव से कहूँ? क्या इच्छा है?" तो देवयानी ने सिर झुका लिया, चुप रही, कोई उत्तर नहीं दिया। परन्तु थोड़ी देर में ज्योंही उसने सिर उठाया, तो शर्मिष्ठा ने देखा कि, उसका मुख भारी और नेत्र अश्रुपूर्ण थे।

शर्मिष्ठा ने कहा—"यह क्या? देवयानी! तुम रो रही हो? यह क्या तुम्हें शोभा देता है गुरु-कन्ये! यह दुर्बलता एक रमणी-हृदय से? छिः! तुम्हारा हृदय इतना दुर्बल है? पुरुषों की भाँति कादरता प्रकट करके, जलजल कर अपना सर्वनाश करोगी?"

देवयानी ने कहा—"शर्मिष्ठे! तुमसे कैसे कहूँ? न जाने इस हृदय में कितनी आग, कितनी व्यथा, कितनी जलन, और कितना उद्दाम परिपीड़न छिपा हुआ है!!! सखि! मैं तो स्वयं अब अपनी कोई वस्तु ही नहीं रह गई हूँ, सर्वनाश में अब शेष ही क्या है? या तो यह शरीर उन चरणों की सेवा में लगेगा, या अपने को समाप्त ही कर देगा। तभी अब मुझे शान्ति

मिलेगी। अब तो केवल वे ही मेरे जीवन के आधार, मेरे संसार के सुन्दर साधन हैं।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"और इसीलिये तो मैं कहती हूँ कि, गुरुदेव से इस रहस्य को प्रकट करने दो। अपने जीवन के ज्वालामुखी को नित्यप्रति अपने हृदय में ही छिपाए रह कर क्यों व्यर्थ उसकी ज्वाला से दग्ध होती हो देवयानी? तुम तो पुरुषों की भाँति अपने को दुर्बल प्रकट कर रही हो। छिः! बहिन! यह तुम्हें नहीं सोहता। तुम क्या पुरुष हो, जो इस प्रकार रोदन कर दुर्बलता प्रकट करो? सृष्टि के आरम्भ से ही रमणी ने अपने दुख को अपने प्रपीड़ित हृदय में छिपा रखा है; वह दीपक के समान धीरे-धीरे जला करती है, परन्तु मुख से कुछ नहीं कहती। किन्तु तुम जो प्रकट कर रही हो, वह रमणी-हृदय के योग्य बात नहीं है गुरु कन्ये! यह तो कायरता है देवयानी! कायरता है, उच्छृङ्खलता है, नारी-हृदय के अयोग्य है बहिन! प्रणय का सच्चा और पवित्र मार्ग तो तुम्हारे इस दुर्बल हृदय से भिन्न, बहुत अधिक भिन्न है सखि!"

देवयानी ने कहा—"शर्मिष्ठे! तुम इस रहस्य को, इसके मर्म को समझी नहीं हो, इसीसे ऐसा कहती हो राजकुमारी! तुम नहीं जानती, यह क्या है? यह है कच का वही अभिसम्पात शर्मिष्ठे! जो आज इस तरह फल कर मुझे दुख दे रहा है। हा! इतने दिनों अतिथि-सेवा करने और भ्रातृ-स्नेह खो देने से निदान मुझे निन्दावाद और अभिसम्पात ही मिला!! मैं मरी जा रही हूँ बहिन!!!

शर्मिष्ठा ने कहा—"यह शाप नहीं, महा वर है गुरुकन्ये! इसमें इतना दुखी होने की कौन बात है? यह मृत्यु नहीं, नवजीवन है। क्यों व्यर्थ अदृष्ट को दोष देती हो देवयानी?

ऋषि-कन्या राजराजेश्वरी होगी ; आश्रम के स्थान में राज-प्रासाद के आनन्द-कोलाहलमय अधिवास में रहेगी—इससे अधिक सुख-सौभाग्य की और क्या बात हो सकती है ?"

देवयानी ने उत्तर दिया—" स्वप्न मत देखो शर्मिष्ठे ! ब्राह्मण-पुत्री क्षत्रिय की पत्नी होगी ? पिता सुनेंगे, तो न जाने क्या काण्ड करेंगे ? लज्जा से मर मिटूँगी, मुँह भी न दिखा सकूँगी । शर्मिष्ठे ! इस विषय में पिता जी से कुछ मत कहना । उसकी अपेक्षा तो इसी प्रकार दग्ध होतेहोते मरना ठीक है ।"

शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया—"गुरु-कन्ये ! व्यर्थ आशंका करके इस दारुण-व्यथा को रोक कर दुख पाते रहने की चेष्टा न करो । रोक न सकोगी, किसी समय प्रबल होकर धक से जल उठेगी यह ज्वाला । तब क्या होगा ? लाख चेष्टा करने पर भी तब तुम उसे बुझा न सकोगी, ज्वाला और भी बढ़ जायगी, लपट उठने लगेंगी, हृदय विस्फोट हो जायगा ; तब और भी लज्जा, और भी त्रपा मिलेगी । बात फिर बनाए भी न बनेगी । अन्त को तुम लज्जा, ग्लानि, घृणा, संकोच वहन करके उस वह्नि में स्वतः ही जल उठोगी, और संसार में अपयश के सिवा फिर तुम्हारे लिये कुछ और न रह जायगा । इसलिये मेरा कहा मानो, निःसंकोच हो गुरुदेव के सम्मुख सब व्यक्त कर दो ; तुम्हारी कामना पूर्ण होगी ।"

सुनकर देवयानी चुप हो रही, कोई उत्तर नहीं दिया, वरन् स्नेह-कातर-दृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखकर दृष्टि नीची करली । शर्मिष्ठा ने भी फिर कुछ और नहीं कहा । "मौनं-सम्मति-लक्षणम्" समझ कर वह वहाँ से उठकर चली गई ।

प्रणय-सम्वाद

कुछ दिन और योंही बीते, इसके उपरान्त फिर हठात् एक दिन जब शर्मिष्ठा ने देवयानी के पास जाकर यह सम्वाद सुनाया कि, महर्षि शुक्र का क्षत्रियराज ययाति के साथ देवयानी को वरण करने में कोई आपत्ति नहीं है, वे तो देवयानी के उपयुक्त वर ही हैं, तो देवयानी के हर्ष की सीमा न रही। यह सम्वाद सुनकर उसे अपार आनन्द हुआ। हर्षातिरेक से विभोर हो उसने शर्मिष्ठा को झट बाहुपाश में आबद्ध कर लिया ; और तुरन्त ही अपने गले का हार, जिसे उसने राज-प्रासाद से ही पाया था, उतार कर शर्मिष्ठा की ओर करके उसने कहा—" लो, इस सुसम्वाद के बदले में तुम्हें उपहार-स्वरूप अपने कण्ठ की यह माला पुरस्कार में देती हूँ। "

शर्मिष्ठा ने धन्यवाद देते हुए कहा—" इसे सम्भाल कर रखो बहिन ! और यथादिवस इसे -यथाजन को पहनाकर मन की साध पूरो करना। "

कह कर, और हार देवयानी के हाथ से लेकर उसने उसे देवयानी के गले में ही डाल दिया।

एक विपद तो गई ; दूसरी चिन्ता अब यह रही कि, जिनके लिये यह सब कुछ है, उनकी इस विषय में क्या सम्मति है ? देवयानो के प्रति राजा ययाति के प्रणय-भाव का पता कैसे लगे ? इस भार को उठाना भी शर्मिष्ठा ने स्वीकार किया। कहा— " कहो तो महाराज ययाति से भो मैं इस विषय में वार्त्तालाप कर देखूँ ? अनुमति दो, तो तुम्हारा प्रणय-सम्वाद उनके पास पहुँचाकर उनके हृदय के भाव लाकर तुम्हें कह सुनाऊँ ? आशा तो है कि, विमुख न होगी। "

देवयानी ने कहा—" छिः ! नारी होकर प्रेम-भित्ता करने को कहती हो ? तुम्हें लज्जा नहीं लगती शर्मिष्ठे ! "

शर्मिष्ठा ने हँस कर उत्तर दिया—" यह बात तुम्हारे लिये तो कोई नई नहीं है देवयानी ! महाराज नहुष-कुमार के प्रेम में मुग्ध होकर क्या अभागे कच को एकबार ही भूल गई ? क्यों, स्मरण है कुछ ? "

देवयानी ने तनिक रुक्ष स्वर में उत्तर दिया—" जलाओ मत शर्मिष्ठे ! उससे मैंने उसके रूप पर मुग्ध होकर प्रेम-सम्भाषण नहीं किया था। जिससे मेरे प्रेम में मुग्ध होकर कच यहीं बना रहे, और मृत-संजीवनी-विद्या जिससे सुरपुर न पहुँच सके, इसी लिये—केवल मृत-संजीवनी-विद्या की रक्षा के लिये ही, मैंने उससे प्रेम-याचना की थी। परन्तु अब राजा के रूपगुण पर मुग्ध होकर, भोग-लिप्सा की इच्छा करके, मैं नारी होकर महाराज के पास प्रणय-सम्वाद नहीं भेज सकती। "

शर्मिष्ठा ने कहा—" तब क्या करोगी देवयानी ? फिर वही गुप्तरोदन और हाहाकार ? देवयानी ! पागल न बनो, जानबूझ कर फिर विपद न बुलाओ। महाराज को मुझे प्रणय-सम्वाद पहुँचाने की अनुमति दो। परिणाम अनुकूल ही होगा। "

देवयानी ने तनिक देर सोचा। सोचकर उत्तर दिया—" अच्छी बात है राजकुमारी ! जाओ, परन्तु सावधान ! ऐसा न हो, पीछे विडम्बना और परिताप उठाना पड़े, जगत के उपहास की पात्री बनना पड़े। जिस प्रकार भी हो, कार्योद्धार करना। मेरे इस प्रणय-रहस्य को जानने वाली इस दुर्योग के समय मेरे सुख-दुख की साथिन तुम्हीं हो शर्मिष्ठे ! यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है बहिन ! इतना स्मरण रखना। मुझे तुम पर पूर्ण विश्वास है : आशा है, कि तुम सहोदरा

की भाँति मेरे प्रणय की रक्षा करोगी। हो सके, तो राजा को मेरे पास ले भी आना।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"और गुरुकन्या को इस विश्वास के लिये पछताना नहीं पड़ेगा। मैं इस विषय में पूर्ण सावधानी के साथ कार्य करूगी। हृदय का बलिदान करके भी मैं तुम्हारा कार्य करूँगी।"

शर्मिष्ठा कहते तो कह गई, परन्तु मन ही मन वह सिहर उठी। महाराज ययाति ने उसका मन भी तो मुग्ध किया है। प्रथम-दर्शन में ही वह राजा के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर अपना मन-प्राण-शरीर सब उन्हें सौंप चुकी थी, देवयानी से कुछ कम नहीं। मन ही मन उसने महाराज ययाति का पति वरण कर लिया था। अब वह पति दूसरों का होगा, और उसके द्वारा ही वह प्रणय-सम्वाद स्थापित होगा। शर्मिष्ठा तब कहाँ जायगी, क्या करेगी—विचार करते ही वह काँप उठी। तथापि वचन दिया है, तो उसका पालन करना उसका धर्म है, निदान जैसा होगा, देखा जायगा। शर्मिष्ठा ने देवयानी का प्रणय-सम्वाद महाराज को पहुँचा कर उनका उत्तर लाकर देवयानी को देने का निश्चय कर लिया। इसी लिये तो दृढ़-गम्भीर-स्वर में उसने देवयानी से कह दिया—"हृदय का बलिदान करके भी वह उसका कार्य करेगी।" अस्तु।

शर्मिष्ठा उठकर चली गई। उसके हृदय में नाना-प्रकार के भावों का समानरूप से उदय-अस्त होने लगा। आशा और निराशा आकर उसके हृदय में द्वन्द्व मचाने लगी। निदान उसने सोचा—'करूँगी, मैं देवयानी का कार्य करूँगी। हृदय निष्पेषित हुआ जाता है, प्राण व्याकुल हो अकुला रहे हैं, और मर्म-व्यथा से चित्त अकुला रहा है, तथापि मैं देवयानी का कार्य करूँगी। हठात् क्यों कुछ विजय-गर्व पीछे से मुझे इसके लिये ढकेले लिये

जाता है, सम्भव है, इसी के द्वारा मेरी आशा भी कभी पूर्ण हो, मैं महाराज को अपना बना सकूँ। उस दिन उस नगर-उपकण्ठ पर, उस अन्धकूप पर देवयानी के साथ बातें करते हुए अवलोकन करके उस सुन्दर सुहाने समय में प्रथम दर्शन के साथ ही उन्हें अपना हृदय देकर मैंने मनही मन उन्हें पतिरूप में वरण कर लिया है, और आज फिर मैं ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ कि, वे मेरे पति हैं, देव हैं, स्वामी हैं, वे मुझे चाहें या न चाहें, परन्तु मैं उन्हें चाहती हूँ, और प्रतिज्ञा करती हूँ, कि एक दिन अवश्य उन्हें अपनाऊँगी, परन्तु विश्वासघात नहीं करूँगी, देवयानी का कार्य भी करूँगी और अपना भी उन्हें बनाऊँगी। देवयानी के और मेरे वे दोनों के होंगे। मेरे हृदय की ग्रन्थियों को तोड़कर वे मुझसे भी अलग रह नहीं सकते।"

विचार करते करते शर्मिष्ठा सीधी वहाँ चली, जहाँ आश्रम के आतिथ्य-निवास में एक शाला में महाराज ययाति निवास करते थे। देखा, सामने ही चिबुक पर कर रखे अन्यमनस्क हो महाराज ययाति बैठे कुछ चिन्ता कर रहे हैं।

महाराज ययाति को शुक्र-आश्रम में रहते दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और मास पर मास व्यतीत हो गए, परन्तु उनकी अभिलाषा पूर्ण होने का अवसर नहीं आया। देवयानी की प्राप्ति की आशा से ही वह आश्रम में ठहरे हुए थे, और वही देवयानी अभी तक उनकी नहीं हुई, महाराज ययाति को अब वहाँ रहना असह्य हो उठा। उनका मन देवयानी के प्रेम में सन्तप्त हो रात्रि-दिवस अकुलाया करता, प्राण व्याकुल हुआ करते, हृदय भीतर ही भीतर एक प्रकार की अग्नि से दग्ध हुआ करता! देवयानी के रूप-यौवन की मन ही मन सराहना करके उनका चित्त दुखी हुआ करता और अन्तःस्थल देवयानी को प्राप्त करके

आलिंगन करने के लिये उद्विग्न हो उठता। सच है, नव-यौवनोन्मेष रूप का प्रलोभन ऐसा ही प्रबल और आकर्षक हुआ करता है। अग्नि-शिखा-रूपिणी, नव-यौवना देवयानी ने उनके मानसपट पर सौन्दर्य की जो दीप्ति निक्षिप्त करदी थी, उसके उत्ताप से महाराज ययाति आज भी शाला-द्वार पर बैठे हुए क्लेश पा रहे थे, और मन ही मन देवयानी का चिन्तन कर, उसकी प्राप्ति का उपाय सोच रहे थे। हठात् उन्होंने देखा, कि देवयानी की परिचारिका और सखी अपरूप-रूपिणी शर्मिष्ठा एक पुष्पमाला हाथ में लिये उनके आवास की ओर आ रही है। देखते ही हृदय उनका स्पन्दन कर उठा, हृदय-स्तल में सुखकी निगूढ जाग्रति हो उठी। मन-मयूर उनका नृत्य कर उठा। राजा एकटक दृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखते हुए उसके समीप आने की प्रतीक्षा करने लगे। अब एक पल भी उनके लिये कल्प के समान जान पड़ता। शर्मिष्ठा के समाचार जानने के लिये राजा अधीर और आतुर हो उठे।

शर्मिष्ठा समीप पहुँची। राजा ने पूछा—"सुन्दरी ! तुम क्या चाहती हो? यह पुष्पहार तुम्हारे हाथ में कैसा है? यदि मुझसे तुम्हारा कोई प्रयोजन हो, तो निःसंकोच होकर कहो।"

शर्मिष्ठा लज्जा से मानो मर सी गई। उसके गौर मुख पर लज्जा की रक्तिम आभा दौड़ गई, जिसके कारण उसका सुन्दर मुखमण्डल अरुण होकर और भी सुन्दर हो उठा। सहसा वह बोल न सकी। निदान, हृदय को कड़ा करके आँचल सरका कर उसने कहा—"महाराज ढिठाई क्षमा करेंगे, मैं युवती-कुमारिका होकर भी आपसे एकान्त में बात करने आई हूँ, इसके लिये प्रभु मुझे निर्लज्ज न समझें। मैं अपनी स्वामिनी और सखी ऋषि-पुत्री देवयानी की सम्वाद-वाहिका होकर आपके पास आई हूँ. उसका कुछ सन्देश आपके लिये लाई हूँ।"

राजा के हृदय में आशा का संचार हुआ, हृदय वेग से धड़कने लगा। आशा और निराशा ने उनके हृदय में द्वन्द्व मचा दिया। उत्फुल्ल हृदय से आतुरता भरे स्वर में बड़ी उत्सुकता से उन्होंने शर्मिष्ठा से पूछा—"तुम्हारी सखी ऋषिकुमारी देवयानी की मेरे लिये क्या आज्ञा है भद्रे! शीघ्र कहो, सुन्दरी देवयानी ने मेरे लिये तुम्हारे द्वारा क्या समाचार भेजा है? सुनने के लिये मेरा हृदय आतुर हो रहा है।"

शर्मिष्ठा ने कहा—"महाराज! कमल का तो यही काम है कि सरोवर के जल को भेद कर बाहर निकल आवे। उसमें मधुर मकरन्द लाकर उसे विकसित करना, और उसमें लक्ष्मी का निवास कराना—यह तो सूर्य का काम है।"

राजा ने कहा—"सो मैं जानता हूँ राजकुमारी! परन्तु इससे तुम्हारा तात्पर्य?"

शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया—"महाराज! जिस दिन से आपने सखी देवयानी का हृदय हरण किया है, वह उसी दिन से आपके विरह में व्याकुल है। न चित्त में हर्ष है, न मुख पर हँसी। आपकी रूप-माधुरी पर मुग्ध हो वह बावलीसी हो गई है. एक प्रकार का उन्माद सा उसके हृदय पर छा गया है। न दिन में कार्य में चित्त लगता है, न रात को नींद आती है: बैठीबैठी आपकी याद में आँसू बहाया करती है, अपना सब कुछ आपके चरणों पर निछावर कर दिया है, और आपको पतिरूप में प्राप्त करने के लिये व्याकुल हो उठी है। आपसे प्रार्थना है कि, आप उसे अपनाकर उसकी मनोव्यथा को दूर कर उसे सुखी बनावें। सखी के सन्देश-स्वरूप यह माला मैं उसकी ओर से आपके पास लाई हूँ, लीजिये आप इसे ग्रहण कर उसकी वाँछा पूर्ण कीजिये।"

इतना कहकर शर्मिष्ठा ने वह सुमनहार विकम्पित करों से

महाराज ययाति के गले में डाल दिया, और मन ही मन उन्हें प्रणाम किया। भविष्यत् सुख की आशा उसके हृदय में नृत्य कर उठी। हृदय एक प्रच्छन्न प्रेरणा से उद्वेलित होकर हर्ष से गद्गद् हो उठा।

हार पहन कर महाराज ययाति ने कहा—"भद्रे! इस मधुर बन्धन में मैंने आत्म-समर्पण किया; तुम्हारी सखी का यह प्रेमोपहार, सादर, सहर्ष, सप्रेम स्वीकार करता हूँ। परन्तु इस बन्धन के दृढ़ होने में एक आशंका और अड़चन अब भी है, उसके होते हुए यह बन्धन स्थायी क्योंकर हो सकता है?"

शर्मिष्ठा समझ गई, बोली—"महाराज! आप इसकी चिन्ता न करें। गुरुदेव ने अनुमति दे दी है। असवर्णता की अड़चन इसमें बाधा नहीं डाल सकती। जाति-भेद दो हृदयों के प्रणयपूर्ण मिलन से अधिक शक्तिशाली नहीं है। भगवान शुक्र देवयानी को आपके करों में अर्पण करने के लिये तयार हैं। उनकी अनुमति प्राप्त होने पर ही मैं सखी का सन्देश लेकर आपके पास आई हूँ।

महाराज ययाति के हर्ष की सीमा न रही, हर्ष से उनका हृदय गद्गद् हो उठा। उन्होंने कहा—"क्या इस विषय में मैं तुम्हारी सखी से भी दो बातें कर सकता हूँ? मुझसे वार्तालाप करने में उन्हें कोई संकोच तो नहीं होगा?"

शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया—नहीं। वह आपकी प्रतीक्षा में बैठी हुई आपकी बाट जोह रही होगी। आप मेरे साथ चलकर उससे भेंट कर सकते हैं।"

सुनकर राजा को और भी आनन्द हुआ, हर्षातिरेक के कारण उन्हें रोमाँच हो आया। वे चुपचाप शर्मिष्ठा के पीछे पीछे चल दिये।

(५)

मिलन

आश्रम के एक निलीन खण्ड में बैठी हुई देवयानी शर्मिष्ठा और राजा के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। शर्मिष्ठा महाराज ययाति को साथ लेकर वहीं पहुँची। देखते ही देवयानी उठ कर खड़ी होगई। उसका हृदय आनन्दावेग और संकोच से परिपूर्ण हो गया। शर्मिष्ठा राजा को देवयानी के पास छोड़ वहाँ से चली गई।

कुछ देर तक राजा और देवयानी दोनों चुपचाप खड़े रहे। देवयानी देख रही थी भूमि की ओर, और राजा टकटकी लगाए हुए थे देवयानी के रूपलावण्यपूर्ण मुख की ओर। ज्योंही देवयानी ने दृष्टि भूमि की ओर से उठाकर तिरछी चितवन से राजा की ओर देखा, महाराज ययाति का हृदय वश में न रहा, उन्होंने आवेश में आकर झट देवयानी का हाथ पकड़ लिया; और निस्तब्धता को भंग करते हुए उन्होंने देवयानी से कहा "तुम बोलती क्यों नहीं हो देवयानी! चुप क्यों हो? तुमने हमें बुलाया था? देखो हम आए हैं, और तुम बोलती भी नहीं हो, चुप खड़ी हो! यही क्या तुम्हारा प्रेम है देवयानी? क्यों प्रस्तर-प्रतिमा की नाईं स्थिर और मौन खड़ी हो? आओ तुम्हें हृदय से लगा लूँ। इतना सौन्दर्य्य, इतना रूप-लावण्य लेकर तुम उत्पन्न हुई हो देवयानी! मैंने इस सौन्दर्य्य की कभी कल्पना भी नहीं की थी। इसने— तुम्हारे इस रूप-यौवन ने मेरा हृदय हरण कर लिया है।

तुम प्रेयसी-रूप से मेरे हृदय में प्रवेश कर बैठी हो। तुम्हारी इस दृष्टि ने, इस दिव्य शोभा ने मेरे मन को विजय कर लिया है प्रिये ! तुम मेरे, अपने चरणों के दास, इस ययाति के अन्तः-पुर और हृदय को आलोकित करना स्वीकार करोगी ? तुम मेरी बनकर मुझे अपना बनाने के लिये तयार हो देवयानी ! तुम्हारे बिना मेरा जीवन असार है, व्यर्थ है। यदि तुमने मुझे अपना बनाकर स्वीकार नहीं किया, तो मेरे लिये यह जगत अन्धकारमय हो जायगा। तुम कोमलता और सुन्दरता की प्राणमयी प्रतिमा हो, तुम्हें क्या अपने एकान्त उपासक के प्रति इतना कठोर और निर्मम होना चाहिये देवयानी ! तुम हमसे बोलती क्यों नहीं हो ? बताओ तुम मेरी प्रिया बनने के लिये तयार हो ? स्मरण रखना प्राणेश्वरी ! तुम्हारे 'हाँ' करने पर ही अब मेरा जीवन अवलम्बित है। यदि तुमने मेरी होना स्वीकार न किया, तो मैं प्राण दे दूँगा, परन्तु राजधानी को अब तुम्हारे बिना लौटकर नहीं जाऊँगा। तुम्हारे बिना अब मेरे राज्य और प्राणों का मूल्य ही क्या ? देवि ! तुम मेरी प्रणय-भिक्षा स्वीकार कर मेरे हृदय को प्रफुल्लित और मेरे साम्राज्य को आलोकित और उज्वल करो। बोलो, क्या कहती हो देवयानी !"

आवेश में आकर महाराज ययाति न जाने क्या कहते चले गये, सो उन्हें भी ज्ञात नहीं रहा; देवयानी नीचे को दृष्टि किये खड़ी खड़ी चुपचाप सुनती रही। जब राजा चुप हुए, तो उसने ऊपर को दृष्टि उठाई; राजा की ओर देखा, और कहा— "महाराज ! इतने अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। मैं आपही की हूँ, आपके महिमामय चरणों पर, आपकी सुन्दरता से मोहित होकर अपना हृदय गुंथे हुए पारिजात पुष्प की

नाईं पहले ही अर्पण कर चुकी हूँ। आप की स्मृति ने ही मेरी दशा को ऐसी बना दिया है। आपके चरणों पर मेरा मन-प्राण-शरीर, सारा जीवन निर्माल्य की भाँति अर्पित है: आपका अद्वितीय सौन्दर्य्य मेरी आँखों के सामने से क्षण भर के लिये भी विलग नहीं होता। तुम्हारी स्मृति में मैं बावली हो गई हूँ, उन्मत्त और पागल हो उठी हूँ। मेरा हृदय तुम्हारे प्रेम, अनुराग और मिलन की आशा पर विह्वल होकर हर्षातिरेक से नाच उठता था। तुमने मेरी ठीक वैसी ही दशा बनादी है, जैसी बाजीगर पुतली की बना देता है। प्राणेश्वर! तुम्हारे बिना मेरे जीवन का अर्थ ही क्या? तुम्हारी याद में मैंने क्या नहीं सहा, क्या नहीं किया? मेरा हृदय-मधुप तुम्हारे रस-विलसित-सरोरुह के मधुर सौन्दर्य्य पर ऐसा मोहित हो गया है, कि उसे उसके रस चूसने के हर्षमद से भगवान अंशुमाली के अस्त होने का समय ही बिसर जाता है, मैं तुम्हारी याद में अपने होश तक को भूल जाती हूँ। तुम्हारे मिलन की आशा ने मेरे हृदय की दशा ही कुछ अलौकिक कर रखी थी। तुम्हारे मधुर प्रेम, मधुर मुख, मधुर सौन्दर्य्य, मधुर रूप, मधुर बातें, मधुर स्मृति और मधुर प्रेमाभिलाषा ने मुझे रात-दिन रुलाया है, ख़ूब रुलाया है, मैं जगत को तुम्हीं 'मय' देखती थी, सचमुच तुम्हारे प्रेम और स्मृति में मैं उन्मादिनी हो गई थी। मेरे सर्वस्व! मैं साश्रुलोचनों, खोए हुए मन, अस्वायत्त हृदय, अटकी हुई भावनाओं और आशाओं को लेकर तुम्हारे प्रेम में उन्मत्त हुई सी, तुम्हारी याद करती करती आश्रम के सब काम किया करती थी। और तुम मेरे प्रेम-पारावार के अन्तस्तल में बैठ कर मेरे हृदय की तंत्री को गुप्त-रूप से बजाया करते थे। मेरा हृदय स्पन्दन कर उठता था,

तुम्हारी याद करके। प्रियतम ! आज तुम मेरे सामने आए हो, तुमने मुझे अपनी कहकर पुकारा है, मैं निहाल हो गई हूँ। पूर्वकाल मेरे सामने उपस्थित है, और वर्त्तमान भी; जब दोनों का मिलान करती हूँ, तब बड़ा अन्तर पाती हूँ। रोती तब भी थी, और रो अब भी रही हूँ, परन्तु वह दुख का रोना था, यह सुख का रोना है। अब समझी हूँ कि, सचमुच प्रेमोन्माद और प्रेम-पीड़ा का रोना भी कितना मधुर, कितना सुखकर, कितना आनन्ददायक है। आज तुम्हें सामने देखकर जो हर्षानन्द मुझे हो रहा है, तुमसे कैसे कहूँ ? मेरा प्रेम सफल हुआ है, आनन्द में आनन्द मिल गया है, हर्ष में हर्ष समा गया है। मेरे हर्ष के मन्दिर में छिपी हुई आनन्द की मधुर रेखा तुम्हें देखदेख कर हँस रही है। मैं तुम्हारी हूँ नाथ ! परन्तु मेरी एक बात सुनिये।"

"तुम्हें अब और क्या कहना है देवयानी !" राजा ने ठिठक कर कहा। "इस आशा में निराशा उत्पन्न न कर देना प्रिये ! मना करके मेरे हृदय को चूरचूर न कर देना प्राणेश्वरि ! मैं तुम्हारे बिना जीवित न रह सकूँगा। तुम मेरे हृदय में समा गई हो, अब मुझे त्यागने की बात मुँह से न निकालना। क्या तुम्हें विश्वास नहीं होता प्यारी देवयानी ! कि, मैं तुम्हें कितना प्रेम करता हूँ ? मेरी आशा-भरोसा-जीवन, जीवन-सर्वस्व सब तुम्हीं हो। मेरा यह जीवन अब तुम्हारी दया पर ही अवलम्बित है। मैं तुम्हें अब छोड़ नहीं सकता प्रिये ! जीवन-पर्यन्त तुम्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर भक्त-पुजारी की भाँति तुम्हारे चरणों की पूजा किया करूँगा। मैं तुमसे तुम्हारे, प्रेम का भिखारी बन अपने सर्वस्व को तुम्हें अर्पण कर तुम्हारे रूप-यौवन, और सौन्दर्य के द्वार पर खड़े होकर प्रेम की भिक्षा माँग रहा हूँ :

निषेध कर देकर मुझे विमुख न कर देना प्रिये! निराश न बना देना। प्रेमदान देकर अपनी उदारता, कोमलता, और दया का परिचय देना; अपने सौन्दर्य-सरोवर के स्निग्ध-शीतल-जल से मेरे सन्तप्त हृदय को शीतल करना। बोलो देवयानी! क्या कहती हो?"

देवयानी ने कहा—"चितचोर! तुम गुप्त रीति से पहले ही मेरे हृदय में प्रवेश कर मेरे सर्वस्व को चुरा चुके हो, बिना दाम मुझे मोल ले चुके हो। परन्तु मुझे कहना इतना ही है कि, कुमारी कन्या पर उसके माता-पिता, अभिभावकों का अधिकार होता है। अपने आप मैं आपकी हो चुकी हूँ, तथापि लोकाचार की मर्यादा-रक्षा के लिये आप मुझे मेरे पिता से माँग लीजिये। उनके दान करते ही मैं आपकी होकर आपके साथ चलूँगी।"

राजा काँप उठे, तथापि हृदय को रोक कर उन्होंने कहा—"यही आशंका तो मुझे अधीर और निराश किये हुए है देवयानी! तुम्हारे पिता ब्राह्मण-ऋषि होकर क्योंकर अपनी कन्या को क्षत्रिय-नरेश को अर्पण करेंगे? तो क्या मुझे निराश ही होना पड़ेगा प्रिये! शीतल-सरोवर के तट तक पहुँच कर प्यासा ही लौटना पड़ेगा? तुम्हारे बिना इस जीवन का अन्त करना पड़ेगा?"

देवयानी ने कहा—"इसकी चिन्ता न करें महाराज! मैंने सब ठीक कर लिया है; पिता की अनुमति प्राप्त करके ही मैंने शर्मिष्ठा को आपके पास भेजा था। आप कोई भय न करें। पिताजी मना नहीं करेंगे, वे मेरे आपके मिलन से सन्तुष्ट हैं, आप केवल मुझे एकबार उनसे माँग भर लीजिये।"

इसी समय महर्षि शुक्राचार्य, जिन्होंने शर्मिष्ठा के द्वारा सब समाचार सुन लिया था, वहाँ आए, और आकर राजा ययाति से बोले—" तुम कोई भय न करो राजन्! मेरी पुत्री ने जब तुम्हें मन से वरण कर लिया है, तब मुझे उसको तुम्हें अर्पण करने में कोई आपत्ति नहीं है। तुम देवयानी के उपयुक्त पात्र ही हो। नरलोक में तुम उज्वल रत्न हो; चक्रवर्ती क्षत्रिय नरेश हो, अतः यह देवयानी का सौभाग्य होगा कि, वह आपकी भार्या होकर आपके अन्तःपुर में निवास करे। मेरी कन्या के भाग्य में विप्रवर नहीं है, और उसने स्वतः ही मन से तुम्हें वरण किया है। अतः धर्म और शास्त्र की मर्यादा-रक्षा के हेतु मैं सहर्ष अपनी कन्या तुम्हें दान करता हूँ। कल मैं अग्नि को साक्षी देकर विधि-विहित तुम्हारे साथ देवयानी का विवाह कर दूँगा, तुम उसका पाणि-ग्रहण कर हास्य और स्नेह के उत्साह से राजपुरी को आनन्दित करते हुए चिर सुखी होना। "

आनन्द-गद्गद्-कण्ठ से राजा ने शुक्राचार्य से कहा—" परम सौभाग्य! यह दान और आशीर्वाद आपका मैंने देव-निर्माल्यवत् मस्तक पर धारण किया। आज मैं धन्य हुआ। देवी देवयानी को प्राप्त करने से मेरी मर्यादा अत्यधिक होगई। परन्तु प्रार्थना यह है, कि वर देकर मुझे अधर्म से छुड़ा दें। आशीर्वाद दें, कि इस विवाह के करने से मुझे वर्णसंकरता का अधर्म न हो, मुझे उस दोष का दोषी न बनना पड़े।

महर्षि शुक्र ने कहा—" इसके लिये तुम चिन्ता न करो राजन्! अधर्म तुम्हें छू तक न सकेगा। क्षत्रिय-नरेश होकर विप्रकन्या के साथ विवाह करने से तुम्हें कोई पातक न लगेगा। तुम्हारा कल्याण और मंगल होगा। मेरे आशीर्वाद से तुम्हें

वर्णसंकरता का पाप स्पर्श भी नहीं करेगा। तुम धर्मपूर्वक देवयानी के साथ विवाह करके गृहस्थ का सुख भोग करो। परन्तु तुम भी सदा मर्यादा की रक्षा करना। देवयानी की कभी अमर्यादा न करना। उसका जी दुखाने पर फिर तुम्हें भी सुख प्राप्त न होगा। देवयानी के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री को अपनी अंकशायिनी भी न बनाना, बनाओगे तो तुम्हें दुख प्राप्त होगा। दैत्यकुमारी शर्मिष्ठा देवयानी के साथ ही जायगी, उसका भी कभी अनादर या अपमान न करना। राजपुत्री समझ कर उसे सदा मान और आदर की दृष्टि से देखना; परन्तु उसमें काम-भावना का समावेश न हो। भार्या या स्त्री जैसा व्यवहार उसके साथ कभी भूल कर भी न करना। मैं आशीर्वाद देता हूँ, ईश्वर तुम्हारा मंगल करेंगे।"

राजा ने महर्षि के चरणों में साष्टांग प्रणिपात किया। आशीर्वाद-सहित महर्षि शुक्र ने तनया देवयानी का कर राजा के कर में दे दिया। प्रथम-स्पर्श से वे दोनों आनन्द-मग्न होगए।

एक दिन शुभ मुहूर्त्त में अग्नि और देवताओं को साक्षी करके ययाति ने विधि-विहित देवयानी का पाणिग्रहण किया। देवयानी और ययाति का विवाह यथारीति सम्पन्न हुआ। शास्त्रानुसार महर्षि शुक्र ने कन्या देवयानी को महाराज ययाति के करों में समर्पण कर कन्यादाय से मुक्ति पाई। देवयानी और ययाति का मिलन हुआ, दोनों की चिरवांछित अभिलाषा पूर्ण हुई। आशा और विश्वास का संयोग हुआ। आनन्द आनन्द में मिल गया।

पतिगृह को प्रयाण करते समय देवयानी ने शर्मिष्ठा को स्वतंत्रता देकर दासीत्व से मुक्त करना चाहा ; परन्तु न जाने किस आशा से उसने उसे स्वीकार नहीं किया। वह देवयानी के साथ ही उसके पतिगृह को गई।

तृतीय खण्ड

विवाद

और

सफलता

गृह-सुख—विहार

राज-महिषी देवयानी को लेकर महाराज ययाति ने निजपुर में प्रवेश किया। राजधानी आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो उठी। इन्द्रपुरी के सदृश श्रीसम्पन्न मनोहर राज्यनगर हर्ष-सुख से परिपूर्ण हो गया। राजा ने देवयानी को लेजाकर राज-प्रासाद के अन्तःपुर में रखा, और शर्मिष्ठा को अशोक-वन के समीप एक प्रमोदोद्यान में एक सुन्दर रमणीय-भवन बनाकर उसमें उसके खान-पान, भोजन-बसन आदि के सहित आनन्द पूर्वक रहने की सुविधा-जनक-पूर्ण उचित व्यवस्था कर दी।

यौवन के प्रथम-मिलन का आनन्द कितना मधुर होता है, उसे भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। देवयानी को पाकर राजा ययाति सब भूलकर उसके सौन्दर्य-सलिल में शिखा-पर्यन्त डूब गए; राज-कार्य और प्रजा की सुधबुध तक बिसार दी। राज-सभा में जाते भी, तो तुरन्त अन्तःपुर में लौट आते। मृगया का आनन्द भी अब अरण्य-कानन के स्थान में गृह-कानन में अनुभव होने लगा। धनुषबाण हाथ में लेकर अरण्यवासी पशुओं को हनन करने के स्थान में अब स्वतः ही नव-यौवना सुन्दरी भार्य्या के गले में बाहुवेष्टन करके उसके विभ्रम और प्रेम-कटाक्ष-द्वारा विद्ध होने लगे। राजा देवयानी के प्रेम में ऐसे मुग्ध हुए कि, उन्हें किसी और बात का कोई ज्ञान, कोई चिन्ता, कोई सुध न रही, रात्रि-दिवस देवयानी को लिये विषय-भोग में लिप्त रहने लगे। वे इतने मदान्ध हो गये कि, भार्या देवयानी के साथ विषय-लिप्सा में लिप्त रहने को ही परम पुरुषार्थ मानने लगे। उनका उन्नत चरित्र इतना गिरा, उदार हृदय विषय-भोग में इतना तल्लीन

हुआ कि, उन्हें अपने श्रेष्ठ रूप का ज्ञान ही न रहा ; अज्ञान ने उन्हें घेर लिया। इस प्रकार सब ओर से चित्त हटा कर एकमात्र सुन्दरी देवयानी के साथ विषय-भोग में लगे रहकर राजा ययाति की युवावस्था रमण करने में प्रायः आधे से अधिक बीत गई, तथापि उनकी तृप्ति न हुई। वे और भी अनेक वर्षों तक देवयानी के समीप रहकर रति-केलि से मन को तृप्त करने की चेष्टा करने लगे। सच है, रूप की मदिरा को जो पान करता है, वही उसके वशीभूत होकर अपनी सब सुधिबुधि भूल जाता है। वासना की भीषण ज्वाला कभी शान्त नहीं होती, जितना उसमें मन लगाया जाय, प्रज्वलित अग्नि में घृताहुति पड़ने के समान वह उतनी ही प्रदीप्त होती है। तिस पर भी लोग कहते हैं, विलासमय सम्मिलन भी एक सुखद वस्तु है, भले उसका परिणाम दुखद हो। सौन्दर्य में बड़ी विलक्षण शक्ति है, महा प्रभावशाली नरेश और वीर से वीर पुरुष को भी सौन्दर्य अपना दास बना लेता है। राजा ययाति को ज्ञात भी नहीं हुआ कि, रति-केलि करते उन्हें कितने दिन बीत गए।

तुषारशुभ्र-हिमाच्छादित बर्फ-मण्डित तुहिन-गिरि-प्रदेश में मानसरोवर के तटपर पर्वत-उपत्यका में एक अत्यन्त रमणीक बहुमूल्य विलास-भवन निर्माण कराके राजा ययाति ने उस प्रासाद में प्रियतमा पत्नी देवयानी के साथ रहकर रति-क्रीड़ा करते हुए कितने ही वर्ष व्यतीत किये। मानसरोवर के अपूर्व कुमुद-कल्हार, पार्वत्य तुषार की शुभ्रोज्वल कान्ति, एवं यक्ष और गन्धर्वों के सुमधुर सँगीत की ललित स्वर लहरी के मध्य विलास लीला करते हुए वे चिरकाल तक सुख-स्वप्न में डूबे रहे। वहाँ से फिर वे नर्मदा-तट—दुकूल पर गए, जहाँ प्रपातोत्क्षिप्त शुभ्र-सलिल-राशि सदैव उज्वल मर्मरगात्र से चूर्ण-विचूर्ण होकर धूम्रपुञ्ज उत्पन्न करती

है, और जिसकी कलकलध्वनि कर्ण-कुहर में सुधा वर्षण करती है। सांसारिक कोई सुख-दुख कदाच् वहाँ प्रवेश करके प्रणयी के स्वप्न को भङ्ग नहीं करता। ययाति वहाँ भी देवयानी के साथ विलास-लीला में रत रह कर चिरकाल तक निवास करते रहे। वहाँ से वे फिर समुद्र-पुलिन पर गए; और दक्षिण महासागर-पुलिन पर ताल-नारिकेल-वृक्ष-पूर्ण सुशोभित दृश्य, मनोरम श्यामल धरित्री एवं चरण-धौत-फेन-पुष्पाँजलि-प्रदत्त तटभूमि पर विलास-भवन निर्माण करा के महाराज ययाति ने सुन्दरी भार्या के साथ निवास करके अनुक्षण स्निग्धाम्बुकणपूर्ण मलय मारुत-परिसेवित सुस्निग्ध विराट्-सागर प्रदेश में भी अहरह क्रीड़ा करते हुए अतुलानन्दोपभोग के साथ कितने ही वर्ष व्यतीत किये। वहाँ से फिर सिन्धु-तट, विन्ध्याचल, पम्पा-सरोवर, काशमीर प्रभृति कितने ही रम्य स्थानों में विचरण करके प्रणयी-युगल ने आनन्दोपभोग किया। निदान वे फिर राजधानी को लौट गये। किसी सुख-स्वप्न के समान इस चिर-प्रवास के सुधा-पान की स्मृति—सुखद और मृदु स्मृति चिरकाल तक उनके मस्तक में घूमती रही।

राजधानी में लौट कर राजा ने राज-कार्य की ओर ध्यान दिया, उनकी वह स्मृति भी धीरे-धीरे कम होकर नारी-लिप्सा क्षीण होने लगी, किन्तु रूप-लिप्सा, तथापि कम नहीं हुई। विषय-भोग से राजा ने चित्त को विलग अवश्य किया, परन्तु रूप-तृष्णा को वे कम न कर सके। देवयानी की लावण्यपूर्ण रूप-माधुरी पर प्रमुग्ध हुए वे ज्यों के त्यों लोचनों द्वारा उसकी रूप-सुधा का पान करते रहे, प्रिया की यौवन-वारुणी का रस स्वादन करते रहे।

देवयानी गर्भवती हुई, और यथासमय उसने एक पुत्र-रत्न

प्रसव किया। पुत्र का नाम हुआ यदु। फिर कुछ वर्ष उपरान्त एक पुत्र और उत्पन्न हुआ, उसका नाम रखा गया तुर्वसु।

सुत-युगल और भार्या देवयानी के साथ रहकर राजा ययाति राज-प्रासाद में आनन्द-पूर्वक दिन व्यतीत करने लगे। और शर्मिष्ठा प्रमोदोद्यान में अकेली रहकर हृदय में राजा की प्रेम-स्मृति धारण किये हुए काल-यापन करने लगी। उसने मन ही मन राजा को पति वरण कर अपना मन, प्राण और शरीर उन्हें अर्पण कर दिया था, और हृदय के सिंहासन पर देवरूप से उनकी प्रतिष्ठा करके उनके चरणों पर मन ही मन प्रेमांजलि अर्पण कर वह धन्य होती। यदि किसी समय राजा भ्रमण करते हुए वाटिका में आकर उसके सामने से निकल जाते, तो वह भक्ति-श्रद्धा-पूर्वक आपही आप नत-मस्तक हो उनके चरणों में मनहीमन प्रणाम करती, और नेत्रों को राजा के चरणों पर लगा देती। जब तक राजा दृष्टि-गोचर रहते, वह अतृप्त नेत्रों से, आकाँक्षा भरे हृदय को लिये हुए उनकी ओर देखती रहती, और उनके अगोचर हो जाने पर दीर्घ-निःश्वास छोड़ कर, मन ही मन न जाने क्या विचार करने लगती। उसके नेत्रों में प्रेमाश्रु उमड़ आते, और उसका वक्ष-पिंजर भङ्ग करके एक कातर प्रार्थना भाव-राज्य में जा पहुँचती। मन ही मन कहती—"स्वप्न-राज्य के अतिथि! सर्वस्वत्याग कर तुम्हारे ही लिये तो यहाँ आई हूँ। तुम्हारे ही लिये तो मैंने देवयानी की दी हुई स्वतंत्रता को अग्राह्य कर दिया था। यह मन-प्राण-आत्मा-शरीर सब तुम्हारे चरण-कमल पर अर्पित कर हृदय के सिंहासन पर देव-ईश्वर-रूप से तुम्हें स्थापित कर के अपना सर्वस्व देकर मनसा-वाचा-कर्मणा करके पति और स्वामी-रूप से तुम्हारी पूजा करती चली आती हूँ। मेरे यौवन का नवविकसित प्रेम-प्रसून—यह रूप-सौन्दर्य, देह-यौवन तुम्हारे पदों पर श्रद्धा-

पूर्वक चढ़ा चुकी हूँ। अब तो तुम्हीं मेरे इस जीवन-नौका के पतवार और मेरे स्त्री-जीवन के आधार, मेरे पति-देवता और ईश्वर हो। तुम्हें यह सम्बन्ध स्वीकार हो या न हो, परन्तु मैं तो तुम्हें अपना बना चुकी, अब अपना यह समस्त जीवन तुम्हारी स्मृति लिये हुए व्यतीत कर दूँगी, इस स्थान को छोड़ कर अब कहीं नहीं जाऊँगी, जिस प्रकार तुम रखोगे, रहूँगी। प्रतिदान केवल इतना ही चाहती हूँ, कि मुझ पर तुम्हारी सदा दया बनी रहे, और दिन-रात में कम से कम एकबार तुम्हारे दर्शन हो जाया करें, जिससे मेरा मोह दूर करके मेरी यह निष्काम साधना व्यर्थ और निष्फल न हो, इसी में मैं, बस अपने को धन्य और अपने जीवन को सफल समझूँगी। तुम स्वप्न-अतिथि हो, स्वप्न के समान ही दूर दूर रहो, और मुझे केवल मोह-द्वारा आवृत्त किये रहो, "निद्रावस्था में सब कुछ, और जाग्रत होने पर सब भंग!" अपने प्रेम का भण्डार तुम दूसरों को लूटने दो, मुझे उसमें कोई क्षोभ, दुःख, क्लेश, ईर्ष्या और द्वेष नहीं होगा, कोई कातरता न होगी; उसके भागांश के लिये कोई अभिलाषा न होगी। मैं तुम्हारे सुखदुख का भाग ग्रहण करके इस निर्जन कुटिया में पड़ी हुई, केवल तुम्हारी सहचरी और अर्द्धाङ्गिनी होने का स्वप्न देखती रहूँ; तुम्हारे स्वप्न राज्य की राज-रानी बनी रहकर यह जीवन अतिवाहित करती रहूँ। बस"।

शर्मिष्ठा इसी प्रकार राजा की प्रणय-स्मृति हृदय में धारण किये हुए; उस प्रमोदाद्यान में रह कर अपना जीवन व्यतीत करने लगी। उसके इस भाव को कोई न देख पाता, कोई न जानता, स्वयं वह भी नहीं, जिनके लिये शर्मिष्ठा हृदय में इतना प्रगाढ़ प्रेम, इतना प्रणय-भाव और इतनी श्रद्धांजलि लिये बैठी थी।

---

(२)

शर्मिष्ठा और ययाति

सफलता

राज-प्रासाद से प्रायः एक मील की दूरी पर नगर उपकण्ठ पर राज-वाटिका थी, उसी के सन्निकट अशोक-वन से सटे प्रमोदोद्यान में राजा-द्वारा विशेषतः उसी के लिये बनवाए गए एक कुटीर-सदृश क्षुद्र, किन्तु रमणीय-भवन में शर्मिष्ठा निवास करती हुई, राजा की प्रेम-स्मृति लिये दिन अतिवाहित कर रही थी। इस प्रमोदोद्यान में नारिकेल, आम्र, मौलश्री, ताल, तमाल, दाड़िमी, नैरंग, कटहल, कदली, अशोक आदि नाना प्रकार के वृक्ष थे। उद्यान के ठीक बीचोबीच एक सुन्दर जलाशय था, जिसके चारों ओर पक्की सीढ़ियोंदार घाट बने हुए थे, और पीछे क्यारियों में चम्पक, नागकेसर, नागेश्वर, जुही, चमेली, बेला, हरश्रृंगार निवारी, सेवती, मोंगरा, गुलाब, केतकी, आदि नाना प्रकार के सुन्दर और सुरभियुक्त पुष्पों के वृक्ष लगे हुए थे, जिन पर उगे हुए रंग-विरंगे पुष्पों पर भ्रमरकुल मंडरा मंडरा कर गुंजार किया करता। जलाशय में विविध रंग की सुन्दर और मनोहर मछलियाँ अपनी जल-केलि से देखनेवालों का मन मोहित किया करतीं। सुन्दर सुरीले पक्षियों के कलरव से प्रमोदोद्यान सदा प्रमुखरित और कलरवित रहता। बड़ा ही सुन्दर और शान्तिदायी स्थान था वह प्रमोदोद्यान। परन्तु वहाँ रह कर भी शर्मिष्ठा को शान्ति नहीं थी। और सब प्रकार के सुख होने पर भी, न जाने, किस अभाव के कारण उसका हृदय दुखी

रहा करता। प्रमोदोद्यान को मुखरित और विकसित करने वाली सभी सामग्री तो वहाँ थी, परन्तु उसके हृदय-उद्यान को खिलानेवाला सुमन तो उसके पास था ही नहीं, इसी से सदा उसका हृदय दुखी और राजा के विरह में व्याकुल रहता। शर्मिष्ठा उस विरह-व्यथा को सहन करती हुई अपने अधिक समय को जलाशय के चहुँओर बने पक्के घाटों पर बैठकर, जलाशय में केलि करती हुई मछलियों की जल-क्रीड़ा को देखदेख कर अतिवाहित किया करती। सोचती—इन मछलियों को आनन्द देनेवाला उनका स्वामी जल तो उन्हें वक्षःस्थल पर धारण किये हुए है, परन्तु उसके चित्त को शान्ति देकर केलि-क्रीड़ा-रत-द्वारा उसे सुख पहुचानेवाला उसका स्वामी तो उसे एक बार भी अपनी कहकर हृदय से नहीं लगाता।

उद्यान में लगे हुए वृक्षों में जल-सेंचन करना, और उद्यान में फिरने और उड़नेवाले पशु-पक्षियों को दाना-चारा देकर उनके साथ केलि करके जी बहलाना शर्मिष्ठा ने अपनी दिन-चर्य्या का एक अंग बना लिया था। शर्मिष्ठा के आने के उपरान्त से प्रमोदोद्यान पहला जैसा नीरस, शुष्क, और असिंचित प्रमोदोद्यान नहीं रह गया था, अब वह एक सरस, हराभरा, और मनहर प्रमोदोद्यान बन गया था। उद्यान के पशु-पक्षी शर्मिष्ठा से ठीक वैसे ही हिल गये थे, जैसे कन्व-आश्रम के पशु पक्षी शकुन्तला से।

शर्मिष्ठा ने किशोरावस्था को पार कर यौवनावस्था में पदार्पण किया। अवस्था-परिवर्तन के साथ ही साथ उसके देह-अवयव, शरीर-सौष्ठव और यौवनश्री में भी परिवर्तन हुआ। जो सुन्दरता पहले चन्द्रप्रभा के समान शीतल और धुंधली थी, वह सुन्दरता, अब यौवन को प्राप्त कर, निखर कर

सूर्यप्रभा के समान प्रखर और उज्वल हो गई थी। अंग अंग विकसित हो उठा था। शरीर-सौष्ठव में लावण्यता आगई थी, यौवनश्री झलकने लगी थी। अंग-परिवर्तन के साथ ही साथ उसके हृदय और विचारों में भी परिवर्तन हुआ था। अब प्रेम और प्रणय की असंख्य कल्पनाएँ उसके विरह-जनित शोकाकुल हृदय-मंच पर आकर नृत्य करने लगी थीं। अपने भावी सुख, आनन्द एवं रति-विलास को स्मरण करके उसका हृदय रहरह कर हुलस उठता था, उसे विरह में भी ऐसा अनुभव होने लगा था, मानो संसार सत्य ही प्रेम और आनन्द का अगाध सागर है, उसमें रह कर जीवन को बिना साथी के योंही रहकर अतिवाहित करना महा कठिन और अति नीरस है, शुष्क और यातनापूर्ण है। उसकी यह धारणा अटल होने पर, इस प्रकार के विचारों का उदय होकर, इस वासनामय असार संसार में प्रियजनित सुख एवं आनन्द उठाने के लिये उसका हृदय अधीर हो उठा। सच है आनन्द और सुख से परिपूर्ण, विलास-वासना में तल्लीन इस यौवनश्री-सम्पन्न संसार में स्त्री-पुरुष, जीव-जन्तु, वृक्षलता आदि जिस किसी को भी यौवन प्राप्त हुआ है, वह अपने अपने उमंगपूर्ण यौवन-रस-रंग को सफल बनाने में तन्मय और यत्नशील रहा है। इस मत्सरपूर्ण संसार में विलास-लीला का हाट गर्म है।

शर्मिष्ठा ऋतुमती हुई। नियमानुसार स्त्री-धर्म्म पालन-पूर्वक चतुर्थ-दिवस उसने ऋतु-स्नान किया। ऋतुमती होने के साथ ही स्त्री में मातृभाव के लक्षण उदय होकर उसे सन्तान सुख उठाने के लिये अधीर कर डालते हैं। स्त्रीत्व की पूर्णता मातृत्व में ही है। ऋतुस्नान करने के उपरान्त शर्मिष्ठा में भी उसी भाव का उदय हुआ। अब उसे चिन्ता हुई कि जिससे

उसका यह ऋतुस्नान निष्फल न जाय। अपने ऋतु-स्नान को सफल बनाने के लिये वह अधीर हो उठी। परन्तु उसकी आशा पूर्ण हो किस प्रकार? वह अभी कुमारी थी, उसका विवाह हुआ नहीं था; तब किस प्रकार, किसके द्वारा वह अपने स्त्रीत्व को पूर्ण करने का आनन्दोपभोग उठाए। यद्यपि महाराज ययाति को उसने मनही मन अपना पति वरण किया था, तथापि राजा ने तो कभी उसे भार्य्या कह कर ग्रहण नहीं किया। तो क्या इसके लिये वह महाराज से याचना करे? परन्तु यह भी असम्भव था। स्त्री होकर रति-विलास के लिये स्वयं एक वेश्या भी पुरुष से याचना नहीं कर सकती, वह तो एक राज-कुल-बाला राजपुत्री थी। तब? तब क्या किया जाय? विचार कर शर्मिष्ठा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गई।

अपने कुटीर-द्वार पर बैठी हुई शर्मिष्ठा इसी भावना को लिये हुए विचारमग्ना हो रही थी, वह इस बात की कोई मीमांसा नहीं कर पाती थी, किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाती थी, कि क्योंकर वह अपने ऋतु-काल को सफल बनाए, कि इतने ही में महाराज ययाति ने उधर पदार्पण किया। संध्या का समय था, शीतल-मंद-सुगंध-वायु बह रहा था, सुरभित-सुमन-समूह से निःसृत भीनी भीनी पुष्पगन्ध वातास में मिलकर उद्यान-आकाश को सुगन्धित और सौरभ-पूर्ण किये हुए थी। सुन्दर सुहावनी गोधूलि-बेला के स्निग्ध काल में पक्षि-कुल अपने अपने नीड़ों को उड़े चले जा रहे थे; धेनु-समुदाय चरकर भवनों को लौट रहा था, सूर्यास्त हो गया था, कुछ कुछ अन्धेरा हो चला था। शुक्लपक्ष का चन्द्रमा आकाश में उदय होकर धरा पर प्रभा विकसित कर रहा था। ठीक इसी समय राजा ययाति पद-चारण करते हुए उधर आए, और आकर हठात् विचार-मग्ना

शर्मिष्ठा के सामने खड़े हो गए, और भावपूर्ण दृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखने लगे। जब से शर्मिष्ठा यहाँ आई है, आज यह पहला ही अवसर था, कि महाराज ययाति ने इस प्रकार शर्मिष्ठा के सामने खड़े होकर उसे प्रेमपूर्ण दृष्टि से देखा था। शर्मिष्ठा उठकर खड़ी हो गई, स्त्री-सुलभ-लज्जा ने उसे आवृत्त कर लिया, सकुचाकर उसने दृष्टि नीची करली, आँचल आगे को खींच लिया, और वह खड़ी खड़ी पैर के अङ्गूठे से भूमि खुरचने लगी।

भावी प्रबल है। सुख के उपरान्त दुख और दुख के उपरान्त सुख का आना ठीक उसी प्रकार अनिवार्य है, जिस प्रकार दिन के उपरान्त निशा और रात्रि के उपरान्त दिन का होना। शर्मिष्ठा की दुख-यामिनी व्यतीत होकर सुख-प्रभात के उदय होने का समय आया, उसके त्याग के सफल होने का उपक्रम हुआ। सौभाग्य-लक्ष्मी शर्मिष्ठा से प्रसन्न हुई। महाराज ययाति प्रेम-भाव से, वासनापूर्ण व्याकुल हृदय से शर्मिष्ठा की ओर ताकने लगे। इतनी सुन्दर तो उन्होंने शर्मिष्ठा को कभी नहीं देखा था। देखते देखते राजा अधीर हो उठे। क्या ही अलौकिक सौन्दर्य वह था! कैसी अनुपम रूप-राशि थी!! कितनी मनोरम यौवनश्री थी!!!

राजा ने देखा—शर्मिष्ठा अतीव सुन्दरी है; देवयानी से भी अधिक रूपवती। जिस शरीर को वे अब तक दासी समझे हुए उसकी अवहेला करते चले आते थे, उस कलेवर के भीतर रत्न भरा पड़ा है। इस रत्न की क्या अवहेला की जा सकती है? राजा के हृदय में उथल पुथल मच गई, द्वन्द्व हो उठ खड़ा हुआ, उनका हृदय शर्मिष्ठा की ओर आकर्षित होकर, उसके प्रति उसमें प्रीति-भाव का उद्रेक होकर, प्रणय-भाव उमड़ आया। शर्मिष्ठा उन्हें अति सुन्दरी, अतीव प्रिय, अत्यन्त मधुर जान पड़ी।

विचारा—'शर्मिष्ठा एक मणि है, अतीव सुन्दर रत्न है। प्रेम की वस्तु है, निरादर की नहीं! आदर का पदार्थ है, अवहेला का नहीं!! प्रीति करने योग्य है, अवज्ञा करने योग्य नहीं!!!,' राजा प्रेम-विह्वल हो उठे।

शर्मिष्ठा ने दृष्टि ऊपर को उठाई, आकुलतापूर्ण प्रेम-दृष्टि से राजा की ओर देखा, राजा ने भी शर्मिष्ठा की ओर दृष्टि-पात किया। दोनों ने दोनों को देखा, प्रेम-भाव से देखा। दोनों के नेत्रों से प्रीति-सुधा टपक रही थी। राजा शर्मिष्ठा की प्रणय-पूर्ण कातरता-भरी हुई प्रेम-दृष्टि को सहन न कर सके, अधीर होकर प्रेम-पूर्ण कण्ठ से कह उठे—राजपुत्री! शर्मिष्ठा!! प्रिये!!!

शर्मिष्ठा चतुर थी, सब समझ गई; उसने अवसर की अवहेला नहीं की। बोली—'नाथ'!

ओह! कितना माधुर्यपूर्ण उच्चारण था, पुकार में कैसी माधुरी भरी हुई थी, कितना मनोहर पीयूषवर्षी कण्ठस्वर था, कितना ललित शब्दालंकार था, अक्षर-अक्षर से मधुरता टपक रही थी। राजा को अनुभव हुआ, मानो स्वर्ग से पीयूष-वर्षा हो गई हो। कितना प्रेमभाव, कितनी कातरता, कितनी भाव-विह्वलता, कितना सम्मान, कितना प्रणय, कितनी विनय, कितनी मृदुलता—उस स्वरभङ्गी में थी। अपूर्वस्वर! मृदुल कण्ठध्वनि!! अनुपम स्वर-माधुरी!!! राजा मोहित हो गये। बोले—'शर्मिष्ठा! तुम इतनी सुन्दरी हो'?

शर्मिष्ठा मर सी गई, लज्जा और संकोच से उसका मुख अरुण हो गया। समय को समझ कर ऊपर को दृष्टि करके, तथापि, उसने कहा—"मैं बड़ी अभागो हूँ देव! प्रेष्या हूँ, महाराज के योग्य नहीं हूँ।"

राजा सहन न कर सके मुग्धा शर्मिष्ठा के उस दृष्टि-विभ्रम

को, वे विक्षिप्त हो उठे। उन्होंने लालसा-भरी दृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखा। मुग्ध हो गये देखकर। ओह ! यह रूप !! कैसी आश्चर्यमयी सुन्दरी है शर्मिष्ठा !!! संसार में ; स्त्री-जगत में अतुलनीय रत्न है, नारी-जगत की सर्वश्रेष्ठ सम्पदा है !!! राजा सब कुछ भूलकर विमुग्ध हो गये शर्मिष्ठा के पारिजात-सदृश, सजीव, मनोरम सौन्दर्य पर, फूलों की वर्षा करनेवाली मुखश्री पर, शृंगार-विभूषित गौरवर्ण-वदन-मण्डल पर, और उसके सुडौल सुश्रीवान जगमगाते, सुसम्पन्न और परिपुष्ट देह-कलेवर पर।

ययाति प्रेम और सौन्दर्य की साक्षात् प्रतिमा, सुन्दरी शर्मिष्ठा को पाने के लिये उन्मत्त हो उठे। विचारा—" यह रत्न त्यागा नहीं जा सकता, इस सौन्दर्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। शर्मिष्ठा को प्राप्त करना ही होगा। एक ओर साम्राज्य-संसार-ऐश्वर्य, दूसरी ओर केवल शर्मिष्ठा। शर्मिष्ठा के बिना सब अँधेरा है, शून्य है, नीरस है, निस्सार है ! यह रत्न-प्रदीप यदि सिंहासन-पार्श्व में न जला तो, सिंहासन का मूल्य ही क्या ? एक बार देवयानी की अवहेलना की जा सकती है। परन्तु शर्मिष्ठा की नहीं "।

शर्मिष्ठा से कहा—" भद्रे ! मैं तुम्हारा उपहास नहीं करता, सच कहता हूँ। मैं तुमसे वस्तुतः प्रेम करता हूँ। तुम अवहेला के लिये नहीं, आदर के योग्य हो। आश्रमवास के लिये नहीं, राज-प्रासाद में रहकर राज-पर्यङ्क की शोभा बढ़ाने के लिये हो। निरीह रहने के लिये नहीं, राजमन्दिर के कोलाहल के मध्य निवास करने के लिये हो। मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ शर्मिष्ठे ! तुम्हारे हृदय-द्वार पर खड़े होकर, मैं राज-अतिथि आज तुमसे प्रेम की भिक्षा माँग रहा हूँ। बोलो, बोलो शर्मिष्ठा ! क्या इच्छा है ? मेरी प्रार्थना तुम्हें स्वीकार है ? तुम मेरी होगी देवि !! "

शर्मिष्ठा ने कोई उत्तर नहीं दिया; एक बार नेत्र उठाकर राजा की ओर देख भर दिया। राज ने फिर कहा—"शर्मिष्ठा! देवि शर्मिष्ठा!! क्यों प्रस्तर-प्रतिमा की नाईं स्थिर खड़ी हो? बोलती क्यों नहीं हो? उत्तर क्यों नहीं देती? मुझसे पूछो, मेरे अन्तर्जगत में तुम्हारे लिये कितना उच्च स्थान है। तुम्हें विश्वास नहीं होता शर्मिष्ठा! मैं तुम्हें कितना प्रेम करता हूँ? हृदय चीर कर दिखला सकता हूँ। तुम मेरी हो प्रिये! मेरे हृदय में समा गई हो। अब मुझसे दूर—अलग रहने का व्यर्थ प्रयास न करना, मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता। जीवन-पर्यन्त तुम्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित करके तुम्हारी पूजा किया करूँगा। शर्मिष्ठे! प्राण वल्लभे!! हृदयेश्वरी!!! बोलती क्यों नहीं हो? प्रिये! यह तुम्हारे प्रेम का भिखारी अपने सर्वस्व को तुम्हारे चरण-प्रान्त पर अर्पण कर, तुम्हारे प्रेमद्वार पर खड़े होकर, तुमसे प्रेम की भिक्षा माँग रहा है, क्या तुम अपने प्रेम का दान देकर अपने प्रेम और उदारता का परिचय न दोगी?"

प्रेम ने विजय पाई, त्याग सफल हुआ, पिता और ऋषि का आशीर्वाद साक्षात् देह धारण करके शर्मिष्ठा के सम्मुख आ खड़ा हुआ। शर्मिष्ठा को सफलता मिली। वहीं उद्यान-भवन में प्रणयी-युगल का चिरबंधन सम्पन्न हुआ। महाराज ययाति ने शर्मिष्ठा को अपनी बनाकर इसकी धर्म-रक्षा की।

शर्मिष्ठा, देवयानी और ययाति

देवयानी का कोप

विषाद

शर्मिष्ठा और ययाति के इस गुप्त प्रणय का वृत्तान्त किसी को ज्ञात नहीं हुआ; देवयानी को भी चिरकाल तक नहीं। शर्मिष्ठा उसी भाव से आश्रम-भवन में निवास करती रही, राजा भी प्रतिदिन यथानियम उसके पास आते रहे।

निदान समय समय पर राजा और शर्मिष्ठा के सम्मिलन से महाराज ययाति के औरस-जात शर्मिष्ठा को तीन पुत्र प्राप्त हुए। उन तीनों के नाम रखे गये यथाक्रम से द्रुह्य, अनु और पुरु।

दो देवयानी के और तीन शर्मिष्ठा के—अति सुन्दर वे पाँचों पुत्र राज-प्रासाद और प्रमोदोद्यान को आलोकित करते हुए चन्द्रकला को भाँति दिन पर दिन बड़े होने लगे। बड़े होने पर विद्या, बुद्धि, स्वभाव, प्रकृति, आचार, व्यवहार और कार्य्यकलाप सभी बातों में पाचों ही एक दूसरे से भिन्न निकले। कोई किसी से किसी बात में नहीं मिलता था।

राजा ययाति भार्य्याद्वय और पुत्र-पंच को प्राप्त करके अति आनन्द से राज-कार्य्य संचालन करने लगे। राज-प्रासाद में बैठकर वे यदु और तुर्वस को प्रेमादर करते, एवं अशोकाश्रम में जाकर सन्ध्या-समय चुपचाप शर्मिष्ठा के पुत्र द्रुह्य, अनु और पुरु को हृदय से लगा कर प्रेम-चुम्बन करते करते आत्म-विस्मृत हो जाते। शर्मिष्ठा पर भी उनकी प्रीति दिन पर दिन

अधिक होने लगी। राजा के प्रेमादर में भूलकर राजरानी और राजकन्या होकर भी शर्मिष्ठा ने कभी गर्व नहीं किया, वह अपने समस्त दुखों को भूलकर चुपचाप आनन्दपूर्वक जैसे थी, वैसी ही रहकर आत्मगोपनपूर्वक दिन यापन करने लगी। स्वामी का सोहाग और सन्तान का प्रेम चहुँओर से उसे वेष्टन करके, उस निर्जन कानन में भी, उसे स्वर्ग-सुख प्रदान करने लगा। शर्मिष्ठा उस स्थिति में रह कर भी अब मग्न रहने लगी।

आर्थिक-सम्पद या वाहिरी आडम्बर के साथ सुख का कोई सम्बन्ध नहीं है—शर्मिष्ठा ने आत्म-अनुभव-द्वारा इसके मर्म को ख़ूब समझ लिया। बाल्यकाल की बात स्मरण होती, परन्तु उससे भी वर्त्तमान अवस्था के लिये अब मन में कोई क्षोभ उत्पन्न न होता। देवयानी के सौभाग्य-सम्पद की बात मन में उठती, किन्तु उससे भी किसी प्रलोभन का उद्रेक हृदय में न होता। राजप्रासाद का सुखभोग, राजैश्वर्य का गौरव, राज-सिंहासन का वैभव, राज-भोग, राज-वसन-भूषण, राज-सुख-सम्पद—यह सभी प्रलोभन की उत्कट वस्तुएँ हैं; किन्तु उन्हें भी नगण्य करके स्वामी के प्रेम, सन्तान के स्नेह और शिशु की हँसी की तुलना में शर्मिष्ठा कुछ न समझती। रमणी के लिये इनकी तुलना है ही नहीं। संसार की कोई भी वस्तु स्त्री के लिये पति-पुत्र से बढ़कर सुखद और सुखकर नहीं हो सकती। विश्व की समस्त सम्पदा भी—समस्त प्रलोभनीय पदार्थ भी इनकी तुलना में, इनके सामने अति तुच्छ हैं। शर्मिष्ठा के समक्ष भी राज-प्रासाद, राज-सम्पद, राजैश्वर्य, राज-भोग, राजसुख और राजरानी होने की गौरव-मर्यादा इसी से आज इतनी खर्व हो गई थी।

क्षुद्र कुटीर के बाहर, क्षुद्र अलिन्द के समीप एक प्राँगण था। उस प्राँगण के चहुँओर उगी हुई घास और छोटेछोटे पुष्प-वृक्ष प्राँगण की शोभा को बढ़ा रहे थे। पुष्प-क्यारियाँ, लता-मण्डप, गुल्म-वितान और पुष्करिणी, इन सब को वेष्ठन किये हुए घन-वृक्ष-श्रेणी दण्डायमान थी। ऐसे रमणीक कुटीर-भवन के प्राँगण के द्वार-देश पर बैठी हुई शर्मिष्ठा ग्रीवा पर हाथ रखे हुए, कुछ सोच रही थी। समीप ही शिशु-पुत्र द्रुह्यु, अनु और पुरु खेल रहे थे, कि इसी समय बहुमूल्य परिच्छद-भूषित, उष्णीष-धारी राजा ययाति वहाँ आए। शर्मिष्ठा देखते ही उठकर खड़ी हो गई। राजा केलि-रत पुत्रों के सिर सूंघकर और प्रियतमा पत्नी शर्मिष्ठा को हृदय से लगा, उसके अरुण-कपोलों पर प्रेम-चिन्ह अंकित करके, पास ही पड़े हुए एक शिलाखण्ड पर बैठ गए, और केलि-रत पुत्रों को अवलोकन करते हुए प्रेम और आनन्द से पुलकित हो उठे। शर्मिष्ठा के मुख पर हास्य की छटा-रेखा दौड़ गई, हृदय-कुसुम विकसित हो उठा, समस्त शरीर में आनन्द का विद्युत्प्रवाह होने लगा। एक विजय-गर्व से उसका मुख-कमल देदीप्यमान हो उठा। राजा ने पुरु को उठा कर गोद में ले लिया।

शर्मिष्ठा की उत्तरोत्तर तीन पुत्रों की प्राप्ति की बात सुनकर देवयानी को मन ही मन कई बार आशंका उत्पन्न हुई थी, और अपनी इस आशंका को निवारण करने के लिये उसने कितनी ही बार शर्मिष्ठा के पास आकर उस सम्बन्ध में पूछताछ करने का विचार किया था। आज ठीक उसी समय, जब राजा ययाति आश्रम में शर्मिष्ठा के पास आकर बैठे ही थे, देवयानी भी अपने उस शंका-समाधान के लिये हठात् वहाँ आ पहुँची; और पुरु को महाराज की गोद में देखकर आप ही सब

रहस्य समझ गई, फिर उसे शर्मिष्ठा से उस विषय में कुछ पूछने का प्रयोजन नहीं रहा। देवयानी के क्रोध की सीमा न रही; क्रोधाग्नि से उसका हृदय भभक उठा; वह शर्मिष्ठा के पास पहुँची, और गर्जन कर बोली—"क्यों? यह प्रतारणा, यह छलना!! शर्मिष्ठा! दासी होकर भी मेरा अप्रिय करते तुझे संकोच न हुआ? बता, क्योंकर तुझे मेरा अहित, अनिष्ट, और अप्रिय करने का यह साहस, यह स्पर्द्धा हुई? यह आसुरी कर्म करते तुझे भय भी नहीं हुआ कुलटे!" कह कर देवयानी ने कोप भरी दृष्टि से एक बार राजा की ओर भी देखा।

राजा सहम गए, देवयानी की क्रुद्धमूर्ति देखकर उन्हें भय हो आया। उन्होंने पुरु को गोद से उतार दिया और उठ कर खड़े हो गये। उन्हें यकायक देवयानी से कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

शर्मिष्ठा ने देवयानी की बात का उत्तर देते हुए कहा—"देवयानी! मैंने कोई कुकर्म, कोई अधर्म नहीं किया है। मैं कुलटा भी नहीं हूँ। तुम्हारा अप्रिय भी मैंने नहीं किया है। जिस प्रकार प्रथम दर्शन के साथ ही महाराज पर तुम मोहित हुई थीं; उसी प्रकार मैंने भी प्रथमबार देखने के साथ ही महाराज के चरणों पर अपना मन-प्राण-देह-सर्वस्व अर्पण करके मनही मन उन्हें पति वरण किया था, और तब से बराबर उनके चरणों का ध्यान करती चली आई हूँ। महाराज की मुझ पर अब कृपा-दृष्टि हुई है, उन्होंने मुझे भी अपनी कह कर हृदय से लगाया है, तो तुम्हें उसमें क्यों इतना क्षोभ और क्रोध उत्पन्न हुआ? क्यों तुम्हें इतना बुरा लगा? राजा के तुम्हें प्रेम करने पर मैंने तो तुमसे कुछ कहा ही नहीं था, बुरा माना नहीं था, हृदय की

आशा को मन्थन करके भी तुम्हारा कार्य किया था। अब तुम्हीं मुझ पर राजा का प्रेम देखकर कुछ क्यों कहती हो, बुरा मानकर, दुखी होकर कोप क्यों करती हो ?"

देवयानी क्रोध से उन्मत्त हो उठी; तीव्रदृष्टि से शर्मिष्ठा की ओर देखते हुए ओंष्ठदंशन-पूर्वक अति कुपित-कण्ठ से उसने कहा—"अब समझी, क्यों तूने उस दिन विवाह-समय में तुझे दी हुई स्वतंत्रता को अग्राह्य कर दिया था। मेरा अप्रिय करने के लिये ही तो ? मैं नहीं जानती थी, तेरे हृदय में यह कपट भरा हुआ है। जानने पर कभी तेरी बात न मानती, कभी यहाँ न लाती, स्वतंत्रता देकर वहीं छोड़ आती। परन्तु आत्मगर्व से मैंने उस समय उस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था, उसका फल आज यों हाथोंहाथ मिला। दुष्टे ! अवश्य तू कोई जादूगरनी है, टोना-टुटका जानती है। इसी से तो।"

शर्मिष्ठा ने बीच ही में बाधा देकर कहा—"देवयानी ! तनिक संभलकर बात करो। अब मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ कि, जो जी में आयेगा, कह बैठोगी; और मैं उसे चुपचाप सुनकर मौन धारण कर लूँगी। अब मेरा और तुम्हारा पद बराबर है। राजा ने तुम्हें भार्या बनाया है, तो मुझे भी हृदय से लगाया है। तुम दो पुत्रों की माता हो, तो मुझे भी तीन पुत्र प्राप्त हैं। तुम राजरानी हो, तो मैं भी राज-महिषी और राज-भार्या हूँ। महाराज को तुम प्रेम करती हो; मैंने भी किया, तो उसमें बुरा मानने की, दुख करने की क्या बात है ? मैंने महाराज के चरणों पर जीवन-उत्सर्ग किया, तो तुम इतनी दुखी क्यों होती हो ? प्रेम में ईर्ष्या क्यों देवयानी ! जिसे हमारा हृदय चाहता है, उसे यदि तुम भी चाहती हो, तो दोष क्या है ? मेरी समझ में तो यदि इन्हें सारा-संसार चाहे, तो भी मैं बुरा न मानूँ। प्रेम सदा ही

सहन-शील, मधुर और गम्भीर है, प्रेम ईर्ष्या नहीं करता, द्वेष नहीं करता, आत्म-श्लाघा नहीं करता, दुष्टाचरण नहीं करता, स्वार्थ नहीं रखता, क्रोध नहीं करता, बुरा नहीं मानता। सुख के बदले दुख, आशा के बदले निराशा, और सत्कार के बदले फटकार पाने पर सच्चा प्रेम घटता नहीं, बढ़ता ही है। जितना ठुकराया जाय, उतना ही बढ़े, तब मज़ा है। अपने सुख की लालसा और सच्चा पवित्र-प्रेम परस्पर भिन्न वस्तुएँ हैं। स्वार्थ से भरा प्रेम कलुषित और निस्सार है। बस सावधान! मुँह से अब एक शब्द भी बुरा न निकालना।"

देवयानी अवाक् रह गई, शर्मिष्ठा से उसे कुछ कहने का फिर साहस न हुआ। परन्तु क्रोध की ज्वाला इतनी असह्य हो उठी थी, कि उसे शान्त कर लेना भी उसके लिये कठिन था। राजा ययाति की ओर देखकर उसने कहा—"मैं अब तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगी। तुम्हीं तो मेरे इस दुख और अपमान के कारण हो, तुम्हीं ने तो शर्मिष्ठा को प्रेम करके आज मुझे रुलाया है। तुम्हीं मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय करने के कारण हो; अन्यथा क्या दासी का इतना साहस होता? तुमने मेरे साथ विश्वासघात किया है। आज से मेरा तुम्हारा सब सम्बन्ध छिन्न हुआ। आज तक मैंने हृदय-द्वारा तुम्हें प्रेम करके प्रणय-प्रीति-पूर्वक तुम्हारी पूजा-आराधना, सेवा-शुश्रूषा और तोषामोद किया; प्रतारणा करके उसका बदला तुमने इस प्रकार दिया। अब मैं तुम्हारे यहाँ इतना भी नहीं ठहर सकती, आज ही, अभी पित्रालय को जाऊँगी। अब आज से तुम्हारी रानी और प्रिया मैं नहीं, शर्मिष्ठा हुई। शर्मिष्ठा की जय हुई, मैं हार गई। मूर्ख मैं ही हूँ, जो सन्देह का इतना प्रत्यक्ष कारण देखकर भी अब तक चुपचाप बैठी रही। जो होना था, हो लिया। अब और नहीं।

अधोवदन करके तुम्हारे सामने से आज चली जा रही हूँ, हँसना हो, हँसो ; ताली बजाकर जयध्वनि करना हो, करो ; और यदि किसी कारण से रोना और अश्रुमोचन भी करना पड़े, तो वह भी करो; मैं अब देखने नहीं आऊँगी। तुम अब शर्मिष्ठा को लेकर रहो। प्रतारक! कपटी!! इतने सुख-स्वप्न दिखलाकर निदान तुमने मेरा यह सर्वनाश किया, मुझे यों धोखा दिया? इस प्रकार छला? हायरी पुरुषों की ममताहीन जाति!!!"

देवयानी रो पड़ी। रोते ही रोते बोली—"अब तक प्रतारणा में भूली हुई आत्म-समर्पण करती रही, परन्तु अब नहीं। इस बात को स्मरण करके लज्जा और घृणा, संकोच और क्रोध से आज मेरा सिर नीचे झुका जाता है, हृदय जला जा रहा है। अब मैं उस मार्ग पर पाँव न दूँगी। व्याधिग्रस्त प्रत्यग की भाँति मैंने आज यहाँ का सब संस्रव त्याग किया। मेरा तुम्हारा अब कोई सम्पर्क नहीं रहा। मैं आज से पुनः ब्रह्मचारिणी हुई। और तुम? तुम्हें मैंने प्यार किया है, तुम मेरे स्वामी रहे हो, इसलिये मैं स्वयं तो तुमसे कुछ नहीं कहती, तुम्हें कोई शाप नहीं देती। परन्तु पिता का, उस ऋषि का, जिसने तुम्हें क्षत्रिय होने पर भी अपनी विप्रपुत्री तुम्हारे हाथों अर्पण की थी, और जिन्होंने शर्मिष्ठा को अंकशायिनी बनाने के लिये तुम्हें बारबार निषेध कर दिया था, शाप तो तुम्हें ग्रहण करना ही पड़ेगा। अपने पापका फल भोग तो तुम्हें करना ही होगा। मैं नहीं जानती थी, तुम इतने धूर्त हो, इतने लम्पट और दुराचारी हो, इतने स्त्री-लोलुप हो, इतने प्रतारक-छली हो! इतने कपटी हो!! हा!!!"

देवयानी शीघ्रता-पूर्वक वहाँ से चली गई। राजा और शर्मिष्ठा दोनों खड़े देखते रह गये।

---

(४)

पिता के सम्मुख

देवयानी के चले जाने पर राजा को जितना क्षोभ हुआ ; क्रोध भी उससे कुछ कम नहीं हुआ ! स्त्री होकर स्वामी का इतना अपमान !! उफ़ !!!

महाराज ययाति ने उसी दिन रात को ही राजधानी में लौटकर शर्मिष्ठा को राजभवन में लाने के लिये सैन्य-सामन्त-सहित प्रधान मंत्री को भेजा। शर्मिष्ठा के विषय में विचार कर अन्धकार में भी उनका हृदय आलोकित हो उठा ; समस्त दुख-क्लेश को भेद कर राजा के हृदय में आनन्द की ज्योतिर्मयी प्रतिमा विकसित हो उठी। वनवासिनी शर्मिष्ठा को राजमहिषी के उपयुक्त वेशभूषा से सुसज्जित करके राजरानी बनाकर राज भवन में बुलाकर राजसिंहासन-पार्श्व में स्थान देकर राज-महिषी का मान प्रदान करेंगे—इस बात को विचार कर राजा को बहुत कुछ तृप्ति और आनन्द अनुभव हुआ।

रात्रि एक प्रहर बीत कर द्वितीय प्रहर का आरम्भ हुआ ही था। शर्मिष्ठा अलिन्द में बैठी हुई आज की घटना पर विचार करती हुई उसकी मीमांसा कर रही थी, कि इतने ही में प्रधान प्रधान अनुचरों को साथ लिये हुए प्रधानामात्य ने उसके सामने पहुँचकर राजा का सन्देश उसे सुनाया।

परन्तु शर्मिष्ठा ने इसे स्वीकार नहीं किया। कहा—“मंत्रिवर ! राजा-महाराज से जाकर निवेदन कर दीजिये कि, मैंने सिंहासन की कभी इच्छा नहीं की थी, राजरानी बनकर सिंहासन पर बैठने के लिये भी मैं यहां नहीं आई थी। केवल

महाराज के चरण-दर्शन करते रह कर, हृदय की अभिलाषा पूरी करती रहने के लिये ही मैं यहाँ आई थी। महाराज को मैंने राज्य-लोभ से प्रेम नहीं किया था ; उन्हें अपना हृदयेश्वर मान कर ही उनके चरणों पर अपना जीवन निछावर किया था। मैं महाराज की दासी, और चरण-सेविका हूँ ; राजरानी देवयानी है, सिंहासन उसी का है। वही देवयानी कोप करके चली गई है ; मैं उसे लौटा लाने का उद्योग करूँगी ; और यदि ला सकी, तो उसे महाराज के वामपार्श्व में सिंहासन पर आसीन करा, दोनों की चरण-सेवा करती हुई जीवन धन्य बनाऊँगी। मुझे इसी में आनन्द प्राप्त होगा। मैं देवयानी को लौटा लाने के लिये ब्राह्ममुहूर्त्त में ही पितृ-देश को प्रस्थान कर दूँगी। आप इन राजपुत्रों को महाराज के समीप ले जावें। यह राजपुत्र हैं, इस देश के एकच्छत्र सम्राट्—सर्वभौम नरेश के पुत्र हैं। राजपुत्र के समान ही यह सगौरव पिता के चरण स्पर्श करके आटोपपूर्वक मस्तक उन्नत करके राजकुमार के अधिकार से ही सिंहासन पर जाकर महाराज को प्रणाम कर उनके पार्श्व में बैठेंगे। मैं देवयानी को लौटा लाकर ही अब महाराज के चरण-दर्शन करूँगी।"

कह कर शर्मिष्ठा ने मंत्री के साथ तीनों पुत्रों को राज-भवन को भेज दिया, और स्वयं प्रभात होने से पूर्व ब्राह्म-मुहूर्त्त में ही देवयानी को लौटा लाने के लिये पितृ-राज्य को चल दी।

जिस समय शर्मिष्ठा ने पिता के सम्मुख पहुँच कर उन्हें प्रणाम किया, उस समय महाराज वृषपर्वा मंत्री से कह रहे थे—"मंत्री ! तुम क्या जानो, मेरी क्या दशा है ? मेरे दुख को वही समझ सकता है, जिसने कभी मेरे समान ही सन्तान-बिछोह का असह्य क्लेश सहन किया हो ! बिना

शर्मिष्ठा के आज मेरा जीवन उस शुष्क वृक्ष की नाईं श्री-शोभा-विहीन हो रहा है, जिसके पत्र-पुष्प-फल-शाखा, सभी मनोहर अंग वज्र-प्रहार से दग्ध होकर वह वृक्ष पत्र-पुष्प-फल-विहीन, शाखा-प्रशाखा-रहित ठूँठमात्र रह गया हो। न मैं ही अब वह वृषपर्वा रह गया हूँ, और न यह दैत्य-राज्य ही अब वह दैत्यराज्य है। बिना शर्मिष्ठा के सभी शोभा-हीन और जर्जरित, शुष्क और नीरस हो रहा है। वज्राहत ठुंठ-वृक्ष की नाईं, वायु-विध्वस्त अर्णवपात के समान, भूपतित गृह-भित्ति के सदृश, ध्वंसावशेष नगर की नाईं मैं जीता हूँ; बिना शर्मिष्ठा के शून्य, पापी जीवन को वहन करता हूँ। अब यह वृषपर्वा, उसका यह राज्य, यह प्रासाद, यह जीवन—सब वैसे ही नीरस, शुष्क, असार और शोभा-हीन हैं। उस समय, जब प्राणप्यारी पुत्री शर्मिष्ठा यहीं घूमती-फिरती, शोभा विकीर्ण करती, अपने मुख-दर्शन और प्रेमपूर्ण वाक्-कलाप से हमारे हृदय-गह्वर को मनोरम और विकसित बनाती थी, तब यह सब आलोकित थे। उस समय यहाँ सुख की तरंग, आनन्द की लहर, हास्य-शोभा की धारा प्रस्रवित और प्रस्फुटित होकर शोभा विकीर्ण करती हुई प्रवाहित होती थी। उस समय यह सब भी नन्दन-कानन के समान थे, परन्तु अब कुछ नहीं हैं। बिना शर्मिष्ठा के सब व्यर्थ हैं। शर्मिष्ठा ही वह पारिजात थी, वह कल्पवृक्ष थी, जो इस राज्य को नन्दन-कानन के समान ही हराभरा और सरस बनाए हुए थी। परन्तु वह पारिजात अब नहीं रहा, वह कल्पवृक्ष अब उखड़ गया, तो वह वृषपर्वा भी, उसका वह राज्य और प्रासाद भी अब वह नहीं रहा; अब सब नीरस, सब शून्य, सब सार-शोभाहीन, सब जर्जरित है। सम्मान्वित होकर अब क्या होगा? राज्य-वैभव

रखकर अब क्या करूँगा? ऐश्वर्य्य अब किस काम आयेगा? कौन इसे देखेगा? कौन सम्भालेगा? कौन भोग करेगा? राज-विस्तार किस लिये करूँ? यश किस लिये कमाऊँ? रक्तपान क्यों करूँ? बिना शर्मिष्ठा के अब तो सब छोड़कर, सब त्यागकर, सब पर पदप्रहार करके जीवन समाप्त कर देने को जी चाहता है। हा शर्मिष्ठा! प्रिय पुत्री शर्मिष्ठा!! आज तेरे बिना मैं कैसी दुखभरी यंत्रणा, असह्य मनोवेदना, मर्मान्तकारी क्लेश वहन कर रहा हूँ, सो क्या तू नहीं देखती बेटी?"

शर्मिष्ठा ने आगे बढ़कर पिता के चरण स्पर्श किये; मंत्री को प्रणाम किया। देखकर राजा स्तम्भित हो रहे। यह तो शर्मिष्ठा ही है। विश्वास नहीं हुआ, दृष्टिभ्रम जान पड़ा। आँखों को मला; फिर देखा; परन्तु यह क्या! सत्य ही उनके सामने शर्मिष्ठा खड़ी हुई है। उन्हें बड़ा हर्ष, विस्मय और आनन्द हुआ। यह क्या असम्भावित बात? शर्मिष्ठा यहाँ कैसे? कहीं स्वप्न तो नहीं है? हर्षातिरेक के कारण राजा से बोला नहीं गया, शर्मिष्ठा को आशीर्वाद तक देना भूल गये।

जब प्रकृतिस्थ हुए, तब उठकर शर्मिष्ठा को हृदय से लगा कर, पुत्री को आशीर्वाद देते हुए हर्ष-गद्गद्-कण्ठ से स्नेह-स्निग्ध मनोहर स्वर में पूछा—" शर्मिष्ठा!! बेटी! तू यहाँ कैसे? क्या देवयानी ने तुझे दासीत्व से मुक्त कर दिया? तू सचमुच मेरी शर्मिष्ठा, प्यारी शर्मिष्ठा, हृदय दुलारी शर्मिष्ठा है?"

शर्मिष्ठा ने कहा—" हाँ पिताजी! मैं आपकी शर्मिष्ठा ही हूँ। आपका आशीर्वाद सफल होकर मेरा भाग्य-परिवर्तन हुआ है। दासी से मैं राजरानी हुई हूँ। मैं अब तीन पुत्रों की माता, महाराज की धर्मपत्नी, उनकी राजमहिषी हूँ।"

वृषपर्वा के नेत्रों में प्रेमाश्रु उमड़ आए। आनन्द-विह्वल-हृदय से हर्षसूचक स्वर में उन्होंने कहा—"आज तू महाराज ययाति की सहधर्मिणी—राजमहिषी और राजमाता है ! पति-पुत्रवती, सौभाग्यवती रमणी है !! अहोभाग्य !!!"

शर्मिष्ठा ने कहा—" हाँ पिताजी ! आपके आशीर्वाद से मैं आज दासी से राजरानी हुई हूँ। परन्तु एक दुख मुझे अब भी है। महाराज की मुझ पर कृपा होते देख कर देवयानी क्रोध करके, रूठ कर चली आई है। मैं उसी को मनाने आई हूँ। उसे मना कर, लेजा कर उसका सिंहासन उसे देने आई हूँ।"

सुनकर वृषपर्वा ने भाव-विह्वल-हृदय से प्रेमपूर्ण वाणी में शर्मिष्ठा से कहा—" आज यह दूसरी वार तेरे कारण मेरा सिर ऊँचा हुआ। इस सौभाग्य में भी यह त्याग ! यह निःस्पृहता !! धन्य है तुझे !!! मंत्री ! पुत्री शर्मिष्ठा सत्य ही देवी है, अति उच्च और महत् है, उसकी समता नहीं है, वह अतुलनीय है।"

मंत्री ने कहा—" निस्सन्देह महाराज !"

शर्मिष्ठा ने कहा—" पिताजी ! आपके आशीर्वाद से मेरी विजय हुई है: दुख में भी मुझे सुख प्राप्त हुआ है। आज मैं अनुभव कर रही हूँ, कि मैं आपकी पुत्री हूँ। अब आज्ञा और आशीर्वाद दें कि, मैं देवयानी को लौटा ले जाकर, उसे पति के वामपार्श्व में बैठाकर, दोनों की चरण-सेवा करती हुई जीवन को धन्य और सार्थक बनाऊँ।"

कहकर पिता को प्रणाम कर शर्मिष्ठा वहाँ से चली गई। मंत्री और राजा प्रेमपूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखते रह गये।

---

(५)

शाप

सन्ध्याकालीन अरुणिमा से दिशाएँ राग-रंजित हो रही थीं, आश्रम की गउएँ चर कर लौट आई थीं, और आनन्दपूर्वक वृक्षतले बैठकर, नेत्र मूंद कर जुगाली कर रही थीं। शुक्राचार्य ने यज्ञकाष्ठ संग्रह करके सायं-संध्या के लिये कमण्डलु हाथ में उठाया ही था, कि इतने ही में देवयानी ने पीछे से पुकारा—

"पिताजी !"

चिरकाल से शुक्राचार्य ने इस सम्बोधन को नहीं सुना था; बहुकाल-पर्यन्त यह प्रिय-सम्बोधन उनके स्मृति-राज्य को मन्थन करके उनके लिये युगपत् अमृत और गरल की सृष्टि करता रहा है। आज फिर उस प्रिय-सम्बोधन को सुनकर उस संसार-वासना-मुक्त, विश्वत्यागी ऋषि का मन पुलकित हो उठा। उस पुलकावलि में भूलकर, विस्मय के कारणों की भी उपेक्षा करके, महर्षि ने देवयानी को हृदय से लगा लिया। बिना इस बात का विचार किये ही कि, इस प्रकार असम्भावित भाव से आज दैवात् राजराजेश्वरी पुत्री देवयानी उनके आश्रम में कैसे आई, वे उसके ऊपर चिरकालीन पुञ्जीभूत स्नेहाशीर्वाद की अजस्र वर्षा करने लगे।

प्रकृतिस्थ होने पर विचार किया, तो उनकी दिव्य दृष्टि के समक्ष कोई रहस्य, कोई घटना, कोई बात अनुन्मुक्त न रही, एक एक करके सभी बातों को जानकर उन्होंने हृदयगंम कर लिया। विचार कर उनका हृदय दहल उठा, वे कमण्डलु रख कर वहीं पृथ्वी पर बैठ गए।

पिता के समीप ही बैठकर देवयानी ने उनसे कहा—" पिता-

जी ! मैं फिर आपके पास आश्रम में लौट आई हूँ, अब वहाँ कभी नहीं जाऊँगी। विप्र-दुहिता होकर मैं क्षत्रिय के गृह में मन न लगा सकी।

शुक्राचार्य ने कहा—"सब जान चुका हूँ अभागिन ! पहले ही मना किया था; परन्तु तूने ध्यान नहीं दिया। बता, अब क्या करेगी ?"

देवयानी ने उत्तर दिया—"और क्या करूँगी पिता जी ! आपकी चरण-सेवा करती हुई शेष जीवन बिता दूँगी, और फिर से ब्राह्मणत्व प्राप्त करने की चेष्टा करूँगी।"

शुक्राचार्य ने स्वर को तनिक भारी करके रोष-कषाय-कण्ठ से उससे पूछा—"और यदि अब मैं भी तुझे शरण न दूँ ?"

"तो," देवयानी ने दृढ़ अटल स्वर में उत्तर दिया, "प्राण दे दूँगी; परन्तु अब वहाँ लौटकर नहीं जाऊँगी। ओह ! कितनी अनर्गल और असह्य बात है ! कितनी दुखद पीड़ा है !! कैसी कठोर यातना है !!!, महाराज ने धर्म की मर्यादा न मानकर आपके निषेध की अवहेला करके मेरी दासी को मुझसे बढ़कर सौभाग्यवती बनाया है। शर्मिष्ठा राजा से तीन पुत्र प्राप्त करके मुझसे बढ़ गई ! उफ़ !! इस अपमान का प्रतिशोध चाहिये पिता जी ! इस दुष्कर्म का प्रतिफल आपको राजा को देना ही होगा।"

शुक्राचार्य ने कहा—"वे तेरे स्वामी हैं देवयानी ! सो क्या भूल गई ?"

देवयानी ने उत्तर दिया—"भूल नहीं गई हूँ पिता जी ! परन्तु मेरा मन अब उन्हें स्वामी कहकर स्वीकार नहीं कर सकता। उन्होंने शर्मिष्ठा को प्रेम किया है, उसे प्रेयसी बनाया है; मैं अब उन्हें घृणा करती हूँ।"

"घृणा करती है उन्हें," शुक्राचार्य ने कहा—"जो तेरे जीवन के सम्बल हैं, तेरे शरीर के स्वामी हैं, तेरे नारी-जीवन की गति, तेरे तारण-तरण, जीवन-मरण के चिरसंगी, तेरे भोक्ता, आधार, पति, परमेश्वर, आराध्य और देवता हैं; जिनकी चरण-सेवा ही तेरी मोक्ष का कारण, तुझे आनन्द देनेवाली और भव-सागर से पार ले जाने वाली है; जो हर काल, हर दशा में तेरे पूज्य, गुरु, आदर-मान के पात्र और तेरे शरीर के अधिकारी हैं; उन्हीं स्वामी को, परमपूज्य पति, आराध्य देव को तू घृणा करती है देवयानी? छिः !!!"

पिता के कथन का देवयानी के ऊपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की ज्वाला से उसका हृदय भस्मीभूत हो रहा था, बदले की अग्नि उसके हृदय के भीतर धधक रही थी। बोली—"आप मेरे पिता हैं, मैं आपकी अभागी पुत्री हूँ। आप मुझ पर दया करें पितः! मेरे अपमान का बदला लें।"

शुक्राचार्य ने धीर-गम्भीर-कण्ठ से उससे पूछा—"क्षमा की महिमा क्या अब भी समझ में नहीं आई देवयानी? शान्ति, शीलता, और त्याग के महत्व को क्या अब भी नहीं पहचाना अभागी ढीठ लड़की?"

देवयानी के लोचन अरुण हो उठे; उन्मत्त की नाई चीत्कार करके उसने कहा—"समझूँगी पिता जी! समझूँगी। इसके उपरान्त समझूँगी। इस बार तो आप और मुझ पर दया करें, मेरी हठ को रखें। यह मेरी अन्तिम प्रतिहिंसा है। फिर कोई वासना न रह जायगी, कोई क्रोध, लोभ, और प्रतिहिंसा न रह जायगी। बस।"

कहकर देवयानी रो पड़ी। शुक्राचार्य से यह देखा न

गया, उनके नेत्रों में भी जल उमड़ आया। पुत्री को हृदय से लगाकर उन्होंने कहा—"रो मत देवयानी ! बता, क्या प्रतिशोध चाहती है?

पिता के हृदय से लगे ही लगे देवयानी ने कहा—"प्राण-हरण की आवश्यकता नहीं है। कुछ ऐसा दण्ड दीजिये, जिसकी यातना से राजा भी दिन-रात उसी प्रकार जला करें, जैसे उन्होंने शर्मिष्ठा को प्रेम करके मुझे जलाया है। उन्होंने शर्मिष्ठा के रूप-यौवन पर मत्त होकर मुझे दुख दिया है, ऐसा हो कि, शर्मिष्ठा का वह रूप-यौवन ही उनके लिये निष्फल हो जावे। वे उसका भोग न कर सकें, और उसे देख देख कर अहर्निशि स्वतः जलते रहें, यातना से मरणप्रायः होते रहें।"

शुक्राचार्य ने कहा—"अच्छी बात है, यही होगा। सुन, मैं राजा को आजन्म जरा का शाप देता हूँ। मैं अभिसम्पात करता हूँ कि, राजा जराग्रस्त होकर मरण-पर्यन्त बूढ़ा बना रहे, और यौवन के सुख-भोग से वंचित रहे। पृथिवी के आहार-विहार, धनैश्वर्य, भोग-सम्भोग, आनन्द-विलास, किसी का लेशमात्र भी उपभोग न कर पावे, विन्दु मात्र भी सुख प्राप्त न कर सके।"

सुनते ही देवयानी प्रसन्नता से गद्गद् हो उन्मत्तवत् चिल्ला उठी—'ठीक! ठीक!! क्या ही अपूर्व बात है! बड़ा मज़ा रहेगा!! खूब आनन्द आयेगा!!!'

देवयानी और शर्मिष्ठा को गमन करते देखकर राजा ययाति से भी नहीं रहा गया था, वे भी शर्मिष्ठा के पीछे पीछे दैत्य-देश को चल दिये थे, और ठीक उस समय शुक्र-आश्रम में पहुँचे, जिस समय देवयानी ने कहा—"बड़ा मज़ा रहेगा, खूब आनन्द आयेगा।" उन्होंने आते ही महर्षि को प्रणाम किया, और देवयानी से पूछा—"कैसा आनन्द रहेगा रानी?"

देवयानी ने कोई उत्तर न दिया; वह मुख फेर कर खड़ी हो गई। राजा को देखकर शुक्राचार्य का हृदय क्षोभ से भर गया। उन्होंने क्रोधकण्ठ से राजा से पूछा—"तुमने यह क्या अधर्म कर डाला राजन्? मेरे मना कर देने पर भी तुमने शर्मिष्ठा को अपनी अंकशायिनी बना कर मेरी पुत्री देवयानी का अनिष्ट और अप्रिय क्यों किया? देवयानी के सिवा किसी अन्य स्त्री—विशेषतः शर्मिष्ठा को पत्नीरूप से ग्रहण करने के लिये तुम मेरे सामने प्रतिज्ञाबद्ध थे। यदि तुम्हें ऐसा करना ही था, तो मुझसे आज्ञा प्राप्त करके तब उसके साथ विवाह करते, बिना मेरी आज्ञा के यह कार्य करके तुमने अधर्म और मिथ्या-आचरण किया है, मेरे निषेध की अवहेला कर मेरा मान भङ्ग किया है।"

राजा चुप रहे, उन्हें कोई उत्तर देते नहीं बना। तब शुक्राचार्य ने उनसे फिर कहा—"जानते हो राजन्! इस आचरण के लिये मैंने तुम्हारे लिये किस दण्ड की व्यवस्था की है? मैंने अपनी पुत्री के प्रार्थना करने पर तुम्हें आजन्म जरा का शाप दिया है, कि जिससे तुम शर्मिष्ठा के उस रूप-यौवन का भोग न कर सको, जिसके वशीभूत होकर तुमने मेरी दुहिता का अहित किया है। इसके सिवा इस प्रतिज्ञा-भङ्ग की दूसरी शास्ति नहीं हो सकती। मेरे शाप से तुम अपनी राजधानी को लौट कर प्रासाद में पहुँचते ही बूढ़े हो जाओगे, और अपनी रूप तृष्णा को…… ,"

महर्षि शुक्राचार्य के इतना कहते कहते पिता से बिदा लेकर देवयानी को मनाने की इच्छा से आ रही शर्मिष्ठा वहाँ पहुँच गई, और उसने शुक्राचार्य के यह शब्द सुने—"तुम अपनी राजधानी को लौटकर प्रासाद में पहुँचते ही बूढ़े हो जाओगे, और अपनी रूपतृष्णा को।" शर्मिष्ठा राजा को वहाँ खड़े देखकर तुरन्त ही सब रहस्य समझ गई; उसने जान लिया कि, देवयानी ने कोप

करके गुरुदेव से महाराज को आजन्म जरा का शाप दिलाया है। इसलिये शुक्राचर्य की बात पूरी होने से पूर्व ही बीच में बाधा देकर शर्मिष्ठा ने दूर ही से कर जोड़कर महर्षि से कहा—"गुरुदेव! क्षमा!! क्षमा करें गुरुदेव! मेरे ऊपर दया करें; इस कठोर दण्ड से महाराज की रक्षा करें। यह सर्वनाश निवारण करें, सती-पति पर दया करें। गुरुदेव! मैं आपके चरण पकड़कर प्रार्थना करती हूँ, महाराज को क्षमा करदें, बूढ़े होने का शाप न दें। मैं उसे सहन न कर सकूँगी"।

कहते कहते शर्मिष्ठा ने झट आगे बढ़ कर शुक्राचार्य्य के चरण पकड़ लिये। बोली—"मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ देव! आप इस शाप से महाराज को बचावें: मुझ पर दया करें। मुझे राजरानी बनने की लालसा नहीं है, न राजभोग की ही स्पृहा है। मैं राजमहिषी भी नहीं बनना चाहती। मैं इन सब को त्याग कर सिंहासन पर महाराज और देवयानी को बैठा कर आजन्म उनकी चरण-सेवा करती रहूँगी। परन्तु आप उस दुख से महाराज को बचावें—मेरे लिये, देवयानी के लिये, छोटे छोटे राजकुमारों के लिये।"

कहते कहते गम्भीर वेदना से शर्मिष्ठा रो पड़ी। शुक्राचार्य्य का हृदय द्रवीभूत हो गया। उन्होंने बाँह पकड़कर चरणतले से शर्मिष्ठा को उठा लिया, और उसे ढाँढस देते हुए उन्होंने कहा—"सुस्थ हो बेटी! रो मत, धैर्य्य धारण करो। यह कातरता तुम्हें शोभा नहीं देती शर्मिष्ठा! पिता की मर्याद-रक्षा और देश के कल्याण के लिये राजकन्या होकर तुमने दासीत्व स्वीकार किया था; अब अन्तिम परीक्षा के समय कातर होकर सब नष्ट मत कर दो पुत्री!"

सजल-लोचनों से शर्मिष्ठा ने उत्तर दिया—"क्या करूँ

आचार्य्य ! अब तक सब सहन करती आई हूँ. परन्तु यह बात अब सहन नहीं कर सकती हूँ। पति की दुर्दशा नेत्रों से देख न सकूँगी। आप धर्म के अवतार हैं; मुझपर अनुग्रह करें; राजा का शाप लौटा लें। आपको सब सामर्थ है आचार्य्य ! आप सर्वसामर्थ्यवान, दया के सागर, पुराय की प्रतिमा, स्वर्ग के देवता हैं। इच्छा कर लेने पर सब कुछ कर सकते हैं। महाराज मेरे स्वामी, इहकाल और परकाल के तारण-तरण, मेरे नारी-जीवन की गति, मेरे देवता, जीवन-सर्वस्व, ईश्वर और आधार हैं। मैं स्त्री होकर स्वामी का—उनका दुख देख न सकूँगी। जगत में स्त्री के लिये स्वामी ही सब कुछ है। सती पति की दुर्दशा को मरण से भी बढ़कर समझती है। आप इस सर्वनाश को निवारण करें आचार्य्य ! मैं तीव्र यंत्रणा से भीतर ही भीतर जलती रही हूँ, अब क्षमा करें गुरुदेव ! राजा को बूढ़ा होने का शाप न दें।"

शर्मिष्ठा फिर रो दी। शुक्राचार्य्य से अब रहा न गया; उनके नेत्रों में भी जल भर आया। वाष्प-गद्गद्-कराठ से उन्होंने शर्मिष्ठा से कहा—"त्रिलोक में आर्य-नारी के महत्व का उदाहरण और कहीं भी प्राप्त नहीं होता। पति कामी हो या जितेन्द्रिय; क्रोधी हो या शान्त; लोभी हो या त्यागी; दीन हो या धनवान; सच्चरित्र हो या दुश्चरित्र; सामर्थ्यवान हो या असमर्थ; भाग्यवान हो या अभागा; रुग्ण हो या स्वस्थ; घृणित हो या मोहक; मोहान्ध हो या ज्ञानी; निर्गुण हो या गुणवान; अहंकारी हो या उदार; असत् हो या सत्; आर्य-ललना सदा यही समझ कर प्रसन्नता-पूर्वक पति की सेवा करेगी कि, 'मेरे पति मेरे ही हैं; वे कैसे ही हैं, मेरे लिये सब से अधिक पूज्य हैं।' इसी उत्तम सती-भाव और पति-प्रेम को हृदय में धारण करके आर्य-ललना आर्य-

ललना होती है। इस निःस्वार्थ पति-प्रेम को प्राप्त करके सती आर्य-ललना अपने पति का सब प्रकार से कल्याण करने की उपयोगी शक्तियों को स्वतः ही प्राप्त करके ब्रह्मशक्ति महामाया के तुल्य ही पूजनीय और जगन्माया रुद्रशक्ति के समान सर्वशक्तिवती बन जाती है। शर्मिष्ठा, पतिव्रता शर्मिष्ठा भी अपने पति-प्रेम और पति-भक्ति के कारण वैसी ही सर्वसामर्थ्यवान बन गई है। उसका पुण्य-चरित्र अति पावन चरित्र है। उसके पुण्य के तेज और शक्ति के सामने आज मैं और मेरा ब्रह्मत्व भी निर्बल और निस्तेज हो रहा है। मैं शर्मिष्ठा के सामने सिर झुकाता हूँ। देवयानी! देखती है पति-भक्ति के महत्व को?"

देवयानी ने कोई उत्तर नहीं दिया, भ्रूसंकुचित भी नहीं किया। वह जिस प्रकार गर्वोन्नत ग्रीवा किये खड़ी थी, खड़ी रही। वह तो प्रतिहिंसा से जल रही थी। सती-नारी के महत्व का उसके लिये मूल्य क्या? पुत्री के भाव को देखकर शुक्राचार्य का हृदय क्षोभ और दुख से भर गया; घृणा और तिरस्कार से परिपूर्ण हो गया। उसी के कारण तो उन्हें आज इतना नीचा देखना पड़ा है, यह कुदिन देखने को मिला है। धिक्कार है उस वात्सल्य-प्रेम को जो मनुष्य को मोहान्ध बना कर्त्तव्यच्युत बना देता है, तिरस्कारयुक्त नीचा दिखाता है!!

शुक्राचार्य ने कहा—"सच है, जहाँ सती के चरण पड़ते हैं, वहाँ देवता भी नेत्र बिछाते हैं। सतीत्व-बल के आगे सब बल निर्बल और तुच्छ हैं, निस्सार और शक्तिहीन हैं। ब्रह्मबल के सम्मुख क्षत्रियबल पराजित हुआ था; और आज सतीबल के सामने ब्रह्मबल भी परास्त होता है, और सदैव परास्त रहेगा। सतीबल की समता और सामना कोई भी बल नहीं कर सकेगा; विश्व-ब्रह्माण्ड की कोई भी शक्ति नहीं—यह निश्चय है। इसका

प्रमाण मैंने आज पूर्णरूप से प्राप्त कर लिया। पुत्री! शर्मिष्ठा!! तू रमणी नहीं, स्वर्ग की देवी है; मर्त्यलोक की नहीं, अमरपुर की—उससे भी ऊपर कोई पुण्य और महत् लोक हो, उस लोक की है। तूने आज मेरे नेत्र खोल दिये, मेरा मोह दूर कर दिया, मुझे सचेत कर दिया। मैं ब्राह्मण होकर भी ब्राह्मण नहीं हो सका, ऋषि होकर भी क्रोध न छोड़ सका, त्यागी होकर भी ममता दूर न कर सका, मुनि होकर भी मोहपूर्ण कलुषित-कालिमा को नहीं त्याग सका। तेरे पुण्य के तेज से आज मैं निर्बल हो रहा हूँ। बेटी! तुम कितनी उच्च हो, कितनी पवित्र हो, कितनी महत् हो, कितनी क्षमाशील और निःस्पृह हो, सो तो मैं उसी दिन जान गया था, जिस दिन तुमने पितृराज्य की रक्षा के हेतु आजन्म दासीत्व ग्रहण किया। और आज मैं यह भी जान गया कि, तुम कितनी उदार हो, कितनी साध्वी हो, कितनी सती-बल से बलवती हो, कितनी त्यागिनी हो, कितनी निर्मल-हृदया और प्रेमवती हो; कितनी करुणामयी हो, कितनी विवेकपूर्णा हो, कितनी पतिव्रता हो। आज तुम्हारे आगमन से मेरा आश्रम पवित्र, और मैं धन्य हुआ हूँ। मैं तुम्हारे सतीत्व और पुण्यप्रताप, और पतिभक्ति के आगे सिर झुकाता हूँ। बेटी! तेरी विजय हुई। दिया हुआ शाप सत्य तो होगा ही; राजा अवश्य बूढ़े होंगे। तथापि उसके दूर होने की मैं यह व्यवस्था किये देता हूँ कि, यदि राजा का कोई पुत्र उन्हें अपनी तरुणाई देकर उनका बुढ़ापा ले लेगा, तो राजा फिर युवा हो जावेंगे। और उन्हें कोई पाप न होगा।"

सुनकर शर्मिष्ठा ने आचार्य के चरणों में प्रणाम किया। राजा ने भी प्रणाम किया। शुक्राचार्य ने दोनों को आशीर्वाद देकर विदा किया।

शर्मिष्ठा ने चलते चलते देवयानी से पति-गृह को चलने के लिये बहुत कुछ कहा सुना, अनुरोध किया, अनुनय विनय की ; परन्तु देवयानी किसी प्रकार जाने के लिये सहमत नहीं हुई। बोली—" अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी शर्मिष्ठा ! सिंहासन अब मेरा नहीं, तुम्हारा है। तुम जाकर उसका भोग करो। "

शर्मिष्ठा अकेली ही महाराज ययाति के साथ पतिदेश को गई, और जाते समय देवयानी से कह गई, "तुम मन यहाँ भी न लगा सकोगी देवयानी ! अवश्य वहाँ आओगी। "

शुक्राचार्य को प्रणाम कर दोनों ने प्रस्थान किया। उनके चले जाने पर देवयानी ने कहा—" पिताजी ! अब मुझे कोई दुख नहीं है; कोई चिन्ता, कोई क्षोभ, कोई लालसा, कोई क्रोध, कोई ईर्ष्या, कोई द्वेष, कोई प्रतिहिंसा नहीं है। अहा ! कैसी आनन्द रहेगा तब, जब राजा बूढ़े होकर पुत्रों से यौवन की भिक्षा माँगेगे !! जी चाहता है, जाकर एक बार इस दृश्य को देखूँ।

शक्राचार्य ने क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देवयानी की ओर देखा। बोले—" शैतान लड़की ! सती की मर्यादा क्या अब भी समझ में नहीं आई ? क्षमा के महत्व को क्या अब भी नहीं पहचाना ? "

देवयानी ने उसी प्रकार अवहेला-पूर्वक कहा—" सच पिता जी ! अब मुझे कोई क्रोध नहीं है। मेरी प्रतिहिंसा पूर्ण हो गई है। तथापि एक बार बूढ़े राजा को अवश्य देखूँगी। मैं उस आनन्द को देखे बिना रह न सकूँगी, उस प्रबल इच्छा को दबा न सकूँगी। मैं वह तमाशा देखने के लिये वहाँ जाती हूँ। प्रणाम !!! "

देवयानी चली गई। शुक्राचार्य क्रोध, क्षोभ, घृणा और तिरस्कार से जाती हुई अबाध्य पुत्री की ओर देखते रह गये। इच्छा करने पर भी वे उसे रोक न सके।

यौवन-विनिमय

राजधानी पहुँचते ही राजा ययाति बूढ़े हो गये। उन्होंने एक दिन पुत्रों को बुलाकर अष्टादशवर्षीय ज्येष्ठ पुत्र यदु से कहा—"बेटा! तुम्हारे नाना महर्षि शुक्राचार्य्य के शाप से मैं अकाल ही में वृद्ध हो गया हूँ। किन्तु युवावस्था के सुखभोग से अभी मेरी तृप्ति नहीं हुई है; राज्यकार्य के करने में भी अब मैं इस जरा के कारण असमर्थ हूँ। इस लिये राज्य की कल्याण-कामना, और मेरी स्थिति का विचार करके मेरे इस अकाल जरा को तुम ले लो, और अपनी तरुणाई मुझे दे दो; जिससे मैं पहले जैसे ही भलीभाँति राजकाज देख सकूँ, और युवावस्था के सुख को पूर्ववत् भोग सकूँ। प्राकृतिक बुढ़ापा आने पर मैं तुम्हारा यौवन फिर तुम्हें देकर अपनी जरा ले लूँगा।"

यदु ने उत्तर दिया—"पितः! क्षमा करें। मैं आपका बुढ़ापा लेकर अपनी तरुणाई आपको दे न सकूँगा। बुढ़ापे में भली भाँति खाया-पिया नहीं जाता, पाचन-शक्ति ठीक नहीं रहती, अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर सताने लगते हैं, युवावस्था जैसा सुख-भोग नहीं किया जा सकता, दूसरे के आश्रय रहना पड़ता है, बाल श्वेत पड़ जाते हैं, मुख पर झुर्रियाँ पड़ कर दृष्टि-कटु बना देती हैं, जीवन का आनन्द जाता रहता है, शरीर निर्बल और अशक्त हो जाता है, रूपाकार में अन्तर पड़ जाता है, किसी कार्य के करने की सामर्थ्य नहीं रहती, इष्ट-मित्र और संगी-साथी घृणा करने लगते हैं। ऐसा अनिष्ट करनेवाले आपके बुढ़ापे को मेरा यह कोमल शरीर धारण

न कर सकेगा। इस विकट जरा को वहन करने में मैं समर्थ न हो सकूँगा पितः!"

यदु का उत्तर सुनकर राजा अवाक् रह गये। कुपित-स्वर में उन्होंने यदु से कहा—"आश्चर्य है! यही तुम्हारी पितृ-भक्ति है? जाओ, मेरे हृदय से उत्पन्न होकर भी जब तुम मुझे अपनी अवस्था नहीं दे सकते, तो तुम और तुम्हारे वंशज मेरे राज्य से वंचित रहेंगे; राजगद्दी के अधिकारी न होंगे।"

यदु वहाँ से चला गया। राजा ने देवयानी के द्वितीय पुत्र षोडष वर्षीय तुर्वसु को समीप बुलाकर उससे कहा—"बेटा तुर्वसु! तुम्हीं मेरी जरा लेकर अपनी तरुणाई मुझे दे दो। मैं राज-भोग का सुख भोग कर प्रकृत-जरा आती हुई देख कर तुम्हारी तरुणाई तुम्हें लौटा दूँगा।"

तुर्वसु ने उत्तर दिया—"पिता जी! मैं बुढ़ापा लेना नहीं चाहता। बुढ़ापा आने पर काम-भोग की शक्ति, बल, रूप, और शरीर का नाश हो जाता है। मन दुर्बल और इन्द्रिय शिथिल पड़ जाती हैं, शरीर-शक्ति क्षीण हो जाती है; कोई आदर नहीं करता, सभी मृत्यु की कामना किया करते हैं। आप मुझे क्षमा करें; ऐसी दुखदाई, अपमानकारिणी जरा को मैं ले न सकूँगा।"

राजा ने क्रोध करके कहा—"मेरे शरीर से उत्पन्न होकर भी तुम मुझे अपनी तरुणाई नहीं दे सकते, तो तुम्हारा वंश भी न चलेगा; और तुम अत्यन्त संकीर्ण विचारवाले, नीचाशय, कुटिलाचारी होगे। नीच-जातीय होकर उच्चजाति की कन्या में सन्तान उत्पन्न करनेवाले मांसभक्षी, चाण्डाल, गुरु-पत्नी-गामी, पशुवत् आचरण करनेवाले, पापी म्लेच्छों के राजा होकर अकीर्ति और अयश कमाओगे।"

तुर्वसु वहाँ से उठकर चला गया। तब राजा ने समीप ही बैठे हुए शर्मिष्ठा के प्रथम पुत्र द्वादशवर्षीय द्रुह्यु से कहा—"पुत्र द्रुह्यु! इस रूपरँग मिटानेवाले मेरे बुढ़ापे के लेकर प्रकृत जरा आने के समय तक के लिये अपनी तरुणाई मुझको दे दो। सुख भोग करने के उपरान्त यथा समय आई हुई जरा देखकर मैं तुम्हारी तरुणाई तुम्हें लौटाकर अपनी जरा ले लूँगा।"

द्रुह्यु ने उत्तर दिया—"पिता! वृद्ध पुरुष हाथी, घोड़े, रथ, राज्य, स्त्री, वाहन और अन्य सांसारिक पदार्थों का सुख-भोग नहीं कर सकता। उसका शरीर, स्वर और सिर काँपने लगता है, चलते चलते गिर पड़ता है, कोई साथ नहीं देता। ऐसे बुढ़ापे को मैं लेना नहीं चाहता महाराज!"

यह उत्तर सुनकर राजा ने द्रुह्यु को शाप देते हुए कहा—"मेरे शरीर के खण्ड होकर भी तुम मुझ से अपनी युवावस्था का परिवर्तन नहीं कर सकते, तो तुम्हारी भी कभी कोई इच्छा पूर्ण न होगी; और तुम ऐसे देश में जाकर, जिसके मार्गों में अश्व, हस्ती, रथ, पालकी, पशु और वृषभादि वाहन नहीं चल सकते, मनुष्य केवल डोंगियों पर चढ़कर घूमते हैं, वहाँ के राज्य के नाममात्र के राजा कहलाओगे। तुम्हारा कभी विवाह ही न होगा; होने पर भी तुम स्त्री-सुख का भोग न कर सकोगे।"

द्रुह्यु को इस प्रकार शाप देकर राजा ने तुरीय पुत्र दश-वर्षीय अनु से कहा—"वत्स अनु! तुम मेरी जरा लेकर अपना तारुण्य मुझे दे दो। मैं उससे इच्छानुसार सुख-भोग उपलब्ध करके यथासमय आनेवाली जरा को पाकर तुम्हारा तारुण्य तुम्हें लौटा दूँगा।"

अनु ने उत्तर दिया—"महाराज! बूढ़ा मनुष्य बच्चों की

भांति क्षुधा-तृष्णा सहन नहीं कर सकता; उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, प्रकृति बिगड़ जाती है, बुद्धि लोप हो जाती है, दृष्टि मलिन पड़ जाती है, काशादि श्लेष्मापूर्ण रोग उत्पन्न होकर सदा अपवित्रता घेरे रहती है, अग्निहोत्रादि धर्म-कार्य भी यथानुसार ठीक समय पर नहीं किये जा सकते। अतः मैं आपका बुढ़ापा लेकर उसे वहन करने में समर्थ न हो सकूँगा; आप मुझे क्षमा करें।"

कहकर पिता को किसी बात के कहने का अवसर दिये बिना ही अनु शीघ्रतापूर्वक उठकर वहाँ से चला गया।

राजा ने तब शर्मिष्ठा के सबसे छोटे पुत्र; किन्तु सबसे अधिक गुणवान बालक पुरु से कहा—"तात पुरु! तुम मेरे सब से छोटे, सब से प्यारे और सब से अधिक समझदार पुत्र हो। भला बेटा! बताओ तो, पिता कौन होता है?"

पुरु ने उत्तर दिया—"नरनाथ! जिसके शरीर से यह शरीर उत्पन्न होता है, और जिसकी कृपा से परमपद की प्राप्ति होती है, वह पिता ही सब कुछ है। पितः! धर्म, स्वर्ग, तप, जो कुछ हैं, पिता ही हैं। पिता के प्रसन्न होने से सब देवता प्रसन्न होते हैं।

पिता स्वर्गः पिता धर्मः पिताहि परमं तपः।
पितरि प्रीतमापन्ने प्रियन्ते सर्व देवताः।"

राजा ने कहा—"ठीक समझा है तुमने बेटा! तुम जैसे सुपुत्रों के मुख से ही ऐसे वाक्य सुन पड़ते हैं। परन्तु बताओ तो बेटा! पिता की आज्ञा पालन करने में तुम कहाँ तक आत्म-त्याग कर सकते हो?"

पुरु ने उत्तर दिया—"आप आत्मत्याग की बात कहते हैं; मैं सर्वस्व तक त्याग सकता हूँ; शरीर और प्राणों तक का त्याग कर सकता हूँ।"

राजा ने कहा—" यदि पिता ही सर्वस्व-स्वरूप है, और पिता के लिये तुम शरीर और प्राणों तक का त्याग कर सकते हो, तो तुम पिता की प्रसन्नता के लिये प्राणों से भी अधिक प्रिय वस्तु का त्याग कर सकते हो ? जो मैं कहूँ, तुम वही करोगे ?

पुरु ने कहा—कर सकता हूँ पिता जी ! कर सकता हूँ । मैं वही करूँगा, जो आप आज्ञा देंगे । आपकी आज्ञा का पालन मैं मनसा-वाचा-कर्मणा करके करूँगा । जो न करूँ तो, पिता का सच्चा पुत्र नहीं । आपके पवित्र चरणों को स्पर्श करके कहता हूँ कि, आपकी प्रसन्नता और सुख के लिये मैं वही करूँगा, जो आप मुझे आज्ञा देंगे ।"

ऐसा कह कर पुरु ने राजा के चरणों को स्पर्श किया । राजा ने कहा—" जब तुम सौगन्धपूर्वक कहते हो, तो सुनो बेटा ! परन्तु देखो, अपने और भाइयों की भाँति मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके मुझे निराश न कर देना । शुक्र के शाप से मैं अकाल ही में वृद्ध हो गया हूँ । तुम मेरी यह अवस्था ले लो, और अपना यौवन मुझे दे दो । युवावस्था के सुख-भोग करने के उपरान्त प्रकृत-जरा के प्राप्त होने पर तुम्हारी तरुणाई मैं तुम्हें लौटा दूँगा । इससे तुम सब भाइयों में श्रेष्ठ समझे जाकर मेरे आशीर्वाद से इहलोक और परलोक में तुम्हारा यश, कीर्त्ति, और सुख-शान्ति निर्मल और निश्चल, अटल और ध्रुव रहेगी । यथासमय तुम राज्य प्राप्त करके युवावस्था के सुख-भोग करते हुए आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करोगे । इस लोक में तुम्हें अमर यश, अक्षय कीर्ति; और परलोक में सुगति प्राप्त होगी । और जब तक पृथिवी रहेगी, तुम्हारा यश चहुँ ओर चिरव्याप्त रहेगा । "

पुरु ने कहा—" नरनाथ ! इस लोक में कौन पुत्र उस पिता के उपकार का परिशोध कर सकता है, जिसकी कृपा से उसे

यह मानव-देह प्राप्त होता है ? जो पुत्र पिता की विचारेच्छा को उसके बिना कहे आपही से पूर्ण करता है, वह उत्तम है ; जो आज्ञा देने पर पूर्ण करता है, वह मध्यम है ; और अश्रद्धा से पिता की आज्ञा पालनेवाला पुत्र अधम है। किन्तु जो आज्ञा पाकर भी उसे पूर्ण नहीं करता, वह पुत्र कहलाने योग्य ही नहीं है ; उसे पिता का पुरीष कहना चाहिये। मैं आपका पुत्र हूँ, आपके शरीर के खण्डांश से उत्पन्न हूँ, आपकी आज्ञा पालन करना मेरा धर्म है। मैं आपकी जरा लेने को प्रस्तुत हूँ; आप मेरी तरुणाई लेकर जो भर कर आनन्द भोग कीजिये।"

राजा ने कहा—"बेटा ! तुम्हीं मेरे सच्चे पुत्र हो। मेरे आशीर्वाद से तुम चिरंजीव होकर चिरकाल तक पृथिवी का शासन करोगे। तुम्हारी सब कामना सफल होंगी, सब मनोरथ सिद्ध होंगे। तुम्हारे राज्य में प्रजा फूलेगी, फलेगी। तुम्हारा वंश पृथिवी पर व्याप्त होगा, और तुम्हारे वंशज तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होकर पृथिवी का राज्य करेंगे। वे पौरव कहलायेंगे।"

पुरु ने आगे बढ़कर पिता के चरण स्पर्श किये ; राजा ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। हर्ष और प्रेम से शर्मिष्ठा का हृदय गद्गद् हो उठा। इतने ही में देवयानी ने झट से वहाँ पहुँच कर पुरु को गोद में उठा लिया, और उसके मुख पर चुम्बनों की निरन्तर वर्षा करने लगी। सब देखकर चकित हो गये। आवेगपूर्ण कण्ठ से देवयानी ने कहा—"बेटा पुरु ! तुम्हीं वंश के दीपक हो, तुम्हीं से कुल की मर्यादा स्थापित होगी, वंश का गौरव बढ़ेगा, माता-पिता का मुख उज्वल होगा। मैं छिपी हुई खड़ी तुम्हारी सब बातें सुन रही थी। तुमने आज मेरे नेत्र खोल दिये हैं ; मेरे हृदय पर दिव्य प्रभाव डाला है। जो कार्य आज तक कोई नहीं कर सका ; शर्मिष्ठा का त्याग और पिता

का उपदेश तक नहीं, वह कार्य तुम्हारी पितृ-भक्ति ने आज कर दिया। मुझे मेरी भूल मालूम हो गई है। मैं आशीर्वाद देती हूँ, ईश्वर तुम्हारा कल्याण और मंगल करेंगे, तुम अक्षय-पुण्य और यश के भागी होगे। तुम पिता की सच्ची सन्तान हो ; आज से तुम शर्मिष्ठा के ही नहीं, मेरे पुत्र भी हुए। मुझे तुम पर गर्व है। यदु और तुर्वसु—क्षुद्र हैं ; वे नारकीय कीट हैं, अधम हैं, अधम से भी अधम हैं।"

पुरु से इतना कह कर उसने शर्मिष्ठा से कहा—"बहिन! शर्मिष्ठा!! तुम मुझे क्षमा करो। मैंने अब तक तुम्हें पहचान कर भी नहीं पहचाना, आजन्म ईर्ष्या और द्वेष रख कर सदैव तुम्हें दुख ही देती रही। आज मैंने तुम्हें पहचान लिया। तुम्हारी विजय और मेरी पराजय हुई है। धन्य हो तुम! ऐसे पुत्ररत्न को प्रसव करके तुम्हारी कुक्षि भी धन्य हुई है। तुम्हारे कारण नहुष-वंश की मर्यादा चिरसुरक्षित होकर अक्षय कीर्ति प्राप्त करेगी। तुम्हारा चिरसुयश पृथिवीमण्डल पर परिव्याप्त होगा।"

राजा से उसने कहा—"देव! आपकी पद-वन्दना करके, आपके चरणों में सिर रख कर आप से क्षमा चाहती हूँ। स्वामी होने पर भी मैंने आपका जो अपमान किया, उसकी इहलोक और परलोक में भी क्षमा नहीं है। जो अभिमान मैंने आपसे किया है, वह अक्षम्य है ; उसका प्रायश्चित नहीं हो सकता है। आप मेरे देवता हैं, ईश्वर हैं, आपके तीर्थरूपी चरणों की सेवा ही मेरे लिये जप, तप, व्रत, नियम और समस्त तीर्थों के दर्शन का पुण्य फल देनेवाली, मेरा उद्धार करनेवाली, मेरे नारी-जीवन को सफल बनानेवाली है, सो मैंने आज पहचाना है। आप महत् हैं, उदार हैं, मेरे प्रभु हैं; आप मुझे क्षमा करें। आप से भिन्न

मेरी अन्य गति नहीं है। अब मैं कहीं नहीं जाऊँगी। आपके चरणों में पड़ी रह कर आपको और बहिन शर्मिष्ठा को सिंहासन पर आसीन कराके, दोनों की चरण सेवा करती हुई पाप का प्रायश्चित करूँगी। अब इसी में मुझे सुख-शान्ति मिलेगी।"

कहकर देवयानी रो पड़ी, वेदना से आतुर होकर झट आगे बढ़कर उसने महाराज के चरण पकड़ लिये, और अपने सिर को उनके चरणों पर रखकर नेत्रजल से उन्हें आर्द्र करने लगी। राजा का सब रोष जाता रहा; उन्होंने देवयानी को उठा कर हृदय से लगा लिया। कहा—"देवयानी! प्रिये!! तुम कोई क्षोभ न करो; जो होना था, हो गया। तुम मुझे उतनी ही प्रिय हो, जितनी शर्मिष्ठा। आज तुम्हें मैं पुनः पाकर परम सुखी हुआ हूँ।"

पति की इस बात को सुन कर देवयानी आनन्द से गद्‌गद् हो गई; उसके नेत्रों में प्रेम और हर्ष के अश्रु उमड़ आए। राजा के चरणों को पकड़े ही पकड़े उसने कहा—"तन-मन से तुम पति—अपने साकार ईश्वर की सेवा करती हुई पाप का प्रायश्चित करके पति-लोक प्राप्त करना ही अब मेरा धर्म होगा। आप पति ही मेरे भगवान् हैं, पति ही परमब्रह्म परमेश्वर हैं—सो मैंने अब खूब समझ लिया है। पति का चरणामृत ही सब तीर्थों का सार है। उसके बिना स्त्री के लिये सारा संसार शून्य है। जो स्त्री पति की आज्ञा का उल्लंघन करती है; पति का अपमान करती है; अथवा पति से अभिमान करती है, उसके समान पापिनी स्त्री इस लोक में और कोई नहीं है—यह बात भी अब मैं भली भाँति समझ गई हूँ। इसीलिये अब मैं आपके श्रीचरणों की सेवा करके अपने पापभार को हलका करूँगी, अपने नारी-जीवन को सम्भालूँगी; अपने स्त्री-जीवन को सार्थक बनाऊँगी। शास्त्र भी कहते हैं कि, स्त्री को धर्म्मार्थ-काम-मोक्ष इन चारों की

प्राप्ति पति-सेवा के द्वारा ही होती है। ऐसा ही निश्चय कर अब मैंने आप—पति के चरणों में अपने मन को लगाया है। आपकी सेवा से ही मुझे परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है। अब यदि, आप पतिदेव के सिवा अन्य देव के लिये मेरे अन्तःकरण में स्थान हो तो, मुझे ब्रह्महत्या का पातक लगे। अब तो आप पति ही मेरे सद्गुरु, देवता और साधन हैं। मुझे अब आप, अपने सनातन ब्रह्मपति की सेवा और आज्ञा ही कृत्य और मान्य हैं।"

इतना कहकर देवयानी के अन्तःकरण को जैसी एक तृप्ति सी हुई। उसने पति के चरणों की धूल उठाकर मस्तक से लगाई, और शीश को उनके चरणों में रखकर पुनः प्रणाम किया। राजा ने कर पकड़कर देवयानी को अपने वाम-पार्श्व में बैठा लिया, और शर्मिष्ठा को उसके समीप बैठाया। फिर महर्षि शुक्राचार्य का स्मरण करके उन्होंने अपना बुढ़ापा पुत्र पुरु को देकर उसका यौवन ले लिया।

चतुर्थ खण्ड

त्याग

त्याग

पुत्र की तरुणाई लेकर राजा ययाति पुनः उत्साहपूर्वक प्रजा-पालन करने, और इच्छानुसार सुख भोग करने में प्रवृत्त हुए। परन्तु कर्त्तव्य-पालन में कभी कोई त्रुटि नहीं की। देवयानी भी अब मन-वाणी-शरीर-द्वारा अनेक उपभोग्य सामग्रियों-सहित पति का प्रिय कर सदा उन्हें प्रसन्न रखने लगी। शर्मिष्ठा को भी वह अब सहोदरा के समान प्रेम करने लगी। राजा ययाति भी पलिद्धय को प्राप्त किये हुए आनन्दपूर्वक राज्य-संचालन करने लगे। उन्होंने बहु दक्षिणा देकर अनेकानेक यज्ञों से सर्वदेवमय, सर्वदेवस्वरूप, यज्ञ-पुरुष भगवान हरि का पूजन और आराधन किया। आकाश में कादम्बिनी के सदृश; जिन में, यह जगत विरचित होकर स्वप्नमाया अथवा कल्पना की भाँति कभी प्रकट और कभी लोप हो जाता है; उन अन्तर्यामी परम सूक्ष्म भगवान को हृदय में बसाकर उन्हीं के उद्देश से विना किसी प्रकार के मंगल की कामना किये, निष्काम-भाव से महायशस्वी महाराज ययाति ने प्रचुर यज्ञ किये। उन्होंने देवताओं का यज्ञादि-द्वारा, पितरों को श्राद्धादिकर्म करके, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर और दीन-दुखियों को उनके अभाव-अभियोग दूर करके कृपा-कटाक्ष-द्वारा प्रसन्न और सन्तुष्ट किया। याचकों को उनकी इच्छा पूर्ण करके, अतिथियों को आदर-अभ्यर्थना, सेवा-सत्कार-भोजनादि-द्वारा, वैश्यों को उनका प्रतिपालन और रक्षा करके, एवं शूद्रों को दया से अपने वशीभूत किया।

चिरकाल-पर्यन्त भोग-सुख में लीन रहकर ज्ञान होने पर

जब राजा ने उसकी असारता को पहचाना, तो उन्होंने एक दिन देवयानी और शर्मिष्ठा को पास बुलाकर उनसे कहा—"प्रिये ! तुम्हारे प्रणय में आबद्ध रहकर मैं आत्मज्ञान तक को भूल गया; तुम्हारे माया-पाश में मोहित होकर मुझे अपना बोध तक नहीं रहा। विषय-लीन पुरुष की क्षुन्निवृत्ति कभी नहीं होती; वरन् विषयों का ध्यान करने और उसमें लगे रहने से विषय-इच्छा अग्नि में घृताहुति पड़ने पर प्रबल होने के समान और बढ़ती ही है। मुझे नित्य-प्रति निरन्तर विषय-भोग करते हुए सहस्राधिक वर्ष व्यतीत हो गये; तथापि मन की तृष्णा नहीं बुझी, उत्तरोत्तर प्रबल ही होती गई। अब मुझे बोध हुआ है: अब मैंने इसकी असारता को पहचाना है। अतएव अब मैं इस अनिष्ट-कारिणी विषय-तृष्णा को त्याग कर ब्रह्म में मन लगाऊँगा; और संसार से विरक्त होकर निरभिमानपूर्वक वन में विचरण करूँगा; और योग-साधन-द्वारा परम-ब्रह्म के परम-पद को प्राप्त करने का उद्योग करूँगा।"

इस प्रकार पत्नियों से कह कर पुत्र पुरु को बुलाकर उसका यौवन उसे देकर अपनी जरा उससे लेते हुए कहा—"मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ बेटा ! तुम्हारा तारुण्य प्राप्त कर मैंने इच्छानुकूल विषय-सुख भोग किया। अब इसे त्याग कर ब्रह्म में मन लगा कर निर्द्वन्द्व, निर्लिप्त होकर वन में वास करने की इच्छा है। तुम अपना यह यौवन और मेरा राज्य लो। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेंगे। संसार में तुम्हारी अक्षयकीर्ति और अमर यश चिरव्याप्त होगा; इस लोक में परम सुख भोग कर परलोक में तुम परमपद प्राप्त करोगे। तुम कभी दुख न पाओगे।"

इस प्रकार पुत्र से कहकर उसका यौवन उसे देकर राजा ने अपनी जरा उससे ले ली, और पुरवासियों, प्रजाजनों तथा विद्वान

पण्डितमण्डली के सम्मुख विधिविहित पुरु का राज्याभिषेक कर राज्य-शासन-भार उसके हाथ में देकर वानप्रस्थ ग्रहण कर के प्रसन्न चित्त से तपस्वी ब्राह्मणों के साथ उन्होंने वन की यात्रा की।

पति के द्वारा ज्ञानामृत-उपदेश प्राप्त कर शुक्र-तनया देवयानी को भी ज्ञान हुआ ; इस लिये उसने भी पति की भाँति सब संग त्याग कर वन में जाकर भगवान् में मन लगाया ; और इस उपाधिरूप शरीर को त्याग दिया। ज्ञान प्राप्त होने पर शर्मिष्ठा ने भी पति और सपत्नी देवयानी के सदृश संसार-त्यागिनी होकर पति-पथ-अनुगामिनी होने की इच्छा प्रकट की थी; किन्तु महाराज ययाति और देवयानी के कहने से उसने अपना विचार त्याग दिया, और उनके उपदेशानुसार गृह पर रहकर ही पुत्र के राज्य-संचालन और प्रजापालन में सहायता देकर पति की स्मृति में काल यापन करना आरम्भ किया।

ययाति और इन्द्र

महाराज ययाति ने इस प्रकार क्षणभर में इन्द्रियसुख की लालसा त्याग कर, अपने आज्ञाकारी पुत्र पुरु का राज्य देकर, उसे नाना प्रकार के उपदेश देकर, वन में जाकर, तपद्वारा बहुत वर्षों तक शब्दादि विषयों को श्रवणादि इन्द्रियों-द्वारा रोध करने का अभ्यास करके उन्हें वशीभूत किया। अभ्यास करते करते पूर्ण वैराग्य उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण संग त्याग करने से आत्मानुभव के द्वारा उनकी त्रिगुणात्मक उपाधि दूर होगई।

वन में कुछ दिनों केवल कन्दमूलफल खाकर नियम-पूर्वक तप करते हुए ब्राह्मणों के सहवास में रहकर राजा ययाति अन्त को स्वर्गवासी हुए। परन्तु वे चिरकाल तक स्वर्गसुख नहीं भोग सके। इन्द्र ने अल्पकाल ही में उन्हें स्वर्ग से गिरा दिया। परन्तु स्वर्ग से पतित होकर महाराज ययाति अन्तरिक्ष में ही रुक गये; भूमि पर भी नहीं आए; और फिर कुछ काल उपरान्त वसुमान, अष्टक, प्रतर्दन और शिवि के साथ स्वर्ग को गए।

कुरुवंशवर्द्धन महाराज ययाति इन्द्र के तुल्य ही प्रभावशाली थे। उन महायशस्वी राजा ने पृथिवी पर और स्वर्ग में कितने ही अद्भुत कर्म और कौतुक किये। वन में तप करते हुए उन्होंने कन्दमूलफलाहार करके क्रोध को जीत कर, इन्द्रियों को वशीभूत करके, वानप्रस्थाश्रम की विधि के अनुसार देवता और पितरों को सन्तुष्ट करते हुए भगवान में मन लगाया; विधि-विहित अग्निहोत्रादि कर्म किये। वे आगत अथिति-अभ्यागतों का वन के फलमूल और दुग्ध-घृतादि-द्वारा आदर-सत्कार करके, स्वयं कटे

हुए खेत में गिरे हुए अन्न के दाने बीन कर, अथवा आपसे सूखकर गिरे हुए फल उठा कर, उन्हें खाकर अपना जीवन-निर्वाह करते। इस प्रकार पूरे सहस्र-वर्ष-पर्यन्त तप करके उन्होंने और भी कठोर व्रत धारण किया। मन और वाणी को रोक कर उन्होंने कितने ही वर्ष केवल जलपान करके ही तपस्या की। फिर केवल वायु का आहार करके, पंचाग्नि ताप कर तप किया। अन्त को छः मासतक एक पैर पर खड़े रह कर तप करते हुए पुण्यात्मा ययाति स्वर्ग को गए।

स्वर्ग पहुँचने पर सब देवताओं ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। वे कभी देवलोक में मरुद्गण, वसुगण आदि देवताओं के साथ रहते, और कभी ब्रह्मलोक में विचरते। इस प्रकार स्वर्ग-सुख भोगते भोगते महाराज ययाति एक दिन देवराज इन्द्र के भवन में गए। बातों ही बातों में प्रसंगवश इन्द्र ने उनसे पूछा—"राजन्! जब तुमने विषय-सुख भोग कर पुत्र पुरु को उसकी तरुणाई देकर अपनी जरा लेते हुए उसे राज्य सौंपा, तब तुमने पुरु से क्या कहा था?"

महाराज ययाति ने उत्तर दिया—"देवराज! मैंने पुरु से कहा था कि, 'पुत्र! गंगा और यमुना के मध्य का पावन प्रदेश तुम्हारे अधिकार में रहेगा; भरतखण्ड के मध्य भाग के तुम राजा होगे। तुम्हारे भाई सीमान्त-प्रदेश का राज्य पावेंगे, और म्लेछों का शासन करेंगे।' इसके अतिरिक्त मैंने कहा था कि :—

'क्रोध करनेवाले से क्रोध न करनेवाला श्रेष्ठ है।'

'जिसमें सहिष्णु-शक्ति नहीं है, उससे सहनशील पुरुष श्रेष्ठ है दान, दया, सत्य और सन्तोष स्वर्ग के द्वार हैं।'

'मनुष्य सब प्राणियों में, और विद्वान सब मनुष्यों में श्रेष्ठ है।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य को भरसक विद्वान बनने का प्रयत्न करना चाहिये। विद्या ही सब गुणों का मूल है।'

'कोई अपने से इर्ष्या करे, तब भी आप उससे विद्रोह न करे, क्रोध को रोक कर उसे क्षमा कर दे। किसी से अकारण ईर्ष्या करनेवाला मनुष्य अपने हृदय की ज्वाला से आपही दग्ध होता रहता है; और जो कोई द्वेष नहीं रखता, वह पुण्य-फल का भागी होता है।'

'किसी की आत्मा को क्लेश पहुँचानेवाला दुर्वचन कहना उचित नहीं है।'

'प्रजा से प्राप्त धन से अन्याय-पूर्वक अधिक न ले। लोगों को रुला-सताकर जो सम्पत्ति एकत्र की जाती है, वह क्रन्दनध्वनि के साथ ही साथ बिदा हो जाती है।'

'नम्रता को कोई नहीं मार सकता। कपास की रुई कभी तलवार से नहीं कटती।'

'अपने आप पर अविश्वास रखना पाप है। राजा को यदि ईश्वर की उपासना करना है, तो वह न्याय-पूर्वक अपनी प्रजा का शासन करे।'

'जीवन में प्रमोद ही प्रमोद नहीं, उसमें यथेष्ट रोदन भी है। अपने हाथों के सिवा और कोई मनुष्य अपने आँसू नहीं पोंछ सकता। क्षमा के समान दूसरा तप नहीं है।'

'संस्कार स्वभाव का जनक, और परिस्थिति स्वभाव की जननी है। आत्म-विश्वास ही सर्वगुणों का स्रोत, और आत्म-शक्ति ही उन्नति की कुंजी है। विनय का अर्थ निर्बलता नहीं; वरन् उच्च-हृदयता है।'

'किसी को दुख पहुँचानेवाले कटुवाक्य मुँह से कभी न निकाले। कटु वचन कह कर दूसरों के हृदय को व्यथा पहुँचाने वाला कटु-भाषी मनुष्य लक्ष्मीहीन अभागा होकर रहता है। वह नर-पिशाच है, उसके मुख-मण्डल पर दारिद्र्य के चिन्ह स्पष्ट गोचर होते हैं।'

'सच्चरित्र मनुष्य ऐसे कार्य करते हैं, जिनकी प्रशंसा जगत में होती है : सब उनसे प्रसन्न और मुग्ध रहते हैं।'

'आर्य सत्पुरुष दुष्टों-द्वारा की हुई निन्दा और दर्प की बात सुनकर भी सहन कर लेते हैं, और सन्मार्ग को कभी त्याग नहीं करते।'

'दूसरों को सुख पहुँचाना ही उन्हें अपना बना लेना है। जीवों पर दया और प्राणियों से मैत्री, दान और मधुर वचनों से बढ़कर वशीकरण का अन्य उपाय नहीं है। पूज्य-पुरुषों की पूजा करना, छोटों पर दया और प्रेम रखना, एवं किसी से कुछ भी याचना न करना महत्पुरुषों के लक्षण हैं।'

'अपना तन-मन-धन जो अन्य के हित लग जावे, वही सार्थक है; अन्य सब व्यर्थ है। अनन्य प्रेम करना ही भगवान को प्रसन्न रखना है। स्वार्थ को त्याग कर दूसरों के हित की चेष्टा करना ही उन्हें प्रेम में बाँधकर वशीभूत करने का उपाय है।'

'इन्द्रियों की पड़ी हुई आदतें सहज ही नहीं छूटतीं। अतः उनसे सावधान रहना चाहिये।'

'काम, क्रोध तभी तक रहते हैं, जब तक अज्ञान है; ज्ञान प्राप्त होने पर सब पाप आप दूर भाग जाते हैं। इसलिये आत्म-हित की इच्छा रखनेवाले पुरुष को ज्ञानोपार्जन करने में दत्तचित्त होना चाहिये। उपस्थ और उदर की रक्षा, एवं उदर के भरण-

पोषण के लिये धैर्य से काम ले अर्थात् अनुचित कामवासना और अभक्ष्य भोजन से बचे।

'भगवान का भजन अमृत से बढ़कर है। सच्चिदानन्दघन-परमात्मा ही सर्वत्र व्यापक और परिपूर्ण हैं।'

'विषय-सुख की लालसा करना ही दुख को आवाहन करना है। इन्द्रिय-परायणता और विषय-भोग सब दुखों के मूल हैं; सुखद और सार वस्तु संसार में संयम और विषयों का त्याग करना ही है। जो मनुष्य संसार के क्षण-भंगुर नाशवान पदार्थों को सच्चे और सुखद समझ कर उनका चिन्तन करता है, वह महामूर्ख है।'

'सदैव अपने दोषों पर ध्यान रखना चाहिये। ध्यान रखने से दोषों के नाश के लिये आपही चेष्टा होगी। क्षमा-धर्म सब से बड़ा बल है, और आत्मा को जीत लेना ही सबसे बड़ा ज्ञान है। अपने हित चाहनेवालों को उचित है कि, काम और क्रोध के महा प्रबल वेग को रोके।'

'प्रेम सदा ही सहनशील और मधुर है; ईर्ष्या सहनशीलता के अभाव का नाम है; दर्प अभिमान का एक रूप है। त्याग का अर्थ है जीवन को सौंप देना। त्याग ही मनुष्य को महान् बनाता है।'

'जहाँ दया है, वहीं धर्म है; और जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है। यदि कोई वस्तु संसार में ऐसी है, जिसे आनन्द या सुख कह कर पुकार सकते हैं, तो वह है औरों को प्रेम करना।'

'अत्यन्त प्यास से व्याकुल होकर भी चातक सामने उमड़े हुए समुद्र के अथाह जल से एक बूंद भी नहीं माँगता; केवल स्वच्छ स्वातिजल को पीकर ही वह तृप्त रहता है। महज्जन

दुख पड़ने पर भी कभी किसी से याचना नहीं करते; सदा ईश्वर पर भरोसा रखते हैं।

'कौटिल्य-कलुषित मनुष्य सरलता एवं सत्यता से सरोकार नहीं रखता। असती स्त्री कभी सतीत्व के महत्व का स्वप्न नहीं देखती। मूढ़ कभी ज्ञान की मर्यादा का अनुभव नहीं करता। दयालु और उदार पुरुष के दिये हुए दान के भीतर कृपण का चित्त प्रवेश नहीं कर सकता। यदि यह संसार हलाहल का सागर जान पड़े, तो घबड़ाना क्यों? त्याग का आधार लेते ही फिर वही अमृत ही अमृत है। वस्तुतः जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान और पण्डित है।'

'राजा लोग कुलीन और सत्पुरुषों को जहाँ तहाँ से खोजकर इसलिये अपनी सभा में रखते हैं कि, कुलीन-सज्जन राजा को उसकी उत्तम, मध्यम और लघु अवस्था में भी नहीं छोड़ते। प्रलय-काल में समुद्र भी अपनी मर्यादा उल्लंघन कर देता है; किन्तु कुलीन सत्पुरुष और सम्भ्रान्त व्यक्ति प्रलय (आपद्काल) के समय भी अपनी मर्यादा नहीं त्यागते, अपने कर्त्तव्य-कर्म से विरत और विमुख नहीं होते। सुख-भोग से उदासीन रहना ही कल्याणकारी है।'

'क्षमा ही मनुष्य का भूषण है। क्षमाशील परोपकारी मनुष्य को कभी कोई दुख नहीं सताता; संसार में उसका कोई शत्रु नहीं होता, समय पड़ने पर बिना याचना के ही उसे सहायता मिल जाती है। शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं। परमार्थ को सम्भालना ही अभीष्ट सुख की प्राप्ति है।'

'काम के समान दूसरा रोग नहीं है; क्रोध के समान दूसरी अग्नि नहीं है; मूर्खता के समान और शत्रु नहीं है; एवं ज्ञान से

बढ़कर कोई सुख नहीं है। दान से दारिद्र्य का नाश होता है; शालीनता दुर्गति का नाशक है; और भक्ति भय को दूर भगाने वाली है। धन से धर्म की, नम्रता से राजा की और सुशील पुण्यवती स्त्री से कुल (कुल-शील) की रक्षा होती है। संसार अनित्य और नाशवान है; केवल धर्म ही सार और नित्य-निश्चल पदार्थ है। कल्याण की इच्छा करनेवाले संसार में असक्त न हों; धर्म पर आसक्त रहें।

'वासना छोड़ कर शुभकर्म करे, अनात्मपदार्थों में मोह न रखे; सच्चे सन्तों के चरणों की धूल हो जावे।

'सत्य पर चलना, सत्य बोलना, और सत्य ही में चित्त देना चाहिये। श्रेष्ठ पुरुषों से प्रशंसनीय रहे, परन्तु हर्ष न करे। कहे हुए वाक्यों का पालन करे, और सहनशीलता-व्रत को धारण किये रहे। सत्य ही स्वर्ग का सोपान है।'

'मन के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है, अतः मन ही को ब्रह्मवत् ध्यान करना उचित है। हृदय का नम्र होना प्रेम की शोभा है। जैसा निश्चय करेगा, वैसा ही फल मिलेगा। लोक-लाज प्रीति-मार्ग के काँटे हैं। पापों में प्रवृति मोह का कारागार है। आत्मा से भिन्न पदार्थों में प्रेम—प्रेम नहीं; राग है।'

'श्रद्धा, भक्ति, नम्रता, उत्साह, धैर्य, मिताहार, आचार, शरीर, वस्त्र और गृहादि की पवित्रता, सच्चिन्ता, इन्द्रिय-संयम, सदाचरण तथा सत्संगादि सब सत्वगुण को बढ़ाते हैं।

'सर्वदा नियम-निष्ठा में तत्परता रखना चाहिये; न्याय-मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये; संसार की चमकीली वस्तुओं को देखकर भूल न जाना चाहिये।

'उदार-प्रकृति, निःस्वार्थी, प्रेमी, निरभिमान, श्रोत्रिय और भगवन्निष्ठ ज्ञानी गुरु के चरणों में आत्म-विसर्जन करना मनुष्य

का मुख्य कर्त्तव्य है। गुरु-भक्ति और गुरुदत्त साधन में आसक्ति न होने से उन्नति होना असम्भव है।'

'भगवान् का नित्य स्मरण ही ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का उपाय है। भगवान् मेरे समीप हैं, और सदा रक्षा करते हैं, यह भाव हृदय में दृढ़ किये रहना चाहिये।'

'कुचिन्ता, कुप्रकृति और कुसंग अवनति है; तथा सच्चिन्ता, सत्प्रवृत्ति, और सत्संग उन्नति का उपाय है। देवता, वेद, गुरु, मंत्र, तीर्थ और महात्मा—यह सब श्रद्धा से फल देते हैं; तर्क से नहीं। दया, तितिक्षा, संयम, वैराग्य, अमानित्य, अदम्भित्व, शिष्टाचार, सत्यपरायणता, असूया-हीनता, उत्साह, अध्यवसाय, ये सब उन्नति के लिये आवश्यक हैं। विघ्न होने पर भी धैर्यशाली व्यक्ति कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते। अधिक बोलना मिथ्यावादी होने का चिन्ह है। देश-सेवा ही सत्य-व्रत है।'

'निद्रा, अभिमान, घृणा, और द्वेष बन्धन की शृङ्खला है। निरभिमान और विश्वास फल-प्राप्ति के साधन हैं। जैसे विषय-चिन्तन करने से विषय में आसक्ति होती है, वैसे ही भगवच्चिन्तन भगवद्भक्ति का लक्षण है। भक्त मोक्ष की आशा नहीं करता; कामना-रहित भगवद्प्रेम ही उसका एकमात्र प्रयोजन है।

'भोग्य वस्तु के साथ अधिक प्रेम होने से चित्त नीचे जाने की सम्भावना है। विघ्न उपस्थित होने पर सरलभाव से भगवान की प्रार्थना विघ्ननाश का कारण है।

'कर्म-विहीन-श्रद्धा आत्मा-हीन-काया के समान है। श्रद्धा को निराशा है ही नहीं।'

'पाप को छिपाना न चाहिये। सच्ची लज्जा दोष करने में है; छिपाने से तो दोष दूना होता है। विचार-वाणी-व्यवहार का ऐक्य

होना चाहिये। शठं-प्रति-सत्यं ही विजय का मूलमंत्र है। दयालु और भावनापूर्ण उदार जीवन अमोघ अस्त्र है।'

'अहंभाव का नाम ही पतन है। जहाँ अहंकार नहीं वहाँ पतन कैसा?'

'दृढ़निश्चयी, कोमल-स्वभाव, इन्द्रियजयी, क्रूरकर्म करने वालों का संग त्याग करनेवाला, अहिंसक पुरुष इन्द्रियदमन और दान के द्वारा स्वर्ग को जीत लेता है। नीतिज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ और प्रारब्ध को जाननेवाले बहुत मिल सकते हैं, परन्तु अपने अज्ञान को जाननेवाले विरले ही होते हैं। ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष, प्राणीमात्र के साथ मैत्री और ईश्वरोपासना सब के पालन करने योग्य धर्म है। अपना न जीता मन ही अपना शत्रु है।'

'ममता और अभिमान से शून्य, तथा विषयों से विमुख रहनेवाला पुरुष अपने गृह पर रहता हुआ भी कभी किसी कर्म में आसक्त नहीं होता। जिसने कामनाओं का नाश कर मन को जीत लिया है, वह राजा हो या रंक, संसार में उसको सुख ही सुख है। आत्मा को जीत लेना ही सब से बड़ा ज्ञान है। आत्म-ज्ञान ही तो मोक्ष का आधार है।'

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—ये आठों अंग मनीषी लोग योग के बताते हैं। जब तक भोग और मोक्ष की इच्छा रहती है, तब तक वास्तविक भक्ति नहीं होती। ज्ञेय का ध्यान न करना ही ज्ञाता का ध्यान है। उच्चावस्था में प्राप्त महापुरुष जिसको प्राप्त करके सब पदार्थों का परित्याग कर देते हैं, उस परमाराधिका का परित्याग करके त्याज्य पदार्थों की उपासना क्यों की जावे?'

'मन एक बार भोगे हुए सुखों का बारबार आस्वादन करना चाहता है। मन में सुख की स्मृति होती है; स्मृति से

कल्पना और विचार उत्पन्न होते हैं; विचार से आसक्ति उत्पन्न होकर कार्य में परिणति होती है। विवेक इन सबको नष्ट कर डालता है। इसलिये परमहितकारी विवेक को सदा जाग्रत रखने की चेष्टा करना ही कल्याण-पथ पर चलना है।'

'आत्म-चिन्तन करने, और मन को आत्मा से पूर्ण करने से मन भ्रमरकीट के समान ब्रह्माकार—तदाकार, तद्रूप, तन्मय, तल्लीन हो जाता है। जैसा चिन्तन किया जाता है, वैसा ही बना जाता है। अपने को ब्रह्म चिन्तन करने से ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं। भक्ति का अर्थ है ईश्वर के प्रति असीम प्रेम करना।'

'मन की वासना, जो सारे भोगों का मूल कारण है, नष्ट हो जावे, तो मन में क्षोभ उत्पन्न करनेवाले सारे बन्धन आप नष्ट हो जावेंगे। मनही तो वासना और इच्छाओं की राशि है। अन्तःकरण मनुष्य का अपना निश्चित मत है, जो बुद्धि या धारणा से प्राप्त होता है। सत्य वचन और दया का अभ्यास ही मन और अन्तःकरण को पूर्णरूप से शुद्ध बनाते हैं। अहंकार ही तो अशुद्ध मन उत्पन्न करने और नीचे गिराने का कारण है; इसलिये त्याज्य है। भगवान केवल सत्यप्रिय लोगों के साथ ही रहते हैं। ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान और ईश्वरज्ञान दोनों ही हैं। निवृत्ति मार्ग ही सच्चा प्रवृत्ति मार्ग है।'

'मन, वचन और शरीर से पूर्णरूपेण संयमी रहना ही ब्रह्मचर्य है। धन की तीन गति हैं—दान, भोग, नाश। दान न देनेवाले और भोग न करनेवाले का धन निदान नाश का कारण होता है। पाखण्ड और अहंकार से दूर रहना, असत्य का त्याग करना, भगवान की ओर आगे बढ़ना, अधर्म-अनीति-पापकर्म छोड़ने की दृढ़ प्रतिज्ञा, किये हुए पाप को नष्ट करने के लिये प्रायश्चित करना—पाप से बचने के उपाय हैं।'

'इच्छा को रानी बनालो या दासी। रानी बना कर उसकी आज्ञा में चलने से वह दुख के नरककुण्ड में डुबो देगी, और दासी बना कर आज्ञाधीन रखने से स्वर्ग-सुख प्रदान करेगी।'

'आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग कर यज्ञ, दान और तपरूप-कर्म करना ही मोक्ष के भागी बनना है। इच्छा, कामना, आसक्ति, अहंकार और ममता ही पाप का मूल है।'

'सौन्दर्य आत्मदीप्ति है, इतनी प्रदीप्त कि, हृदय में चिनगारियाँ उत्पन्न कर देती है। सौन्दर्य का दास बनना अग्नि में कूदना है।'

'भगवत्प्रेम के प्रेमी बनने के लिये स्त्रीरूपिणी, कन्यारूपिणी, भगिनीरूपिणी और मातृरूपिणी अधिकारियों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। उस राज्य की पथप्रदर्शिका एकमात्र ये ही हैं। परन्तु शुद्ध प्रेम को छोड़कर उनके साथ विषय-प्रेम करने से वे नरक के भयंकर गढ़े में डाल देती हैं।'

'गौडी, पैष्टी, तथा माध्वी तीन प्रकार की मदिरा संसार में प्रसिद्ध है। चौथी स्त्री की आसक्ति भी मदिरा है, जिसने जगत को मोहित कर रखा है।

'कामिनी और कांचन की माया सदैव त्याज्य है। स्त्री को इह-लोक और परलोक की संगिनी समझ कर, उसे पूर्ण सहचरी बनाना चाहिये। वह सामान्य पार्थिव खिलौना ही नहीं है, धर्मार्थ-काम-मोक्ष की मूल वही है। निकृष्ट काम के वश होकर स्त्री को केवल विषय-वासना पूर्ण करने की सामग्री समझकर उसके साथ भोग में लिप्त रहकर उसके द्वारा प्राप्त होने वाले चिरसुख—मोक्ष का विसर्जन कर देना उचित नहीं है। वे गृह-लक्ष्मी हो कर भी मूलशक्ति हैं। इसलिये स्त्री को उसके अनुसार मान देकर उसे सब अवस्थाओं में सहयोगिनी बना

लेना ही कर्त्तव्य है। स्त्री स्वर्ग के द्वार की कुञ्जी और मोक्ष की दायिका है।'

'स्त्री आदर और प्यार की वस्तु है। अनेक कार्य जो शक्ति न होने से नहीं किये जा सकते, वे स्त्री की सहायता से सशक्त होकर किये जा सकते हैं, इसलिये स्त्री का नाम शक्ति है। धर्म-कर्म में सहायता देने से वह सहधर्मिणी है, और अपने सत्य को गर्भ में धारण करने से जाया है। इसी लिये कहा है, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब अवस्थाओं में स्त्री प्रधान सहायिका है। नरक को भी वही लेजायगी, स्वर्ग का पथ भी वह दिखलायेगी, वैराग्य और मोक्ष पद पर पहुँचाना भी उसी के हाथ में है।'

'स्त्री विलास की सामग्री नहीं है; जगज्जीवन और प्रेम का आधार है। स्त्रीरूपी महा समुद्र में बड़े बड़े अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, रसिक जन उन्हीं सब रत्नों के अधिकारी होकर चिरसुख-मय जीवन विताते हैं, और कामान्ध, दुर्बल, घृणित व्यक्ति उस महासमुद्र में डुबकी लगाकर अपना अस्तित्व ही खो बैठते हैं। इसलिये कभी भूल कर भी स्त्री-जाति को कामुक-दृष्टि से न देखना चाहिये। ब्रह्मा-विष्णु-महेश का एकत्र-सम्मेलन एक स्त्री ही में परिलक्षित होता है। स्त्रियों का अपमान ध्वंस का कारण है। जहाँ नारियों का मान होता है, वहां देवता बास करते हैं।'

'वही पूत सपूत है जो मन लगाकर भक्ति करता है, जिससे जरा-मरण से छूटकर अजर अमर हो जाता है। इन्द्रादि तैतीस करोड़ देवताओं का वास माता के शरीर में है। माता-पिता को साक्षात ईश्वर जानकर उनकी सेवा करने से निःसंशय दयामय हरि की दया प्राप्त होती है।'

'पीछे मुँह छिपाना पड़े, ऐसा कर्म करना ही पाप है। जिस काम के कर लेने पर पीछे विचार करने पर मन प्रसन्न होता है, वही पुनीत (पुण्य) कार्य है। काम वही करना चाहिये, जिससे दस मनुष्यों के सम्मुख मुँह दिखाने में लज्जा नहीं, वरन गौरव अनुभव हो।

'अभिलाषाओं की वृद्धि से कार्यों की वृद्धि, और कार्यों की वृद्धि से वासनाओं की वृद्धि हुआ करती है। इन दोनों की अधिकता ही बन्धन का कारण है।

'हिंसा, असत्य, छल, कपट, व्यभिचार, मान, धन और स्त्री का अनुराग, पर निन्दा और गर्वाभिमानादि दोषपूर्ण पापों से बचना तथा अपने अपने कर्म और धर्म के अनुकूल सदाचार का पालन करना ही श्रेष्ठ कल्याण का मार्ग है। विषयों का संग ही तो दुख का लक्षण है।'

'जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग नामक चार धर्म होते हैं, उसी के जन मरकर इस लोक से परलोक को प्राप्त होकर सोच नहीं करते। जिस घर में साधु की निन्दा होती है, वह समूल नष्ट हो जाता है। उसकी नींव, नाम और स्थान का पता नहीं रहता।'

'देव, पितृ, ऋषि और मनुष्यों के ऋण-बन्धन से करोड़ों पुरुष मुक्त हुए हैं। परन्तु संसार-बन्धन से तो कोई ज्ञानी ही मुक्त होता है।'

'जिसका मन वशीभूत है, वह चक्रवर्ती राजा है; इन्द्रियजित देश का राजा और शरीर को वश में रखने वाला घर का राजा है। जिसका चित्त अपार-संचित्-सुखसागर-परब्रह्म में लीन है, उसके जन्म से कुल पवित्र, जननी कृतार्थ, और पृथिवी पुण्यवती होती है।'

'सब कुछ वासुदेव ही है—ऐसा जाननेवाला महात्मा अति दुर्लभ है। जहाँ विशुद्ध और पूर्ण आनन्द, ब्रह्मानन्द-आनन्द है, वहाँ कोई कामना नहीं है, वहाँ तो सभी कुछ पूर्ण है। जिसको इस आनन्द का स्वाद मिल जाता है, उसके लिये विषयानन्द तुच्छ हो जाता है। इच्छा-विहीन हो जाना ही परम पद का प्राप्त करना है; अनिच्छा ही परमपद है। मन को अधिकार में कर लेना ही उसे वशीभूत कर लेना है। वशीभूत होने पर इच्छानुसार उससे काम लिया जा सकता है।'

'असन्तोषी ही दरिद्र होता है। कृपण वही है, जो इन्द्रियों के वशीभूत है। जिसकी बुद्धि विषयों में फंसी हुई नहीं है, वही स्वतंत्र है। जैसे द्वेष जगत को नरक-तुल्य बना देता है, वैसे ही प्रेम उसे स्वर्ग-तुल्य बना सकता है। अपने अन्दर के बुरे भाव, अहंकार, भय और अज्ञानादि दूर करने पर ही जीवन सुखद और मोक्षप्रद बन सकता है।'

'जिसके घर से अतिथि निराश लौट जाता है, उसका सैकड़ों घड़ों घी का होम भी व्यर्थ जाता है। अतिथि को जाति, पंति, विद्या आदि न पूछकर, देवता समझ कर उसका सत्कार करना चाहिये। अतिथि में सभी देवताओं का निवास होता है। अतिथि का सत्कार करना, ईश्वर का पूजन करना है।'

'जगत का कोई भी पदार्थ नित्य नहीं है। धन, विद्या, बुद्धि, गुण-गौरव, स्त्री, पुत्र, सभी अनित्य और असार हैं; मृत्यु के साथ ही धूल में मिल जाते हैं। इस लिये समझदार व्यक्ति इनमें किसी में भी आसक्त न हो, नित्य और सार पदार्थ भगवान में मन लगाते हैं।'

'परमात्मा महान, प्रभु, सबके प्रवर्त्तक, अतिशय निर्मल, आनन्दरूप, ज्योतिस्वरूप, अविनाशी और अग्र पुरुष हैं। वे

श्रीहरि भगवान सब प्राणियों में आत्मरूप से विराजमान हैं। वे सब को जानते हैं; परन्तु उन्हें कोई ही जानता है। जब तक मनुष्य लौकिक जीवन में रहता है, तब तक वह अलौकिक सम्पत्ति—उन भगवान को जान ही नहीं सकता।'

'मन के दुखप्रद अहंकार को नष्ट कर देने पर इन्द्रियरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त होकर सदा जाग्रत रहनेवाली वासना आपही शमित और शमन हो जाती है।'

'सुख और दुख, सुन्दरता और असुन्दरता, सब मन की मिथ्या कल्पनाएं हैं, वे सब मृगतृष्णा हैं। भावना भी कल्पना है, वह हवाई क़िले बनाती रहती है; अतः विचार और विवेक से उसे रोकना चाहिये।'

'जो ज्ञानमय, प्रेममय, सर्वशक्तिमय, कृपास्वरूप, मंगलमय-आनन्दस्वरूप, कल्याणस्वरूप है, जिसका अस्तित्व जगत का अस्तित्व है, जिसका चैतन्य जगत का चैतन्य है, जिसका आनन्द जगत का आनन्द है, जो समस्त जगत का सृष्टि, पालन और लय करता है, जो एक होकर अनन्त, निर्गुण होकर सगुण है, और जो सदा सर्वदा सब वस्तुओं में विराजमान है, उस विश्व-विधाता, सर्वशक्तिमान, विश्वमूर्ति, अवाङ-मनसगोचर-मंगलमय, जगत्गुरु, सच्चिदानन्द, आनन्दस्वरूप, कल्याणकर्त्ता को भजकर असार और अनित्य सृष्टि-पदार्थ की उपासना क्यों की जावे? विषय-पदार्थों में मन क्यों लगाया जावे।'

'भोग के द्वारा सन्तोष की प्राप्ति नहीं होती। भोग इच्छा को जीवित और बलवती करता है, उसे पुष्ट बनाता है। वैराग्य और त्याग से ही मन का सन्तोष और शान्ति मिलती है।'

'प्रजा का पालन करना और दुष्टों का दमन करना राजा का धर्म है। किन्तु बिना नीति के यह कार्य नहीं हो सकते;

इसलिये राजा को नीति जानना आवश्यक है। नीति जानने वाला भूपति धर्म पर आरूढ़ रहकर शत्रुओं पर विजय लाभ करता है। नीति-शास्त्र धर्म-अर्थ-काम का कारण और मोक्ष का दाता है। उससे ही लोकोपार और मर्यादा पालन होती है। इस लिये अपना हित चाहनेवाले राजा को नीति-शास्त्र का अध्ययन भले प्रकार करना चाहिये।'

'क्रोधी, निर्दयी, मदोन्मत्त, जीव-हिंसक, असत्यवादी और प्रजा पर अत्याचार करनेवाला, तमोगुणी राजा नरक का भागी होता है। धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने वाला, क्षमाशील त्यागी, प्रजावत्सल एवं विषय-वासना से रहित, धर्मज्ञ, सतोगुणी राजा ही मोक्ष को प्राप्त होता है।'

'सांसारिक-विषय-वासना नीरस, नाशवान और परिणाम में दुखदायी है। मन को विषयों में लिप्त रखनेवाला राजा कभी भले प्रकार राज्य का संचालन नहीं कर सकता।'

'भगवान का निरन्तर चिन्तन, भगवान के प्रतिविधान से तुष्ट रहना, भगवान के आदेश का पालन करना और उनमें निष्काम-भाव रखना—यही भगवान की शरणागति है। मान, बड़ाई, तृष्णा, अहंकार, क्रोध, द्वेष, आलस्य, प्रमाद, विषय-लिप्सा, सुख-भोग, सब को त्यागकर भगवान की शरण लेना ही कल्याण का अधिकारी बनना है। यही तो तप और भक्ति का सार है।'

देवराज ! इसी प्रकार के नाना उपदेश देकर, उसका राज्याभिषेक करके और चतुर मंत्रियों के हाथों उसके राज्य-संचालन का भार सौंपकर मैंने उससे बिदा ली।"

इन्द्र ने कहा—"राजन् ! तुमने सब कर्त्तव्य-कर्म पूर्ण करके, घर को त्याग कर वनवास लिया। इसलिये मैं पूछता हूँ, तुमने किसके समान तप किया ?"

राजा ने बिना विचारे झट उत्तर दे दिया—"देवराज! सुरासुर, मनुष्य, गन्धर्व, महर्षि-मुनि आदि कोई भी मुझे अपने समान तप में नहीं देख पड़ता है।"

इन्द्र ने कहा—"तुम अपने तप को सर्व-शिरोमणि और सर्वोपरि समझते हो तो?"

राजा ने फिर उसी प्रकार बिना सोचे समझे उत्तर दे दिया—"निश्चय।"

इन्द्र ने पूछा—"तुम बता सकते हो, किसने कैसा तप किया है?"

राजा ने उत्तर दिया—"सो तो मैं नहीं जानता।"

इन्द्र ने कहा—"तब तुमने कैसे जान लिया, तुम्हारे तप की तुलना नहीं है?"

राजा चुप हो रहे, इस बात का कोई उत्तर नहीं दे सके। तब देवराज ने कहा—"राजन्! तुमने बिना जाने ही अपने तप को सर्वोपरि बतलाया है; औरों का प्रभाव जाने बिना ही तुमने ऐसा कहकर औरों का अपमान किया है; इसलिये तुम्हारा पुण्य क्षय हो गया; तुम पुण्यहीन हो गये हो। पुण्यहीन मनुष्य स्वर्ग में रह नहीं सकता, इसलिये तुम अभी देवलोक से गिरोगे।"

सुनकर राजा घबड़ा उठे, उनका शरीर कांप गया, हृदय स्पन्दन करने लगा। तथापि धैर्य धारण करके उन्होंने कहा—"इतने ही से यदि मेरा पुण्य क्षय होकर मैं स्वर्ग-च्युत होने का अधिकारी हो गया, तो मुझ पर आप इतनी कृपा करें कि, मैं यहाँ से सज्जनों के मध्य में पतित होऊँ।"

इन्द्र ने कहा—"तुम्हारी यह इच्छा पूर्ण होगी, तुम सज्जनों के मध्य गिरोगे; और वहीं से फिर भी तुम्हें उत्तम गति प्राप्त

होगी। परन्तु देखो अब कदापि बिना जाने किसी की निन्दा न करना। आश्चर्य है, पुत्र को ऐसे बहुमूल्य उपदेश देकर भी तुमने यह भूल कैसे की? अच्छा सावधान! अब तुम गिरते हो। मेरी बात सदा स्मरण रखना, फिर कभी ऐसी भूल न करना। तुम स्वयं विद्वान और सच्चरित्र हो।"

---

(३)

स्वर्ग-च्युति, तपस्वियों से प्रश्नोत्तर

पुनः स्वर्ग-गमन

देवराज इन्द्र के इतना कहकर चुप होते ही राजा ययाति स्वर्ग से पतित हो गए। धर्मपरायण राजर्षि अष्टक ने स्वर्ग से उन्हें च्युत होते देखकर पूछा—"शक्र के समान सुन्दर और अग्नि के समान तेजस्वी महापुरुष तुम कौन हो? तुमको प्रचण्ड मार्तण्ड के समान आकाश से पतित होते देखकर हम लोग स्तम्भित होकर तर्क वितर्क कर रहे थे। रवि और अग्नि के समान प्रकाशमान तुमको देखकर—'यह कौन गिर रहा है?' कहकर हम बड़ा आश्चर्य प्रकट कर रहे थे, कि सूर्य, सुरेन्द्र और विष्णु के समान प्रभावशाली तुमको अन्तरिक्ष में ठहर गया देखकर तो हमें और भी आश्चर्य हुआ है। हे निमन पुरुष! तुम्हारा नाम धाम, पता और परिचय जानने के लिये हमें बड़ा कौतुहल हो रहा है। महाभाग! तुम कौन हो, किसके पुत्र हो, देवलोक को क्यों गये थे, और फिर वहाँ से च्युत कैसे हो गए? महानुभाव! अब तुम्हें कोई भय नहीं है। साधु-समाज में स्थित होने पर अब देवेन्द्र शक्र भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। साधुजन ही दुख में पड़े हुए महापुरुषों के लिये आश्रय-स्वरूप हैं। महाप्रभावशाली महाभाग! इस समय तुम अपने ही समान पुण्यात्मा सज्जनों के सामने हो। जिस प्रकार वह्नि ही उष्णता दे सकती है, धरा बीज धारण कर सकती है, चन्द्र अमृत वर्षा कर सकता है, भानु प्रकाश दे सकता है, उसी प्रकार अभ्यागत पुरुष ही सज्जनों पर दया कर सकते हैं।"

ययाति ने कहा—"सिद्ध पुरुष! मैं महाराज नहुष का द्वितीय पुत्र और परम सौभाग्यशाली पितृ-भक्त-पुत्र, शर्मिष्ठा-सम्भूत पुरु का पिता हूँ। महर्षि शुक्राचार्य और दैत्यराज वृषपर्वा मेरे श्वसुर और उनकी दुहिताएँ देवयानी और शर्मिष्ठा मेरी भार्या हैं। सम्बन्ध में मैं तुम्हारा भी नाना होता हूँ। चिरकाल तक भार्याद्वय के सहवास का सुखसम्भोग प्राप्त कर, विराग उत्पन्न होने पर राज-सुख और स्त्री-लिप्सा त्याग कर, पुत्र पुरु को राज्यभार अर्पण करके, भगवद्भजन करने के हेतु मैंने वन गमन किया। सहस्रों वर्षों तक घोर, कठोर तप करने के उपरान्त ईश्वर-कृपा से मुझे स्वर्ग प्राप्त हुआ। वहाँ देवता लोगों ने मेरी बड़ी आदर-अभ्यर्थना, स्वागत-सत्कार किया। एक दिन विचरण करते हुए देवराज इन्द्र के यहाँ पहुँच जाने पर बातों ही बातों में उन्होंने मेरे तप का प्रभाव और परिमाण पूछा। अहंकारवश बिना विचार किये ही मैंने कह दिया—"कि त्रिलोकी में नर, नाग, पितृ, गन्धर्व, सुरासुर किसी का भी तप मेरे तप के तुल्य नहीं है" इसी पर देवराज ने मुझसे, "तुमने बिना जाने हुए दूसरों के तप और प्रभाव की निन्दा की है, इससे तुम्हारा समस्त पुण्य क्षय हो गया है, तुम फिर स्वर्गच्युत होगे"—कहकर मुझे स्वर्ग से गिरा दिया है। मैंने उनसे सिद्ध पुरुषों के मध्य गिरने की प्रार्थना की थी, इसी से मैं देव, सिद्ध और ऋषियों के लोक से भ्रष्ट होने पर भी तुम लोगों के मध्य गिर रहा हूँ। तुम सब मुझसे अवस्था में छोटे हो, इसी से मैंने तुम्हें प्रणाम नहीं किया है। जो विद्या, तप और अवस्था में बड़ा होता है, वही द्विजवरों में श्रेष्ठ और प्रणम्य है। मुझे अन्तरिक्ष में स्थित देखकर तुम लोग चकित न हो। अपने उग्र तप के प्रभाववश स्वर्ग से पतित होने पर भी मैं पृथिवी पर नहीं गिरा, अन्तरिक्ष में ही रुका हुआ हूँ।"

अष्टक ने कहा—" राजन्! आप सत्य कहते हैं। अवस्था, विद्या, तप, निपुणता और ज्ञान सभी में आप हमसे बड़े और अधिक प्रभावशाली हैं।"

ययाति ने कहा—" जो पुरुष नम्रता नहीं रखता, उसमें सब पुण्यकर्मों को खर्व कर देनेवाला पापरूप गर्वाहंकार रहता है। नरक में ले जानेवाले गर्व को असाधु ही धारण करते हैं, साधु नहीं। सज्जन लोग पुण्य कृत्यों की वृद्धि के लिये दम्भ-दर्पादि दुर्गुणों से बचे रहते हैं। मैंने गर्व किया, इसी से मैं स्वर्ग-च्युत कर दिया गया। मेरे अपार पुण्यरूपी द्रव्य था, जो गर्व करने से सब नष्ट हो गया। उपाय करने पर भी वह अब मुझे नहीं मिल सकता। गर्व खर्व का मूल है, ऐसा जान कर जो पुरुष अपने हित—पुण्य करने और गर्व के त्याग—में लगता है, वस्तुतः वही ज्ञानी और साधु है। जो लोग अनेक प्रकार के यज्ञ याग करते हैं, सब विद्याओं के ज्ञाता होकर भी नम्र रहते हैं, वेद पढ़कर, तप करके, अन्त को मोह-रहित होकर स्वर्ग को जाते हैं, वे ही महा धनवान कहलाते हैं। दैव प्रबल है, सब जीव दैवाधीन हैं, दैव के सम्मुख सब उद्योग-सामर्थ्य व्यर्थ हैं—इस प्रकार दैव को ही प्रबल जान कर अपने कर्म के फल-स्वरूप सुख-दुख को पाकर हर्ष-शोक से अपने को नष्ट नहीं करना चाहिये। प्रचुर पुण्यरूपी धन संग्रह करके भी गर्व करना और प्रसन्न होना ठीक नहीं है। गर्वाहंकार के कारण ही तो आज मेरा यह पतन हुआ है। इसलिये लोगों को मेरे परिणाम से शिक्षा ग्रहण करके अहंकार अहमन्यता, और आटोपादि दुर्गुणों से सदैव बचे रहकर वेद पढ़ना चाहिए। भरसक यत्न करने पर भी कोई अपनी इच्छा से सुखी या दुखी नहीं हो सकता। कामादि संग से जीव सब पाप करता है, इसलिये विषयवासना उत्पन्न करनेवाले, निदान दुख देनेवाले

कामादि-संग से चतुर मनुष्य सदा बचे रहते हैं। दैव को प्रबल मानकर सब दशाओं में एक ही भाव से रहना चाहिये। प्रभु की दया होने पर ही संग-समागम का सौभाग्य प्राप्त होता है। दैव स्वतंत्र हैं, जिसको जैसा चाहें, कर सकते हैं। इसलिये हे अष्टक! विधि के विधान को कोई मेट नहीं सकता, इस बात को जानकर अब मुझे न भय है, और न इस विधान पर कुछ सन्ताप और क्षोभ ही। सुख-दुख तो अनित्य है, उसके लिये क्षोभ करना या दुखी होना विद्वान लोगों को शोभा नहीं देता। यह कोई जान नहीं सकता कि, क्या करने से दुख नहीं भोगना पड़ेगा। इसलिये शोक या सन्ताप करना वृथा है। मैंने सावधान होकर सभी सन्ताप छोड़ दिये हैं।'

अष्टक ने कहा—"राजन्! आत्मज्ञानी धर्मज्ञ महापुरुषों की भाँति आप धर्म की बातें कह रहे हैं। आपकी बातें सुनने के लिये मैं और भी उत्सुक हो उठा हूँ। कृपा कर कहिये कि, कितने समय तक किस लोक में आप रहे हैं?"

ययाति ने उत्तर दिया—"अष्टक! अपने बाहुबल से दिग्विजय करके मैंने भूमण्डल पर अपना आधिपत्य स्थापित करके साम्राज्य विस्तार किया था। और भार्याद्वय को प्राप्त कर संसार-सुख भोग करता हुआ वर्षों तक राज्य करता रहा। फिर सबका त्याग करके सत्लोक पाने के लिये वनवासी बन कर यज्ञादि पुण्यकर्म करता हुआ तप करता रहा। जिसके फलस्वरूप पृथिवी के समस्त सुख भोग करने के उपरान्त मुझे स्वर्ग प्राप्त हुआ। सौ योजन विस्तार वाली, सहस्र द्वार वाली सुन्दर इन्द्रपुरी में सहस्रवर्ष रह कर फिर मैं उससे भी ऊपर ऊर्ध्वलोक में गया। वहाँ जीवन-मृत्यु-जरादि का भय नहीं है। ऐसे दुर्लभ-दिव्य-ब्रह्मलोक में सहस्र वर्ष-पर्यन्त पुण्यफल भोग करके मैं देवदेव महादेव शंकर के स्थान

कैलाश पर्वत पर कुछ वर्ष रहा। मेरा प्रभाव और तेज देवतुल्य था, अतएव मैं सुरसमुदाय के मध्य मान-सम्भ्रम और आदर-सत्कार का पात्र बनकर रहा। इसके उपरान्त इच्छानुसार रूप रखने की शक्ति प्राप्त करके दस सहस्र शताब्दियों तक मैं सुरेन्द्र के नन्दन-कानन में मनोरम सुगन्धिवाले, सुन्दर, सुरभित, पवित्र पुष्प-मुकलित वृक्षों की शोभा निहारता हुआ अप्सराओं के साथ सुख भोग करता रहा। इसी बीच में उग्ररूप देवदूत ने आकर तीन बार उच्चस्वर से पुकार कर मुझ से कहा—"गिरो, गिरो, गिरो!!! बस मुझे इतना ही स्मरण है। मैं स्वर्ग से गिर पड़ा, और अन्तरिक्ष में करुण स्वर से मेरे लिये शोक कर रहे देवताओं की बातें मुझे सुन पड़ीं। अपने प्रति देवताओं की सहानुभूति देखकर मैंने अपने को धन्य माना। देवराज इन्द्र से इच्छानुकूल वर प्राप्त करके मैं तुम लोगों की हविगंध सूँघकर तुम्हारी इस यज्ञभूमि के ऊपर अन्तरिक्ष में आ रुका हूँ।"

अष्टक ने कहा—"निष्काम पुरुषों में श्रेष्ठ महापुरुष आप! आपको इस प्रकार स्वर्ग-च्युत होकर अन्तरिक्ष में रुका हुआ देखकर हमें बड़ा दुख हो रहा है। परन्तु विधि-विधान में कौन हस्तक्षेप कर सकता है? आप कृपा करके यह कहिये कि, मनुष्य क्या करके, किस तप और विद्या के प्रभाव से श्रेष्ठ लोकों में जाता है; और पुण्यात्मा मनुष्य किस क्रम से शुभ लोकों में जाते हैं, सो सब संक्षेप में कहिये।"

ययाति ने उत्तर दिया—"साधु पुरुषों का कहना है कि, मनुष्य के जाने के लिये तप, दान, शान्ति, इन्द्रियों-समेत मन का शमन, लोकलज्जा, सरलता, प्राणीमात्र पर दया—ये ही सात स्वर्ग के द्वार हैं। वेदशास्त्र पढ़ना, मौनव्रत, सत्यभाषण, अग्निहोत्र और यज्ञ—यह पाँचों कर्म श्रेष्ठ, अभयप्रद और स्वर्ग के दाता हैं।

किन्तु अभिमान और अहंकार करने पर उनका पुण्य क्षय होने पर वे भय का कारण बन जाते हैं। पुराणपुरुष परब्रह्म को अपना आश्रय मानकर समाधिमग्न होकर अपने हृदय में उन्हीं परमात्मा का ध्यान करना ही अक्षय स्वर्ग का साधन है। ऐसा करनेवाले मनुष्य ही इस लोक में शान्तिपूर्ण जीवन बिता कर परलोक में मुक्ति पाते हैं।"

अष्टक ने पूछा—"ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास—इन चारों आश्रमों में सन्मार्ग पर चलकर धनोपार्जन करने के अनेक ढंग वेद-वेत्ताजनों ने कहे हैं। आप इस विषय पर अपना मत प्रकट कीजिये।"

ययाति ने उत्तर दिया—"गुरुकुल में रहने के समय गुरु की आज्ञा पाते ही विद्याध्ययन के लिये जाना, गुरु के कार्यों को बिना कहे ही कर डालना, गुरु से पूर्व सोकर उठना, और गुरु के सो जाने के उपरान्त सोना, गुरु-सेवा, गुरु का आदेश-पालन, एवं विनीत, जितेन्द्रिय, धैर्यशाली, सावधान और अध्ययन में तत्पर रहना ब्रह्मचारी का धर्म है। इसी व्रत से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। धर्म के साथ धन संचय करके यज्ञ करना, सदाशक्ति के अनुसार दान देने के लिये तत्पर रहना, अतिथि-अभ्यागत का भोजनादि द्वारा आदर-सत्कार करना, दूसरे की वस्तु बिना उसके दिये न लेना, परस्त्री-गमन न करना, अपनी भार्या से सन्तुष्ट रह कर नियमानुसार सन्तान उत्पन्न करना, सन्तान को उचित शिक्षा दिलाना, सम्बन्धियों से प्रेम रखना, और धर्म पर आरूढ़ रहना, गृहस्थों के मुख्य कर्त्तव्य हैं। पाप से बचे रहना, परिश्रम करके जीवन निर्वाह करना, दूसरों की सेवा सहायता करना, आहार तथा इन्द्रिय-चेष्टा को वशीभूत रखना—यह वान-प्रस्थाश्रमी साधु-मुनि को सिद्धि देनेवाले धर्म-कर्म हैं। सन्यासी

का कर्त्तव्य है अस्तेय, सत्यादि गुणों से युक्त होकर रहना, बिना शिल्पकार्य के अपनी जीविका चलाना, जितेन्द्रिय होकर निर्लिप्त रहना, रात को यत्र-तत्र पड़ रहना, भार्या का त्याग कर देना और एकाकी रह कर इधर उधर विचरण करते रहना। जिस समय यज्ञव्रतादि पुण्यकर्मों को करके स्वर्गादि लोकों के पाने का अधिकारी हो जावे; और संसार-सुख भोग कर विषय-वासना से मन ऊब जावे, उसी समय आत्मज्ञानी शुद्धचित्त पुरुष को गृह और गृहस्थ त्याग कर वन को चले जाना चाहिये। जो पुरुष वानप्रस्थाश्रम को पार कर सन्यास-पूर्वक शरीर छोड़ता है, वह स्वयं अपने, अपने पूर्व की दस पीढ़ियों तक के पूर्व-पुरुषाओं के, और आगामी दस पीढ़ियों की सन्तान के तारण-तरण का कारण होता है।"

अष्टक ने कहा—"तेजस्वी महात्मन्! आप नीचे न गिरिये। आप कितनी ही बातों के ज्ञाता धर्मज्ञ महापुरुष हैं, मैं जानना चाहता हूँ कि, स्वर्ग में, अन्तरिक्ष में, अथवा यहाँ, मेरे धर्म से उपार्जित कुछ लोक हैं वा नहीं?"

ययाति ने उत्तर दिया—"हाँ, तुम्हारे पुण्यफल का परिमाण मुझे ज्ञात है। पृथिवी पर धेनु, अश्व, एवं अरण्यक और पार्वती जितने पशु हैं, उतने ही लोक तुम्हारे भोग के लिये यहाँ अन्तरिक्ष में हैं।"

अष्टक ने कहा—"राजन्! तब आप नीचे न गिरिये। स्वर्ग और अन्तरिक्ष में मेरे भोग के लिये नियत सब लोक मैं आपको देता हूँ। आप खेद त्याग कर उन्हीं में रहिये।"

ययाति ने उत्तर दिया—"नरश्रेष्ठ! वेदज्ञ ब्रह्मज्ञानी विप्र ही दान ले सकते हैं, मेरे जैसे क्षत्रिय नहीं, जिसने पहले विधिपूर्वक

यथोचित रूप से ब्राह्मणों को दान दिये हैं। क्षत्रिय और क्षत्रिय-पतिनी याचना करने और दान लेने की हीनता स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि उनका यह धर्म नहीं है। जो पहले नहीं किया, उसको अब करके मैं असाधु कहे जाने के पाप का भागी नहीं बनूँगा। धन्यवाद !!! ”

इतना कह कर ययाति चुप हो गये। अष्टक ने भी फिर कुछ और नहीं कहा। तब उस साधु-मण्डली में से प्रतर्दन नामक एक राजर्षि ने कहा—“ स्वर्ग-च्युत महापुरुष ! मेरा नाम प्रतर्दन है। आप सब जानते हैं, इस कारण मैं आपसे पूछता हूँ कि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग में मेरे धर्म से भी उपार्जित कुछ लोक हैं, या नहीं ? ”

ययाति ने उत्तर दिया—“ राजर्षि ! अन्तरिक्ष और स्वर्ग में सुखदायक और प्रभापूर्ण शोकभय-रहित इतने लोक आपके लिये नियत हैं कि, एक एक में सात सात दिवस ही रहने पर भी आप उनका अन्त नहीं पा सकते। ”

प्रतर्दन ने कहा—“ तब आप न गिरिये। मैं अपने सब लोक आपको देता हूँ। अन्तरिक्ष और स्वर्ग में स्थित मेरे उन सब लोकों का आप उपभोग करिये। ”

ययाति ने उत्तर दिया—“ राजन् ! समान-तेजस्वी होकर कोई राजा किसी नरेश से योग-सिद्ध-पुण्य नहीं ले सकता। दैवेच्छा से विपद में पड़कर भी दान लेने का निन्दनीय कर्म मैं कभी नहीं कर सकता हूँ। पहले किसी नरेन्द्र ने ऐसा ओछा और निन्दनीय कर्म नहीं किया है। अतः मैं भी ऐसा नहीं कर सकता। करने पर साधु नहीं कहला सकता। आप मुझे क्षमा करें नरेन्द्र !”

राजा ययाति की यह बात सुनकर प्रतर्दन ने फिर उनसे कुछ

नहीं कहा। तब वसुमान ने उनसे कहा—" राजन् ! मैं औषदशव का पुत्र वसुमान हूँ। कृपा कर बतलाइये कि, स्वर्ग या अन्तरिक्ष में मेरे धर्म से भी उपार्जित कुछ लोक हैं वा नहीं ? यदि हों, तो वे सब लोक मैंने आपको अर्पित किये। आप गिरिये नहीं; आप उन स्थानों में रह कर अनन्त सुख भोग करिये।"

राजा ययाति ने उत्तर दिया—" साधु पुरुष ! अन्तरिक्ष, पृथिवी और सब दिशाओं में जितने स्थानों को अंशुमाली भगवान-भुवन-भास्कर प्रकाशित करते हैं, उतने अक्षय स्थान स्वर्ग में आपके लिये नियोजित हैं। परन्तु मैं उन्हें भी ले नहीं सकता। वे आपके पुण्य से उपार्जित आपके धन हैं, इसलिये आपही उनका भोग करिये।"

वसुमान ने कहा—" आप उन्हें मोल ही ले लीजिये। एक तृणमात्र देकर ही आप उन्हें मुझ से क्रय कर लीजिये।"

ययाति ने उत्तर दिया—" मैंने शिशुकाल से अब तक कभी इस प्रकार का अनुपयुक्त मूल्य देकर मिथ्या व्यवहार नहीं किया है, अब भी मैं वैसा नहीं कर सकता। ऐसा करना अक्षय पाप का भागी बनना है।"

वसुमान ने फिर कहा—" राजन् ! यदि आप इस प्रकार भी उन्हें लेना नहीं चाहते, तो मैं आपको वे सब लोक योंही दिये देता हूँ। मैं उन लोकों में जाकर सुख-भोग नहीं करूँगा; आप ही उन लोकों में जाकर रहिये। वे अब आपके हुए।"

वसुमान के चुप होते ही राजा शिवि ने महाराज़ ययाति से कहा—" मैं उशीनर-सुअन शिवि हूँ। आपको सर्वज्ञ समझकर पूछता हूँ कि, अन्तरिक्ष या स्वर्ग में मेरे लिये भी कुछ है, वा नहीं ?"

ययाति ने उत्तर दिया—"महाबाहो! तुमने कभी मनसा-वाचा करके याचक-साधुओं का अपमान नहीं किया है; उन्हें विमुख नहीं लौटाया है। इससे स्वर्ग में संगीत आदि की ध्वनि से परिपूर्ण विद्युत्वत् प्रभामय अनन्त श्रेष्ठ लोक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

यह सुनकर शिवि ने कहा—"राजन्! यदि आप उन्हें दान में या मूल्य देकर लेना नहीं चाहते, तो मैंने भी अपने वे लोक आपको योंही दिये। शोक को दूर करनेवाले उन पुण्य लोकों में जाकर आप अमरपुर का सुख भोग करें।"

ययाति ने उत्तर दिया—"शिवि! तुम शक्रसम प्रभावशाली हो, और पुण्य के प्रताप से तुम्हारे लोक भी अनन्त हैं। किन्तु मैं दूसरे के दिये लोकों में सुख भोग करना नहीं चहाता। इस लिये मैं तुम्हारे दिये इस उपहार को स्वीकार नहीं कर सकता। धन्यवाद!!"

तब अष्टक ने कहा—"प्रतापशाली धर्मज्ञ राजन्! यदि आप हम लोगों में से एक एक के दिये लोकों को लेना स्वीकार नहीं करते, तो हम लोग अपना सब प्राप्त पुण्य आपको देकर स्वयं भौम नरक में जाने के लिये प्रस्तुत हैं।"

सुनकर धन्यवाद देते हुए ययाति ने उत्तर दिया—"आप लोग सत्यप्रिय और साधुजन हैं। इसलिये मैं जिसके योग्य हूँ, आप लोग उसी के लिये उद्योग करें। जो पहले कभी नहीं किया, उसे करना मैं अंगीकार नहीं कर सकता।"

सुनकर अष्टक ने हठात् आकाश को ओर अँगुली उठाकर कहा—"जिन पर चढ़कर मनुष्य अक्षयधाम को जाता है, वे यह स्वर्णमय प्रदीप्त पंच वायुयान किस लिये हैं?"

ययाति ने उधर ही लक्ष्य करके कहा—"अग्निशिखा के समान चमक रहे यह हेमनिर्मित स्यन्दन आप लोगों के लिये आए हैं। यह आप लोगों को स्वर्ग को ले जावेंगे।"

अष्टक ने कहा—"राजन्! आपही इन पर चढ़कर आकाश मार्ग से स्वर्ग को जाइये। समय आने पर हम लोग भी आपके पीछे आवेंगे।"

ययाति ने कहा—"अब तो हम सब ने निष्पाप होकर एक साथ स्वर्ग को जीत लिया है; अतः हम लोग साथ ही स्वर्ग को चलेंगे। वह देखो स्वर्ग का शुभ मार्ग दीख पड़ता है।"

ययाति के इतना कहते ही सब पुण्यात्मा राजर्षि रथों पर चढ़कर स्वर्ग को चले। उनके पुण्य की प्रभा आकाश-मण्डल में परिव्याप्त होगई। मार्ग में जाते जाते उशीनर-पुत्र शिवि का रथ सब से आगे स्वर्ग की ओर बढ़ने लगा। यह देखकर अष्टक ने कहा—"मैंने सोचा था कि, शक्र मेरे बड़े मित्र हैं, इसलिये मैं ही अकेला सब से पहले स्वर्ग को जाऊँगा; किन्तु यह उशीनर-कुमार शिवि किस पुण्य के प्रभाव से हम सब लोगों से आगे स्वर्ग को जारहे हैं।"

महाराज ययाति ने उत्तर दिया—"उन उशीनर-तनय शिवि ने ब्रह्मलोक पाने के लिये याचकों को अपना सर्वस्व दे डालने में भी द्विविधा नहीं की थी; इसी कारण यह तुम सब से श्रेष्ठ हैं। इसके अतिरिक्त दान में प्रवृत्ति, तपाचरण, सत्यधर्म का पालन, त्रपा, श्री, क्षमा, शान्ति, सत्कर्मरति, और सदनुरागादि सद्गुण शिवि में इतने अधिक हैं कि, मनुष्य-बुद्धि से उनका अनुमान नहीं किया जा सकता। इसी कारण शिवि का रथ सब के आगे स्वर्ग में पहुँचता है। हे अष्टक! प्रतर्दन!! वसुमान!!! मैं जो

कह रहा हूँ, सब सत्य है। मैं निश्चितरूप से जानता हूँ कि, प्राणी, मुनि और देवता सत्य की निष्ठा से ही पूजनीय और के प्रभाव से ही स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।"

इस प्रकार बातें करते करते महाराज ययाति, अष्टक, प्रतर्दन वसुमान भी शिवि के पीछे पीछे स्वर्ग को पहुँच गए, और अक्षय मुक्ति-गति को प्राप्त हुए।

उपसंहार

इस प्रकार अपने धेवते (नाती) के पुण्यफल से
पाकर प्रसिद्ध महात्मा राजा ययाति पुनः स्वर्ग को प्रा
वहाँ उन्होंने पुण्यबल के प्रताप से अक्षय भागवती-गति,
निर्मल पारब्रह्म-परमेश्वर में सायुज्य-मुक्ति पाई। उनकी
कीर्ति-कौमुदी, और अनन्त अमरयश अब भी संसार--भू
में परिव्याप्त हो रहे हैं।

इधर ययाति के कनिष्ठ पुत्र महाप्राज्ञ राजा पुरु ने अपने
के आशीर्वाद से उनके दिये हुए राज्य का धर्मपूर्वक सं
और माता शर्मिष्ठा की सेवा करते हुए आनन्द पूर्वक प्रजा
किया। उनसे पौरव-वंश प्रसिद्ध हुआ।

पुरु के ज्येष्ठ भ्राता पिता के शाप से धर्मभ्रष्ट होकर अ
जीवन व्यतीत करने लगे। उनके वंश में यदु से यादव, तु
यवन, द्रुह्यु से भोज नाम से प्रसिद्ध पुत्र और अनु से
(यवन) हुए।

अन्त को महाराज पुरु भी अनन्तकाल तक पृथिवी
राज-सुख भोगकर परमगति को प्राप्त हुए। पिता की भाँति
निर्मल कीर्ति भी संसार में परिव्याप्त होगई।

देवयानी और शर्मिष्ठा समय प्राप्त होने पर स्वर्ग में
पति की सहगामिनी और सहचरी बनकर स्वर्ग-सुख
करने लगीं।

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press, Allahaba

काव्यमाला. ४८.

श्रीवाग्भटप्रणीतो

वाग्भटालंकारः ।

सिंहदेवगणिविरचितया टीकया समेतः ।

मूल्यं रूप्यकार्धः ।

KÂVYAMÂLÂ. 48.

THE VÂGBHAṬÂLAṂKÂRA

OF

VÂGBHAṬA

WITH THE COMMENTARY OF SIMHADEVAGAṆI.

EDITED BY

PAṆḌIT S'IVADATTA,

Head Paṇḍit and Superintendent, Sanskrit Department, Oriental College, Lahore,

AND

KÂS'ÎNÂTH PÂṆḌURANG PARAB.

Second Revised Edition.

PRINTED AND PUBLISHED

BY

TUKÂRÂM JÂVAJÎ,

PROPRIETOR OF JÂVAJI DÂDÂJÎ'S 'NIRNAYA-SÂGAR' PRESS.

BOMBAY.

1903.

Price 8 Annas.

काव्यमाला. ४८.

श्रीवाग्भटप्रणीतो

वाग्भटालंकारः ।

सिंहदेवगणिविरचितया टीकया समेतः ।

जयपुरमहाराजाश्रितमहामहोपाध्यायपण्डितदुर्गाप्रसाददारक-
केदारनाथकृपाङ्गीकृतशोधनकर्मणा शिवदत्तशर्मणा,
मुम्बापुरवासिपरबोपाह्वपाण्डुरङ्गात्मजकाशीनाथ-
शर्मणा च संशोधितः ।

द्वितीयं संस्करणम् ।

स च
मुम्बय्यां निर्णयसागराख्ययन्त्रालये तदधिपतिना मुद्राक्षरैरङ्कयित्वा
प्राकाश्यं नीतः ।

१९०३

मूल्यं रूप्यकार्धः ।

काव्यमाला ।

श्रीवाग्भटप्रणीतः

वाग्भटालंकारः ।

सिंहदेवगणिविरचितया टीकया समेतः ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

श्रीवर्धमानजिनपतिरनन्तविज्ञानसंततिर्जयति ।
यद्गीःप्रदीपकलिका कलिकालतमः शमं नयति ॥

१. अस्यैव वाग्भटस्य **'बाहड'** इति प्राकृतं नामान्तरमस्ति. यतोऽत्रैव ग्रन्थे— 'बंभंडसुत्तिसंपुडमुत्तिअमणिण्णो पहासमूह व्व । सिरिबाहड त्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥' [ब्रह्माण्डशुक्तिसंपुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव । श्रीबाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ॥] इति संकरालंकारोदाहरणस्य 'तस्य सोमस्य बाहडनाम्ना तनय आसीत् । किंभूतस्य सोमस्य । ब्रह्माण्डशुक्तिसंपुटमौक्तिकमणेः । क इव । प्रभासमूह इव । किंविशिष्टस्तनयः । बुधो विद्वान् । एतद्ग्रन्थकारेण स्वनामसहितं संकरालंकारस्योदाहरणं भणितम्' इति जिनवर्धनसूरिव्याख्यातः पितुः **'सोम'** इति, स्वस्य **'बाहड'** इति नाम प्रतीयते. 'इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति' इति सिंहदेवगणिव्याख्यातो महाकवित्वं महामात्यत्वं च. '**अणहिल्लपाटकपुर**मवनिपतिः **कर्णदेव**नृपसूनुः । **श्रीकलश**नामधेयः करी च रत्नानि जगतीह ॥' इति समुच्चयालंकारोदाहरणतो नगरी राजा चावर्णि. 'कर्णदेवनृपसूनुः श्रीजयसिंहः' इति सर्वे व्याख्यातारः. एवं च 'अथास्ति **बाहडो** नाम धनवान्धार्मिकाग्रणीः । गुरुपादान्प्रणम्याथ चक्रे विज्ञापनामसौ ॥ आदिश्यतामतिश्लाघ्यं कृत्यं यत्र धनं व्यये । प्रभुराहालये जैने द्रव्यस्य सफलो व्ययः । आदेशानन्तरं तेनाकार्यत श्रीजिनालयः । हेमाद्रिधवलस्तुङ्गो दीप्यकुम्भमहामणिः । श्रीमाता वर्धमानस्याबीभरद्बिम्बमुत्तमम् । यत्तेजसा जिताश्चन्द्र······कान्तमणिप्रभाः । शतैकादशके साष्टसप्ततौ विक्रमार्कतः । वत्सराणां व्यतिक्रान्ते **श्रीमुनिचन्द्र**सूरयः । आराधनाविधिश्रेष्ठं कृत्वा प्रायोपवेशनम् । शमपीयूषकल्लोलप्लुतास्ते त्रिदिवं ययुः ॥ युग्मम् ॥ वत्सरे तत्र चैकेन पूर्णे श्रीदेवसूरिभिः । श्रीवीरस्य प्रतिष्ठां स **बाहडो**ऽकारयन्मुदा ॥' इति **प्रभाचन्द्र**मुनीन्द्रविरचित**प्राभाविकचरित्रतो** वाग्भटस्य सत्ता ११७९ विक्रमसंवत्सरे

वाग्भटकवीन्द्ररचितालंकृतिसूत्राणि किमपि विवृणोमि ।
मुग्धजनबोधहेतोः स्वस्य स्मृतिजननवृद्ध्यै च ॥

इह 'शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमानाः अभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वकमेव प्रवर्तन्ते' इति शिष्टसमयपरिपालनाय, तथा 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः ॥' इति वचनान्मा भूदस्य शास्त्रस्य काव्यार्थिनां सम्यग्ज्ञानोपदेशकतया श्रेयोभूतस्य कोऽपि विघ्न इति विघ्नोपशान्तये च शास्त्रारम्भेऽभीष्टदेवतानमस्कारं महाकविः श्रीवाग्भटः प्रकटयति—

श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा ।
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥ १ ॥

(1123 A. D.) स्फुटं प्रतीयते. 'अणहिल्लपुरं प्राप क्ष्मापः प्राप्तजयोदयः । महोत्सवप्रवेशस्य गजारूढसुरेन्द्रवत् । वाग्भटस्य विहारं स ददर्श दृग्रसायनम् । अन्येद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मात्यन्तिकवासनः । अपृच्छदार्हताचारोपदेष्टारं गुरुं नृपः ॥ श्रीमद्वाग्भटदेवोऽपि जीर्णोद्धारमकारयत् । शिखीन्दुरवि(१२१३)वर्षे च ध्वजारोपं व्यधापयत् ॥' इत्यग्रिमप्राभाविकचरित्रतो वाग्भटस्य सत्ता १२१३ विक्रमसंवत्सरे (1157 A. D.) प्रतीयते. वर्णितस्य जयसिंहमहीपतेः सत्तापि १०९३–११४३ खिस्ताब्देष्विति हेमाचार्यप्रणीतद्व्याश्रयकाव्यस्य 'इण्डियन् आण्टिक्वेरी' चतुर्थपुस्तकस्थभाषान्तरतोऽवगम्यते. जुलियस्–एग्लिङ्ग (Julius Eggeling, Ph. D.) पण्डितस्तु 'Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of the India Office' नाम्नि सूचीपत्रे वाग्भटालंकारप्रकरणे 'जयसिंहनरपतेः सत्ता १०९३–११५४ खिस्ताब्देषु' इति लेस्सनपण्डितोक्तिमनुवदति. 'वाग्भटालंकारकर्ता वाग्भटो नेमिकुमारस्य पुत्रः' (Wâgbhata, son of Nemikumâra and Mahâdevî or Wasundharâ) इति वाग्भटालंकारप्रकरणे वदन् जुलियस्-एग्लिङ्-पण्डितस्तु प्रागुपदर्शितसंकरोदाहरणगाथानवलोकनभ्रान्त एव. नेमिकुमारस्य पुत्रः काव्यानुशासनप्रणेता वाग्भटस्त्वस्माद्वाग्भटादन्य एव. यतः काव्यानुशासनग्रन्थे गुणप्रकरणे 'इति दण्डि-वामन-वाग्भटादिप्रणीता दश गुणाः । वयं तु माधुर्यौजःप्रसादलक्षणांस्त्रीनेव गुणान्मन्यामहे । शेषास्तेष्वेवान्तर्भवन्ति' इति लेखतः स्फुटमेव वाग्भटालंकारकाव्यानुशासनप्रणेत्रोर्भेदः प्रतीयते. अष्टाङ्गसंग्रह-अष्टाङ्गहृदयसंहिताप्रणेता वाग्भटस्तु सिंहगुप्तसूनुः. नेमिनिर्वाणकर्तुर्वाग्भटस्य निर्णयस्तद्ग्रन्थभूमिकातोऽवसेयः.

२. अस्य वाग्भटालंकारस्य—(१) जिनवर्धनसूरिविरचिता, (२) सिंहदेवगणिप्रणीता, (३) क्षेमहंसगणिरचिता, (४) अनन्तभट्टसुतगणेशरचिता, (५) राजहंसोपाध्यायरचिता, इति पञ्च व्याख्यास्तु समुपलब्धाः. तत्र जिनवर्धनसूरिरचितव्याख्यासहितपुस्तकं जयपुरराजगुरुभट्टश्रीनारायणपर्वणीकरैः, सिंहदेवगणिप्रणीतव्याख्यासहितपुस्तकं (क-चिह्नितं) रामनारायणसूनुमोहनलालैः, (ख-चिह्नितं) उक्तटीकायुक्तपुस्तकमेव पण्डितवरज्येष्ठारामशर्मभिः प्रहितमिति तेषामुपकारं महान्तमूरीकुर्मः.

श्रियमिति । श्रीनाभेयजिनो वः श्रियं दिशतु प्रति संटङ्कघटना । नाभेरपत्यं नाभेयः । 'इतोऽनिञः' इत्येयण् । श्रिया युक्तो नाभेयः श्रीनाभेयः । 'मयूरव्यंसकादयः' इति मध्यमपदलोपी समासः । श्रीनाभेयश्चासौ जिनश्चेति कर्मधारयः । दीव्यति दिव्यकेवलज्ञानश्रिया दीप्यत इति देवः । एतेन भगवतो ज्ञानातिशयः सूचयांचक्रे । श्रीनाभेय इत्यत्र श्रिया अष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या युक्तत्वप्रतिपादनेन प्रभोः पूजातिशयः प्रत्यपादि । जयति रागद्वेषादिरिपून्पराभवतीति जिनः । अनेन परमेश्वरस्यापायापगमातिशयो ज्ञापितः । मोक्षमार्गमित्यादिनोत्तरार्धेन पुनः स्वामिनो वचनातिशयः ख्यापितः । एवं चत्वारोऽप्यतिशयाः प्रज्ञाप्यन्ते स्म । 'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः' इत्युक्तेः स इति गम्यते । ततश्च स श्रीनाभेयजिनो वो युष्माकं श्रियं कल्याणलक्ष्मीं ददात्विति भावः । स क इत्याह—यस्य भगवत आगमपदानां सिद्धान्तवचनानामावली श्रेणिः सतां विदुषामुत्तमानां मोक्षस्य मार्गं सम्यग्रत्नत्रयाराधनरूपं ब्रूते ब्रवीति । प्रकाशयतीत्यर्थः । अथान्यस्यापि कस्यचिदागमस्यागतस्य पदानि पादप्रतिबिम्बानि तेषां पङ्क्तिर्दृष्टा सती सतां पन्थानं प्रकटयतीत्युक्तिलेशः । तथा शास्त्रादौ त्रिविधानां देवतानां स्तुतिः संभवति—समुचितायाः, इष्टायाः, समुचितेष्टायाश्चेति । तत्र समुचिताया देवतायाः स्तुतिर्यथा नीतिशास्त्रारम्भे राजादेः, कामशास्त्रारम्भे स्मरादेः । इष्टायाः स्तुतिर्यथा रघुकाव्ये शिवगौर्योः । समुचितेष्टायाः स्तुतिर्यथा श्रीयोगशास्त्रारम्भे महावीरयोगिनाथस्येति । अत्र पुनः शास्त्रारम्भे श्रीनाभेयनमस्कारेणाभीष्टदेवतास्तुतिं प्रचक्रे वाग्भटः । अथवा श्रियोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्म्या इनः स्वामी श्रीनः । 'ञिभीङ् भये' । भीयते इति भेयम् । 'भावे य एचातः' इति यः । भयमित्यर्थः । न विद्यते भेयं संसारभ्रमोद्भवं भयं यस्य सोऽभेयः । जिनः श्रुतकेवल्यपि भण्यते, तस्यापि प्रायो रागादिजयात् । तन्निरासार्थमभेयश्चासौ जिनश्चाभेयजिन इति । एवंविधश्च सामान्यकेवल्यपि लभ्यते, तस्य भवभ्रमभयाभावात् । तन्निराकरणार्थं श्रीनश्चासावभेयजिनश्च श्रीनाभेयजिनः इति । एवंविधश्चार्हन्नेव भवतीति सामान्येनार्हतां नमस्कारः कृतो भवति ॥

यद्वा काव्यशास्त्रस्य सर्वेषामपि साधारणोपयोगित्वाद्वैष्णवमतेनापि नमस्कारस्य लेशतो व्याख्या । यथा—श्रीर्विष्णुपत्नी । नाभेरुत्पन्नत्वाद्ब्रह्मापि नाभेयः कथ्यते । 'विष्णोर्नाभिस्थकमले विश्वकर्तुर्निवासः' इति लोकोक्तेः । तथा चाहुः—'नाभिभूः पद्मभूः–' इत्यादि तन्नामानि । जिनो विष्णुः । 'पीताम्बरो मार्जजिनौ कुमोदकः' इति चिन्तामणिवचनात् । ततश्च श्रीश्च नाभेयश्च श्रीनाभेयौ ताभ्यामुपलक्षितो जिनः श्रीनाभेयजिनः स श्रियं दिशतु । वाशब्दोऽव्ययमवधारणे पूरणे वा । किंविशिष्टः । उदेवः 'उरीश्वरः' इत्येकाक्षरनाममालावचनात्—उः शंभुः स एव पूज्यत्वाद्देवो यस्य स तथा । तदुक्तम्—'ब्रह्माच्युताभ्यर्चितपादपद्मो न पूज्यते किं मनुजैर्गिरीशः' इति ॥

ननु नमस्कारस्य विघ्नविघाते कथं सामर्थ्यम् । उच्यते—नमस्कारेण पुण्यमुपजायते, पुण्येन विघ्नाः प्रतिहन्यन्त इति । यत्रापि च नमस्कारमन्तरेणापि निर्विघ्ना शास्त्रपरिसमाप्तिर्दृश्यते, तत्रापि मानसिकः प्रणिधानरूपोऽयं घटत एवेति सफलो नमस्कारव्यापारः ॥ इति प्रथमपद्यार्थः ॥

किं च—

'मङ्गलं चाभिधेयं च संबन्धश्च प्रयोजनम् ।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता ॥'

तत्र मङ्गलमभिहितं नमस्कारवचनेन । अभिधेयं चात्र शास्त्रे सम्यक्काव्यस्वरूपम् । संबन्धश्चास्य वाच्यवाचकभावादिः । तथाहि—एतच्छास्त्रं वाचकम्, सम्यक्काव्यस्वरूपं वाच्यम् । उपायोपेयभावो वात्र संबन्धः । वचनरूपापन्नं हीदं शास्त्रमुपायः । तत्परिज्ञानं चोपेयमिति ॥ प्रयोजनं त्वनन्तरं शिष्याणां शास्त्रार्थपरिज्ञानम् । परम्परं तु सम्यक्कवित्वलब्धिस्फूर्त्या कीर्तिप्रभृति । आचार्यस्य त्वनन्तरं प्रयोजनं शिष्यानुग्रहः । परम्परं तु तदेव । ऐहिकमिदमुक्तम्. पारत्रकं तु परम्परप्रयोजनमुभयेषामपि निःश्रेयसावाप्तिरिति । अतो यदुच्यते केनचित्—'नारब्धव्यमिदं शास्त्रमभिधेयादिरहितत्वात्काकदन्तपरीक्षावत्' इति, तन्न किंचित्, उक्तयुक्त्याभिधेयादिदर्शनात् । अमुमेवार्थं समर्थयितुं वक्ष्यमाणार्थपरिच्छेदक्रमोद्देशगर्भं काव्यफलमाह—

साधुशब्दार्थसंदर्भं गुणालंकारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ २ ॥

अत्र प्रस्तावाच्छिष्यः कर्ता गम्यते । ततः शिष्यः काव्यं कवेः कर्म काव्यम् । 'पतिराजान्ताद्यण्' इति यणि प्रत्यये साधुः । कुर्वीत विदधीत । कस्यै । कीर्तये यशसे । इति फलनिर्देशः । अत एव 'कुर्वीत' इत्यत्र फलवत्कर्तर्यात्मनेपदविधानम् । काव्यं किंविशिष्टम् । साधुशब्दार्थसंदर्भं वक्ष्यमाणेनानर्थकत्वादिना दोषेण रहितः शब्दः साधुः । अर्थस्तु वक्ष्यमाणेन देशविरुद्धत्वादिना दोषेण विमुक्तः साधुर्भवति । ततश्च साधू निर्दोषौ शब्दार्थौ यस्मिन्संदर्भे स साधुशब्दार्थः संदर्भो रचना यत्र तत्तथा । साधुशब्दार्थयोः संदर्भो यत्रेति विग्रहं कुर्वन्ति । तत्र समासप्राप्तिरुत्सूत्रा ॥ यद्वा—शब्दार्थयोः संदर्भः शब्दार्थसंदर्भः साधुः शब्दार्थसंदर्भो यत्रेति विग्रहः कार्यः ॥ 'साधुशब्दार्थ–' इत्यनेन च शब्दार्थप्रतिपादको द्वितीयः परिच्छेदः सूचितः ॥ तथा—गुणा औदार्यादयः, अलंकाराश्च शाब्दाश्चित्रवक्रोक्त्यादयः, आर्थास्तु जात्युपमादयः, तैर्भूषितम् । अलंकृतमित्यर्थः । अनेन च तृतीयो गुणपरिच्छेदः, चतुर्थश्चालंकारपरिच्छेदः सूचितः ॥ तथा—स्फुटाः काव्यानुकूलत्वेन प्रकटा या रीतयो गौडीयाद्याः पदरचनाविशेषाः, रसाश्च शृङ्गारादयो वक्ष्यमाणाः, तैरुपेतमन्वितम् । अनेन चतुर्थपरिच्छेदे रीतिप्रतिपादनं ज्ञापितम्, पञ्चमश्च रसपरिच्छेदः सूचितः । प्रथमः पुनरयं शिक्षापरिच्छेदः ॥काव्यस्य चानेकगुणत्वेऽपि कीर्तेरेव ग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम् । यावता हि कवित्वं धनं, व्यवहारपरिज्ञानं, अशिवोपशमनं, सहृदयानां चाह्लादं करोति । इदमेव च कवित्वं कान्तासंमितभूतं कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य 'रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्युपदेशं च विधत्ते इति । तदुक्तं काव्यप्रकाशे राजा[नक]श्रीमम्मटकवीन्द्रेण—'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' त्रिविधं हि शास्त्रम् । यथा—प्रभुसंमितं शब्द-

प्रधानं वेदादि । सुहृत्संमितमर्थतात्पर्यवत्पुराणादि । कान्तासंमितं चोक्तलक्षणं विशिष्टकाव्यादि । इति । एतद्विपरीतं काव्यं विपरीतफलमेव स्यादिति व्यतिरेकार्थः ॥

अथ कवित्वस्योत्पत्तये सामग्रीमुपदिशन्नाह—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसंकथा ॥ ३ ॥

'सर्वं हि वाक्यं सावधारणमामनन्ति' इति न्यायात् प्रतिभैव तस्य काव्यस्य कारणं हेतुर्भवति । नवनवबोधप्रकारशालिनी बुद्धिः प्रतिभा । 'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति वचनात् । ननु यदि प्रतिभैव काव्योत्पत्तेर्बीजं तदा व्युत्पत्तिः किं करोति । उच्यते—तस्य काव्यस्य प्रतिभया जन्यमानस्य व्युत्पत्तिर्भूषणमलंकारो भवतीत्यर्थः । अभ्यासस्तु पुनःपुनस्तदासेवनलक्षणस्तस्य काव्यस्य भृशमुत्पत्तिं करोति भृशोत्पत्तिकृद्भवति । अभ्यसने हि सतः स्थैर्यादेर्योगान्निर्विलम्बकाव्योत्पत्तेः । एवं प्रतिभाव्युत्पत्त्यभ्यासानां त्रयाणामपि स्वस्वविषयः । पार्थक्येन प्रदर्शितः । इति पूर्वोक्तप्रकारा पुराणकवीनां संकथोपदेशः ॥

अथ ग्रन्थकारः प्रतिभां व्याख्यातुमाह—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥

प्रसन्नान्यक्लिष्टानि यानि पदानि । तथा—नव्याभिनवा यार्थयुक्तिः । ततः—प्रसन्नपदानि च नव्यार्थयुक्तिश्च प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तयस्तासामुद्बोध उल्लासस्तं विदधातीत्येवंशीला स्फुरन्ती अस्खलद्रूपा सर्वतो मुखं यस्याः सा तथा । सर्वव्यापिनी सर्वाङ्गीणा चेत्यर्थः । एवंविधोत्तमकवेर्बुद्धिः प्रतिभा प्रोच्यते ॥

अथ व्युत्पत्तिं व्याचिख्यासुराह—

शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका ।
प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥ ५ ॥

शास्त्रशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्—शब्दशास्त्रं व्याकरणम्, धर्मशास्त्रमागमः, अर्थशास्त्रं चाणक्यप्रणीतो राजनीतिग्रन्थः, कामशास्त्रं को(कुक्को)कवात्स्यायनादिग्रन्थः । आदिशब्दाच्छन्दोलंकाराभिधानचिन्तामणिगजाश्वरत्नपरीक्षादिशास्त्राणि बौद्धादिदर्शनाभिधायकशास्त्राणि च गृह्यन्ते । अत्र 'शब्द–' इत्यादिद्वन्द्वे कृते शब्दधर्मार्थकामा आदौ येषां ते शब्दधर्मार्थकामादयस्तेषां शास्त्राणीति समासविधिः । एतेषु सर्वेषु—आम्नायः पूर्वो यस्याः साम्नायपूर्वा स्वार्थिककप्रत्यये आम्नायपूर्विका । गुरुपारम्पर्यमूलेत्यर्थः । असामान्या निःसामान्या प्रतिपत्तिः परिज्ञानविशेषो व्युत्पत्तिः प्रोच्यते । शब्दशास्त्रेऽप्रवीणो हि काव्ये क्रियापदविन्यासे निःसंशयो न भवति । धर्मशास्त्रादिपरिज्ञानरहितश्च तत्तत्प्रबन्धेषु धर्मार्थकाममोक्षादिकार्यजातमुदाहर्तुमशक्तः कथं कविर्भवतीति ॥

अथाभ्यासमाह—

अनारतं गुरूपान्ते यः काव्ये रचनादरः ।
तमभ्यासं विदुस्तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥ ६ ॥

निरन्तरं गुरुपार्श्वे यः काव्यविषये रचनाया आदरो भवति, कवयस्तमभ्यासं विदुर्निश्चितत्वेन जानन्ति । एतेन—यः कदाचिदेकवारमप्यभ्यसनमात्रमभ्यासः, सोऽभ्यास एव न भवति—इति ज्ञापितम् । तस्य पूर्वोक्तस्याभ्यासस्य कोऽपि कियन्मात्रः । न समग्र इति भावः । क्रमः प्रकार उपदिश्यते ॥

तमेवाह—

बिभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्थशून्यया ।
वशीकुर्वीत काव्याय च्छन्दांसि निखिलान्यपि ॥ ७ ॥

काव्याय काव्यं निष्पादयितुं शिष्यः सर्वाण्यपि च्छन्दांसि शालिनीमालिनीप्रभृतीनि वशीकुर्वीत अवशान्यपि वशानि कुर्यात् । कया । पदानामावली श्रेणिस्तया । किंविशिष्टया । अर्थशून्यया । अभिधेयरहितयापीत्यर्थः । तथा—बन्धस्य संदर्भस्य चारुत्वं मृदुपद्धतियोगेन मनोज्ञत्वं बिभ्रत्या धारयन्त्या । यादृशो हि प्रथममभ्यासस्तादृशी पुरः कार्यनिष्पत्तिरिति विशिष्टकाव्यार्थिभिरभ्यासोऽपि सुललितपदशय्यामाधुर्यविशिष्ट एव विधेयः ॥ अत्र चोदाहरणमुच्यते—

'देवश्रेणी कीर्तिविस्फूर्तिरेणी धर्माधर्मप्राप्तये धर्ममानः ।
विश्वाधानं मन्यमानः समानं मातृस्नेहा रोहिणीवप्रदीपा ॥'

इति शालिन्यभ्यासोऽर्थसंबन्धशून्ययापि शब्दश्रेण्या । एवं सर्वाण्यपि च्छन्दांसि सार्थकैर्निरर्थकैर्वा शब्दसंबन्धैरभ्यसनीयानीति ॥

अथ बन्धचारुत्वमेव कथं भवतीत्याह—

पश्चाद्गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणामलोपनम् ।
विसंधिवर्जनं चेति बन्धचारुत्वहेतवः ॥ ८ ॥

संयोगवशात्पाश्चात्यवर्णस्य गुरुत्वं कार्यम् । एवं हि बन्धस्य दार्ढ्यं भवति । तथा—विसर्गलोपो न कार्यः । यतो विसर्गाणामवस्थानेन काव्य ओजोगुण उपजायते । तथा—विशब्दो विरूपत्वेऽभावे च वर्तते । यथा—'विस्वरोऽयं गायनः, विमदो मुनिरयम्' इति च । ततोऽत्रापि विरूपः संधिर्विसंधिः । यद्वा—न संधिर्विसंधिरिति । विरूपसंधेरसंधेश्च वर्जनं कार्यम् । एवंप्रकारा अन्येऽप्युष्ट्रलष्ट्रादिक्लिष्टपदवर्जनादयो बन्धचारुत्वस्य हेतवो भवन्तीति प्रकारार्थ इतिशब्दः सूचयति । अत्रोदाहरणं यथा—

'निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥'

इदमुदाहरणमन्वये उक्तम् ॥

व्यतिरेके तु ग्रन्थकार एवोदाहरति—

शिते कृपाणे विधृते त्वया घोरे रणे कृते ।
त्रधीश क्षितिपा भीत्या वन एव गता जवात् ॥ ९ ॥

नृणामधीशो त्रधीशः संबोधने हे त्रधीश नरेन्द्र, त्वया शिते तीक्ष्णे खड्गे धारिते सति । अत एव रणे संग्रामे घोरे रौद्रे त्वया कृते सति क्षितिपाः प्रस्तावाच्छत्रवो नृपा भयेन वने कानने एव गताः । न क्षणमपि युद्धे स्थिता इति भावः । जवाद्वेगात् । अनेन सातिशयं भयं व्यज्यते । अत्र 'विधृते त्वया' इत्यादौ संयोगवशात्पूर्वस्य गुरुत्वं नास्ति, किं तु सहजं विभक्तिकृतम् । 'त्रधीश' इत्यत्र विरूपसंधिः, 'क्षितिपा भीत्या' इत्यत्र विसर्गाणां लोपोऽस्ति । एवमेभिर्दोषैरस्मिन्बन्धे शैथिल्यादिप्राप्तेर्नास्ति बन्धचारुत्वम् । अतो विशिष्टकाव्यार्थिभिरभ्यासोऽपि बन्धचारुत्वेऽप्येतयैव पदावल्या कार्य इति स्थितम् ॥

अथार्थविशेषं विनापि पद्यबन्धाभ्यासमाह—

अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वतः ।
अर्थसंकलनातत्त्वमभ्यस्येत्संकथास्वपि ॥ १० ॥

शिष्यः कविरर्थसंकलनातत्त्वमर्थस्याभिधेयस्य संकलनातत्त्वं संघटनारहस्यं पद्यबन्धविधिलक्षणं संकथास्वपि परस्परालापेष्वप्यभ्यस्येत् । कस्यां सत्यामित्याह—नव्यार्थयुक्तावभिनवायामर्थयुक्तावनुल्लसन्त्यावस्फुरन्त्यामित्यर्थः ॥ नव्यार्थयुक्तेरनुल्लासः कुत इत्याह—अभिनवत्वतः कवेर्नवीनत्वादित्यर्थः ॥

अत्रोदाहरति । यथा—

आगम्यतां सखे गाढमालिङ्ग्यात्र निषीद च ।
संदिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय ॥ ११ ॥

यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थः । हे मित्र, त्वयागम्यताम् । तथा—प्रस्तावान्मामालिङ्ग्याश्लेषं कृत्वात्र स्थाने त्वं निषीदोपविश । 'आलिङ्गात्र' इति पाठे तु—सखे, त्वं मामालिङ्ग । ममालिङ्गनं कुर्वित्यर्थः । तथा—यन्निजभ्रातुर्मल्लक्षणस्य जायया । अथवा निजया भ्रातृजायया । संदिष्टमस्ति । स्वभ्रातृजायया यः संदेशो मम ज्ञापितोऽस्तीत्यर्थः ॥ ननु कथं 'भ्रातृजायया' इति सिध्यति । यतोऽत्र योनिसंबन्धसद्भावात् 'ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे' इति सूत्रेण षष्ठ्यलुक्प्राप्तेः 'भ्रातुर्जायया' इत्यलुक्समासः प्राप्नोति 'मातुःष्वसा' इत्यादिवत् । उच्यते—भ्रातेव भ्राता वयस्य इत्यर्थः । ततश्च भ्रातृशब्दस्य मित्रार्थत्वादत्र योनिसंबन्धाभावादलुक्समासस्याप्राप्तिः । तथा च वक्तारो भवन्ति—'ममानेन सह भ्रातृत्वमस्ति' । सखित्वमित्यर्थः॥

ननु यदि नव्यार्थयुक्तिर्नोल्लसति, तदा परकाव्यार्थमादाय किमित्यभ्यासो न विधीयते इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

परार्थबन्धाद्यश्च स्यादभ्यासो वाच्यसंगतौ ।
स न श्रेयान्यतोऽनेन कवेर्भवति तस्करः ॥ १२ ॥

१. 'उक्तं च—परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो विज्ञायते ज्ञैरिह काव्यचौरः । विलोक्य

चशब्दोऽत्र पुनरर्थे । यः पुनरभ्यासः परेषां कवीनां गृहीतस्यार्थस्य बन्धाद्भवेत् । अभ्यासः किंविषय इत्याह—वाच्यसंगतौ वाच्यस्यार्थस्य संगतौ । संघटनायामित्यर्थः । अत्र विषयसप्तमी ज्ञेया । अर्थसंबन्धविषये योऽभ्यासो भवतीति भावः । सोऽभ्यासः श्रेयान्प्रशस्यो न भवति । यस्माद्धेतोरनेन परार्थबन्धेन । अथवा—परार्थबन्धात्क्रियमाणेनार्थविषयाभ्यासेन कविः काव्यकर्ता तस्कर इव तस्करतुल्यो भवति ॥ 'वाच्यसंगतौ' इति प्रतिपादनाच्छब्दसंगतिविषयोऽभ्यासः परतोऽपि गृहीतो न स्तैन्यं सूचयतीति । तथा परार्थबन्धप्रसक्तः कविः सुखमग्नो नाभिनवार्थोत्पत्तये क्लिश्यते । ततश्च परार्पितवर्ण्यविशेषवर्णनायामशक्तः सन्नुपहास्यः स्यात् । कीर्त्यर्थं च काव्यविधानं विपरीतफलमेव भवेदिति ॥

समस्यायां पुनः परार्थग्रहणं न विरुद्धम् । विशेषतस्तथा वैदुष्यातिशयदर्शनादिति तथैव चाह—

परकाव्यग्रहोऽपि स्यात्समस्यायां गुणः कवेः ।
अर्थे तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ॥ १३ ॥

समस्यायां परकाव्यग्रहोऽपि विशिष्टबुद्धिप्रकाशलक्षणगुणहेतुत्वाद्गुणः स्यात् कवेः काव्यकर्तुरित्यर्थः ॥ अत्र परकाव्यग्रहणेन परकाव्यस्यैको वा द्वौ वा त्रयो वा पादा ग्राह्याः, न तु संपूर्णं काव्यम् । परकाव्यग्रहणस्य गुणत्वे हेतुमाह—हि यस्माद्धेतोरसौ समस्यापूरकः कविस्तस्य परकाव्यस्य योऽर्थस्तस्यानुगतमनुयायिनमनुकूलमर्थमश्रुतपूर्वं नवं निजप्रतिभाप्रागल्भ्येनाभिनवं रचयति । एवं च समस्यापूरणे परकाव्यार्थमपि निजनिर्मलबुद्धिबलोत्पादिताभिनवार्थेन योजयन्कविश्चमत्कारकारको भवतीति । समस्योदाहरणं यथा—केनाप्येकपादोऽर्पितः—'कज्जलं जयति कुङ्कुमोपमम्' इति । एतदर्थसंगत्यर्थं पादत्रयं नवं विधेयम् । यथा—

'जानती भगवता भवं हतं पार्वती निजपतिभ्रमाद्रुषा ।
रक्तमक्षि विदधे रुचास्य तत्कज्जलं जयति कुङ्कुमोपमम् ॥'

स्वमिदम् ॥ राज्ञार्पितं पादत्रयं कुमारसंभवस्य पृथक्पृथग्रसं[2] यथा—'चकार मेना विरहातुराङ्गी', 'प्रवालशय्याशयनं शरीरम्', 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति । तुर्यपादेन पूरणे तु—

'चकार मेना विरहातुराङ्गी प्रवालशय्याशयनं शरीरम् ।
हिमालयो नाम नगाधिराजस्तव प्रतापज्वलनाज्जगाल ॥'

इत्यादि स्वयं ज्ञेयम् ॥

माणिक्यमयोग्यहस्ते प्रत्येति को नाम यदेतदस्य ॥' इति जिनवर्धनसूरिप्रणीतव्याख्यायां संवादान्तरमप्युक्तम्.

१. 'विषयैर्वर्णना' क. २. 'पृथक्२ रुक्तं' क; 'पृथग्रसलं' ख.

अथ काव्यनिमित्तमर्थोत्पत्तये सामग्रीमाह—

मनःप्रसत्तिः प्रतिभा प्रातःकालोऽभियोगिता ।
अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः ॥ १४ ॥

सकलाधिविगमनान्मनसः प्रसन्नता । 'बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' । प्रातःकालस्योपलक्षणत्वादपररात्रादिवेलापि ज्ञेया । तत्र हि मन्दमेधसोऽपि मेधा प्रसीदति । अभियोग उद्यमोऽस्यास्तीति । इन् । तद्भावोऽभियोगिता । नानाशास्त्रदर्शनशीलत्वं च । अत्र समुच्चयार्थश्चशब्दोऽनुक्तोऽपि गम्यते । यथा—'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम् । वैवस्वतो न तृप्यति सुराया इव दुर्मदी ॥' इति । पूर्वोक्ता अर्थालोकस्यार्थप्रकाशस्य हेतवो भवन्ति ॥

किं च—

वर्ण्यवस्तुपरीवारं दृष्ट्वा बध्नन्विशेषणैः ।
वाक्यैर्वाशुकविर्भूयादुत्तरार्धोपमादिभिः ॥

अथ समुत्पन्नस्यार्थस्य निवेशनविषये शिक्षामाह—

समाप्तमिव पूर्वार्धे कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।
तत्पुरुषबहुव्रीही न मिथःप्रत्ययावहौ ॥ १५ ॥

कविरर्थस्य प्रकाशनं पूर्वार्धे काव्यस्य समाप्तमिव समाप्तप्रायं विदध्यात् । न तु समाप्तमेव । उत्तरार्धे तूपमार्थान्तरन्यासादिप्रकारैरर्थपूरणं कार्यमित्युक्तपूर्वम् ॥ पुनः शिक्षान्तरमाह—कुर्यादिति क्रियानुवर्तते । तत्पुरुषश्च बहुव्रीहिश्च मिथः प्रत्ययमावहत इति मिथःप्रत्ययावहौ तौ परस्परप्रतीतिकारकौ न कुर्यादित्यर्थः ॥ यथा—'वृत्रशत्रुः' इत्युक्ते—वृत्रः शत्रुर्यस्येति बहुव्रीहौ सत्यपि वृत्रश्चासौ शत्रुश्चेति तत्पुरुषभ्रान्तिः स्यात् । एवं 'वीरपुरुषः' इत्युक्ते—वीरश्चासौ पुरुषश्चेति तत्पुरुषे सत्यपि वीराः पुरुषा यत्र ग्राम इति बहुव्रीहिप्रतीतिः स्यात् । एवं न कार्यम् ॥ ननु 'वृत्रश्चासौ शत्रुश्च' इत्यत्र 'वीरश्चासौ पुरुषश्च' इत्यत्र च कर्मधारयसद्भावात्तत्पुरुषभ्रान्तिरयुक्ता प्रोक्ता, इति चेत्, मैवम् । कर्मधारयसंज्ञाधिकारे तत्पुरुषसंज्ञाया अपि शाब्दिकैः प्रतिपादनात् । ततः कर्मधारयः तत्पुरुषसहचर एवेति तत्पुरुषभ्रान्तिरुक्ता ॥ 'अनुष्टुभि सनौ नाद्यात्' इति वचनान्निषिद्धो नगणपातः 'तत्पुरुषबहुव्रीही' इत्यत्र न विरुद्धः स्यात्, अस्य शिक्षाशास्त्रत्वादिहेतुभिः ॥

---

१. अयं श्लोकः कास्वपि टीकासु न व्याख्यातः. केवलं प्रकृतटीकायामेव लभ्यते. ख-पुस्तके तु मूले टीकायां चोपलभ्यते. परंतु व्याख्यास्य नोपलभ्यते. परंतु प्रकृतव्याख्यायामेव 'समाप्तमिव पूर्वार्धे–' इति वक्ष्यमाणश्लोकव्याख्यायां 'उत्तरार्धे तूपमार्थान्तरन्यासादिप्रकारैरर्थपूरणं कार्यमित्युक्तपूर्वम्' इति लेखेनास्य पद्यस्योक्तत्वं प्रतीयते. तच्चोक्तत्वं मूले टीकायां वेति संदिग्धम्.

पुनः शिक्षान्तरमाह—

एकस्यैवाभिधेयस्य समासं व्यासमेव च ।
अभ्यस्येत्कर्तुमाधानं निःशेषालंक्रियासु च ॥ १६ ॥

कविः एकस्यैव एकस्याप्यभिधेयस्यार्थस्य समासं लघुनि च्छन्दसि संक्षेपं व्यासमेव च विस्तरमपि च कर्तुं विधातुमभ्यस्येच्छिक्षयेत् । लघुच्छन्दसार्थस्य संक्षेपं कर्तुमभ्यस्येत् । प्रौढच्छन्दसार्थस्य विस्तरमपि कर्तुमभ्यस्येत् । तथा । कविरभ्यस्येत् । किं कर्तुम् । आधानं कर्तुं अर्थस्य स्थापनां कर्तुम् । कासु । निःशेषालंक्रियासु सर्वालंकारेषु । अयं भावः—सर्वेष्वप्यलंकारेषूपमादिष्वेकस्याप्यर्थस्य स्थापनां कर्तुं चाभ्यस्येदित्यर्थः ॥ प्रौढस्यार्थस्य लघुच्छन्दसा समासो यथा—

'ढक्काध्वनिप्रतिध्वानमुखरास्त्वद्रिपून्भयात् ।
लीयमानान्निकुञ्जेषु वारयन्तीव पर्वताः ॥'

अस्यैवार्थस्य व्यासो यथा—

'यात्रारम्भभयानकानकशतध्वानप्रतिध्वानिनः
स्वस्योच्छेदपराभवागममभी संभाव्य शङ्काकुलाः ।
त्रासावेशवशाद्वसन्तमधुना त्वद्वैरिराजव्रजं
दूरादेव निराकरिष्णव इव स्वामिन्विभान्त्यद्रयः ॥

अथवा—

'ज्योत्स्ना गङ्गा परब्रह्म दुग्धधारा सुधाम्बुधिः ।
हाराश्चापि न रोचन्ते रोचते यदि ते यशः ॥'

अयं समासः । अस्यैव व्यासो यथा—

'ज्योत्स्ना स्निग्धा न, नो वा हरति हरशिरोरङ्गिणी हृत्तरङ्गिण्यानन्दब्रह्म रम्यं न भवति, मधुरा नाप्यसौ दुग्धधारा ।
मुग्धा दुग्धाम्बुधेर्नो विलसति लहरी हारिणो वा न हाराः
प्रत्यग्राः स्वर्गशृङ्गाङ्गणरमणचणाः कीर्तयश्चेत्त्वदीयाः ॥'

स्वे । तथा निःशेषालंकारेष्वर्थाधानविषयेऽभ्यासो यथा—'मुखमस्याः सुन्दरम्' इत्येतावन्मात्रोऽर्थो 'मुखकमलं सुन्दरम्' इति रूपके आधीयते, 'अस्या मुखे षट्पदावलिः कमलबुद्ध्या निपतति' इति भ्रान्तिमदलंकारे, 'अस्या मुखे घटिते विधात्रा चन्द्रः किमर्थं निष्पादितः' इत्याक्षेपे 'इदमेतस्या मुखमथवा पद्मम्' इति संशयालंकारे, इदं न मुखं किंतु कमलम्' इत्यपह्नुतौ, 'अनलंकृति सुभगमस्याः स्त्रियो मुखम्' इति विभावनायाम्, 'अस्या युवत्या वदनकान्तिभिर्निराकृते विलासभवनतमोभरे न स्मरति प्रदीपं परिजनः' इत्यतिशये । एवमन्येष्वप्यलंकारेषु स एवार्थोऽभ्यसनीयः ॥

अथ काव्यकर्तृणां विशेषं ज्ञापयति—

स्यादनर्धान्तपादान्तेऽप्यशैथिल्ये लघुर्गुरुः ।
पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः ॥ १७ ॥

अर्धस्यान्तः अर्धान्तः, पादस्यान्तः पादान्तः, अर्धान्तश्चासौ पादान्तश्च अर्धान्तपादान्तः, न अर्धान्तपादान्तोऽनर्धान्तपादान्तः । अथवा । अनर्धान्तश्चासौ पादान्तश्चेति समासविधिः । आस्तां तावत् । यत् अर्धान्तपादान्ते अर्धान्तरूपे पादान्ते लघुवर्णो गुरुर्भवति । किंतु अनर्धान्तपादप्रान्तेऽपि लघुर्वर्णो गुरुर्भवति । कस्मिन्सति । अशैथिल्ये सति। शिथिलस्य भावः शैथिल्यम्, न शैथिल्यमशैथिल्यम्, तस्मिन्बन्धस्य दृढत्वे सतीत्यर्थः ।

'तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय तुभ्यं नमो जिन भवोदधिशोषणाय ॥'

एवंविधेषु वसन्ततिलकेन्द्रवज्रादिषु छन्दःसु बन्धस्य दृढत्वे सति प्रथमतृतीयपादान्तेऽपि लघुर्गुरुः स्यात् । न पुनर्मालिनीप्रभृतिषु, बन्धशैथिल्यसंभवात् । तथा बुधैः पादस्यादौ चादयो न वाच्याः । यथा—'च नौमि नेमिं सुविधिं सुपार्श्वम्' इत्यादि । प्रायोग्रहणात्—रे-धिक्-हा-किं-न-आः-प्रभृतयो न दुष्टाः । यथा—

'रे राक्षसाः कथयत क्व स रावणो यो रत्नं रवीन्दुकुलयोरपहृत्य नष्टः ।'
'यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥'
'आः सर्वतः स्फुरति कैरवमाः पिबन्ति ज्योत्स्नां कषायमधुरामधुना चकोराः ।
जातोऽथ सैष चरमाचलचूलचुम्बी पङ्केरुहप्रकरजागरणप्रदीपः ॥'

अन्यत्स्वयमप्यूहनीयम् ॥

अथ कविसमयं शिक्षयितुमाह—

भुवनानि निबध्नीयात्त्रीणि सप्त चतुर्दश ।
अप्यदृश्यां सितां कीर्तिमकीर्तिं च ततोऽन्यथा ॥ १८ ॥

कविर्विश्वानि काव्ये त्रीणि निबध्नीयात् । स्वर्गमर्त्यपाताललोकभेदात् । अथवा सप्त । यथा—(१) भूर्लोक-(२) भुवर्लोक-(३) स्वर्लोक-(४) महर्लोक-(५) जनलोक-(६) तपोलोक-(७) सत्यलोक इति । यद्वा चतुर्दश । यथा—सप्त पूर्वाण्येव । (८) तलं (९)वितलं (१०) सुतलं (११) नितलं (१२) तलातलं (१३) रसातलं (१४) पातालमिति । मतान्तरेण भुवनान्येकविंशतिरपि ॥ तथा—यद्यपि शुक्लत्वादयो गुणा मूर्तमद्द्रव्याश्रयास्तथापि कीर्तिमदृश्यामपि अमूर्तामपि श्वेतां निबध्नीयात् । अदृश्यामप्यकीर्तिं ततः श्वेतकीर्तेरन्यथा अपरप्रकारामसितां कृष्णामित्यर्थः । निबध्नीयात् ॥

वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त चाम्बुधीन् ।
चतस्रः कीर्तयेद्वाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ॥ १९ ॥

यद्यपि हस्तिनां वर्णः कृष्णस्तथापि सुरेन्द्रस्य गजं शुभ्रं कीर्तयेत् ॥ तथाग्नेस्तुरङ्गाणां लोहितवर्णः, सूर्यतुरङ्गाणां नीलवर्णः, इन्द्रतुरङ्गस्य कडारो वर्णः, स्वयमूहनीयः ॥ अम्बुधीन् वर्णयेत् । कति चतुःसंख्यान् । पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदात् । (१) लवण-(२) क्षीर-(३) दधि-(४) आज्य-(५) सुरा-(६) इक्षु-(७) स्वादुवारिसमुद्ररूपान् लोकप्रसिद्धान् ॥ तथा ककुभो दिशः कीर्तयेत् । कति । चतस्रः । अथवाष्टौ । यद्वा दश । न सर्वत्रापि दश किंतु क्वचित्स्थाने काव्योपयोगिनि पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरभेदाच्चतस्रो दिशः । चतसृणां विदिशां प्रक्षेपादष्ट । ऊर्ध्वदिगधोदिक्प्रक्षेपाद्दशापि दिशः । अत्रोदाहरणानि तेषु तेषु स्थानेषु स्वयं ज्ञेयानि ॥

पुनः शिक्षामाह—

यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित् ।
नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ ॥ २० ॥

यमकालंकारे श्लेषालंकारे चित्रालंकारे बकारवकारयोर्न भित् न भेदो भवति । पुनः कयोः । डकारलकारयोः । तथा—अनुस्वारश्च विसर्गश्च चित्रस्य हारबन्धच्छत्रबन्धादिरूपस्य भङ्गाय विघाताय न संमतौ कथिताविल्यर्थः ॥

अथ क्रमेणोदाहरणानि—

[तत्र] यमके बवयोर्डलयोरभेदो यथा—

शङ्कमानैर्महीपाल कारागारविडम्बनम् ।
त्वद्वैरिभिः सपत्नीकैः श्रितं बहुविडम्बनम् ॥ २१ ॥

हे महीपाल क्षितिपाल, त्वद्वैरिभिर्वनं श्रितम् । किंविशिष्टम् । बहूनि विडानि बिलानि सर्पादेर्विवराणि यत्र तत् । सह पत्नीभिर्वर्तन्त इति सपत्नीकास्तैः । किं कुर्वाणैः । शङ्कन्ते इति शङ्कमानास्तैः किं कर्म । तव कारारूपे आगारे विडम्बनं गुप्तिगृहकदर्थनमित्यर्थः । कारा चासावागारं चेति कर्मधारयः । अत्र श्लोके यमकालंकृते विडम्बनं बहु विलम्बनमिति बवयोर्डलयोश्चाभेदः ॥

श्लेषे बवयोरभेदो यथा—

त्वया दयार्द्रेण विभो रिपूणां न केवलं संयमिता न बालाः ।
तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिर्मुहुर्महीपातविधूसराङ्गाः ॥ २२ ॥

हे स्वामिन्, रिपूणां बालाः शिशवो न केवलं त्वया न संयमिताः न केवलं त्वया न बद्धाः । बन्दीकृता इत्यर्थः । किंतु तेषां रिपूणां कामिनीभिरपि वाला न संयमिताः । अत्र वालाः केशा न बद्धा इत्यर्थः । त्वया दयार्द्रेण सता न संयमिताः; तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिः सतीभिर्न बद्धा इति । बालाः शिशवो वालाश्च केशाः । किंविशिष्टाः । मुहुर्महीपातविधूसराङ्गाः । मुहुर्वारंवारं मह्यां पातेन पतनेन विधूसरं विशेषेण धूलिमिश्रितं अङ्गं येषां ते तथा । अत्र बालवालशब्दयोर्बवयोरैक्यम् ॥

श्लेषे डलयोरैक्यं यथा—

देव युष्मद्यशोराशिं स्तोतुमेनं जडात्मकम् ।
उत्कण्ठयति मां भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम् ॥ २३ ॥

हे देव राजन् ।अनेकार्थनाममालायां देवशब्दो राजार्थोऽप्यस्ति । युष्माकं यशसां राशिं स्तोतुं वर्णयितुं त्वदीया भक्तिर्मामुत्कण्ठयति उत्सुकं करोति । एनं इमं प्रत्यक्षं माम् । किंविशिष्टम् । जड आत्मा यस्य स जडात्मा जडात्मैव जडात्मकः । स्वार्थे कः प्रत्ययः । का इव । यथा इन्दोर्लेखा सागरमुत्कण्ठयति उल्लसितं करोति । सागरमपि किंभूतम् । जडात्मकं जलं नीरं आत्मा स्वरूपं यस्य स जलात्मकस्तं तथा । अत्र जडजलशब्दयोर्डलयोरैक्यम् ॥

अथ चित्रे डलयोरैक्यं यथा—

चन्द्रेडितं चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।
पश्यामि पापतिमिरक्षयकारकायमल्पेतरामलतपःकचलोपलोचम् ॥२४॥

अहं देवं पश्यामीति संटङ्कः । चन्द्रेण सकलज्योतिश्चक्रस्वामिना ईडितः स्तुतस्तम् । पुनः किंभूतम् । चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनम् । स्वर्शब्दोऽव्ययमस्ति । स्वः स्वर्गेऽधीतो विख्यातः । मेरुरित्यर्थः । तस्य सारं रत्नमयं आसनं पाण्डुकम्बलादिशिलास्थितम् । चटुलितं चञ्चलीकृतं स्वरधीतस्य मेरुशैलस्य साररत्नासनं येन स तम् । श्रीवीरेण मेरोः कम्पनात् आसनमपि कम्पते इति । अथवा । स्वः स्वर्गेण स्वर्गवासिदेवजनेन अधीतं पठितं व्यावर्णितं सारं बलं यस्य स स्वरधीतसार इन्द्र इत्यर्थः । चटुलितं कम्पितं स्वरधीतसारस्येन्द्रस्य रत्नासनं येन स तम् । परमेश्वरस्य कल्याणेषु इन्द्राणां सिंहासनानि कम्पन्त इति । रभसेन वेगेन कल्पितं छिन्नं शोकजातं असमाधिसमूहो येन स तम् । पुनः कथंभूतम् । पापान्येव तिमिराणि पापतिमिराणि तेषां क्षयं करोतीति पापतिमिरक्षयकारः पापतिमिरक्षयकारः कायो देहो यस्य स तम् । अल्पेतरं च तत् अमलं चाल्पेतरामलं अल्पेतरामलं च तत्तपश्च तस्मै अल्पेतरामलतपसे कचलोपं कचानां केशानां लोपोऽपनयनं लोचयति दर्शयतीति अल्पेतरामलतपःकचलोपलोचस्तम् । अत्र चन्द्रेडितचटुलितशब्दयोर्डलयोरैक्यम् । इदं काव्यं हारमालिख्य वाचनीयम् ॥

चित्रे ववयोरैक्यं यथा—

प्रचण्डबल निःकाम प्रकाशितमहागम ।
भावतत्त्वनिधे देव भालमत्राद्भुता तव ॥ २५ ॥

प्रचण्डमुत्कटं बलं वीर्यं यस्य स संबोध्यः । निर्गतः कामात्कन्दर्पान्निष्कामस्तस्यामन्त्रणम् । निष्कामेत्यत्र 'निर्दुर्बहिराविःप्रादुश्चतुराम्' इत्यनेन सूत्रेण निर्शब्दस्य रेफः षो भवति, परमत्र चित्रार्थं बाहुलकात्षो न कृतः । तेन विसर्ग एव निःकामेति । महांश्चासावागमश्च प्रकाशितो महागमो येन स संबोध्यः । भावोऽभिप्रायश्चित्तमित्यर्थः । तस्य त-

त्त्वानि भावतत्त्वानि अन्तरङ्गतत्त्वानि ज्ञानादीनि तेषां निधिरिव निधिस्तस्यामन्त्रणम्। हे देव, तव भा प्रभालमतिशयेन अत्र विश्वत्रयेऽपि अद्भुता आश्चर्यकारिणी। अस्तिक्रियानुक्तापि गम्यते 'यत्रान्यक्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः प्रयुज्यते' इति वृद्धवचनप्रामाण्यात्। अत्र भावबलयोर्बवयोरैक्यम्। तच्च छत्रस्थापनायां स्वयं ज्ञेयम्॥ तथा—'चन्द्रेडितम्' इत्यत्रानुस्वारेण चित्रभङ्गो न। 'निःकाम-' इत्यत्र विसर्गाभ्यां न चित्रभङ्गः॥

'भवकाननमत्तेभ भग्नमायातमःप्रभ।
विनयाच्चां स्तुवे वीर विनतत्रिदशेश्वर॥

इदमपि छत्रकाव्यं क्वचिद्दृश्यते॥

अथ पूर्वोक्तमेवार्थमुपसंहरन्नाह—

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगादभ्यासवश्यार्थपदप्रपञ्चः।
तं तं विदित्वा समयं कवीनां मनःप्रसत्तौ कवितां विदध्यात्॥ २६॥

अभियोगस्योद्यमस्य योगात् शास्त्राणि धर्मशास्त्रकामशास्त्रार्थशास्त्रशब्दशास्त्रनीतिशास्त्रवैद्यशास्त्रज्योतिःशास्त्रालंकारशास्त्रप्रभृतीन्यध्ययनपूर्वमधीत्य अर्थाश्च पदानि च अर्थपदानि तेषां प्रपञ्चः अभ्यासेन वश्यो वशवर्ती अर्थपदप्रपञ्चः शब्दार्थप्रपञ्चो यस्य स तं तं प्रसिद्धं पूर्वकविप्रयुक्तं कवीनां समयं कविसिद्धान्तं ज्ञात्वा ततो मनसश्चित्तस्य प्रसत्तौ प्रसन्नत्वे सतीत्यर्थः। कवेः कर्म कवित्वं तां विदध्यात्कुर्यात्॥

इति वाग्भटालंकारव्याख्यायां सिंहदेवगणिकृतायां प्रथमः परिच्छेदः।

द्वितीयः परिच्छेदः।

अथ काव्यशरीरं दर्शयन्नाह—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्।
इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥ १॥

तस्य पूर्वप्रस्तुतस्य काव्यस्य एताश्चतस्रोऽपि भाषाः कायतां शरीरत्वं प्राप्नुवन्ति। चतस्रोऽपि भाषाः काव्यस्य शरीरप्राया इत्यर्थः॥

अथ भाषाचतुष्टयं स्पष्टयति—

संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता।
प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा॥ २॥

देवानां भाषा संस्कृतं भवति। किंविशिष्टा। शब्दशास्त्रेषु व्याकरणेषु निश्चिता सम्यग्व्युत्पत्त्या निर्णीता। प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतं अनेकधा अनेकप्रकारैर्भवति।

तज्जं च तत्तुल्यं च देश्यं च तज्जतत्तुल्यदेश्यानि तानि आदौ यस्य तत्तथा। तस्मात्संस्कृताज्जायते स्म तज्जम्। यथा—

'सिरिसिद्धराअ सच्चं साहसरसिक त्ति कित्तणं तुज्झ।
कहमण्णहा मणं मह पडन्तमअणत्थमक्कमसि ॥'

हे श्रीसिद्धराज जयसिंहदेव, तव साहसरसिक इति कीर्तनं सत्यमस्ति तत्तथा। अन्यथा कथं मनो मम आक्रामसि। मनः किंभूतम्। पतन्ति मदनास्त्राणि स्मरबाणा यत्र तत्। अत्र संस्कृतशब्दा एव प्राकृतीभूता इति तज्जम्। तेन संस्कृतेन तुल्यं समसंस्कृतमित्यर्थः। उदाहरणं यथा—'संसारदावानलदाहनीरम्–' इत्यादिस्तुतयः। अत्र प्राकृतेऽपि संस्कृतशब्दा नान्यथा भवन्तीति ॥

देशे भवं देश्यम्। यथा—

'सत्तावीसञ्जोअणकरपसरो जाव अज्ज वि न होइ।
पडिहत्थबिम्बगहवइवअणे ता वज्ज उज्जाणम् ॥'

अत्र सत्तावीसञ्जोअणशब्दो देश्यश्चन्द्रार्थे, तस्य किरणप्रसरो यावत् अद्यापि न भवति। पडिहत्थशब्दोऽपि देश्यः संपूर्णार्थः। गहवइशब्दो देश्यश्चन्द्रार्थः। ततो हे संपूर्णमण्डलचन्द्रवदने तावत्त्वं उद्यानं व्रजेति।

आदिशब्देन शौरसेनी भाषा मागधी च गृह्यते। शौरसेनीमागध्योः प्राकृतादल्प एव भेदः। शौरसेनी। यथा—इदानींशब्दे इलोपः–'जं दाणीं दुव्वलो अहयम्'। तद्शब्दस्य ता—'ता पहि'। एवशब्दस्य य्येव—'इह य्येव'। ननुशब्दस्य णम्—'णं भणासि तुमम्'। अम्महेशब्दो हर्षे—'अम्महे, एसो वल्लहो जणो'। विदूषकादीनां हर्षे ही ही भो इति शब्दाः—'ही ही भो, एस नरु जम्पइ' इत्यादि ॥

मागधीभाषायां अकारान्तस्य सौ एर्भवति—'एस वल्लहे'। तथा अहंशब्दस्य हगे भवति—'हगे अगदा'। तिष्ठतेस्तकारस्य चकारः—'चिट्ठ तुमम्'। तथा रेफस्य लः, णकारस्य च नः। यथा तरुणस्थाने 'तलुन' इति, रूक्षस्थाने 'लुक्खं' इत्यादि। एवमनेन प्रकारेणानेकधा प्राकृतं ज्ञेयम् ॥

अपभ्रंशभाषामाह—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

अपभ्रंशः पुनर्भवति। स इति स्वयं गम्यते। यत्तेषु तेषु कर्णाटपञ्चालादिषु शुद्धं अपरभाषाभिरमिश्रितं भाषितं सोऽपभ्रंशो भवतीत्यर्थः। इह क्वचिदभूतोऽपि रेफो भवति। यथा—'चारुद तुहु अइमां डि अउदीसह सव्व पढन्तु। कहि मा कइअहं आविसइ अह्मं के रनु कन्तु ॥'

पैशाचीमाह—

यद्भूतैरुच्यते किंचित्तद्भौतिकमिति स्मृतम् ॥ ३ ॥

यत्किंचिद्भूतैः पिशाचैरुच्यते जल्प्यते तद्भौतिकं पैशाचिकमिति कथितम्। भूताना-

मिदं भौतिकम् । अत्र दकारस्य तः । यथा—'मालुतेवं तवं नमह' मारुदेवं देवं नमत । यूयमित्यर्थः । हृदयस्य यकारः पकारो भवति । यथा—'हि तपं पंके इ' । रस्य लः । यथा 'लुद्दो' रौद्र इत्यर्थ इत्यादि ॥

अथ वाङ्मयस्य द्विप्रकारत्वमाह—

छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा ।
पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रं च तद्द्वयम् ॥ ४ ॥

तत्प्रसिद्धं वाचां विकारो वाङ्मयं द्विधा द्विप्रकारं भवति । एकं मात्रागणबन्धाच्छन्दसा निबद्धम् । अपरं चाच्छन्दश्छन्दोरहितम् । आद्यं छन्दोनिबद्धं पद्यं कथ्यते । तदन्यत् ततोऽन्यच्छन्दोविहीनं गद्यं कथ्यते । तयोर्द्वयं तद्द्वयं छन्दोनिबद्धाछन्दसोर्द्वयं मिश्रं कथ्यते । गद्यपद्यरूपम् । तच्च चम्पूरिति मिश्रम् । 'गद्यपद्यमयी चम्पूः' इति वचनात् । मिश्रं च नाटकादिषु चम्पूग्रन्थेषु च भवति ॥

काव्ये दोषपरिहारार्थमाह—

अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ॥ ५ ॥

तत्काव्यमदुष्टमेव दोषरहितमेव कीर्तिनिमित्तं भवति । किंविशिष्टायै कीर्त्यै । स्वर्गस्य स्वर्गरूपस्य आवासस्य सोपानपङ्क्तिरिव स्वर्गसोपानपङ्क्तिस्तस्यै । यथा सोपानपङ्क्त्या उच्चैस्तरे प्रासादे आरुह्यते कीर्तिरूपसोपानश्रेण्या कवयः काव्यकरणेन स्वर्गलक्षणतुङ्गप्रासादमारोहन्ति । कविकीर्तेः स्वर्गेऽपि विस्तीर्यमाणत्वात् । अतः कारणात्परिहार्यान्दोषान्प्रसिद्धानादौ धुरि प्रचक्ष्महे कथयामो वयम् ॥

तत्र काव्ये दोषास्त्रिविधा भवन्ति । पददोषा वाक्यदोषा वाक्यार्थदोषाश्च तत्र प्रथमं पदविषयानष्टौ दोषानाह—

अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहतार्थमलक्षणम् ।
स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमप्रसिद्धमसंमतम् ॥ ६ ॥
ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।
क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ॥ ७ ॥ (युग्मम्)

न विद्यतेऽर्थः प्रयोजनं यस्य तदनर्थकम् । निष्प्रयोजनमित्यर्थः । श्रुतौ श्रवणे कटु श्रुतिकटु यत् श्रवणे कर्कशमित्यर्थः । व्याहतो विरुद्धोऽर्थो यस्य तद्व्याहतार्थं विरुद्धार्थमित्यर्थः । न विद्यते लक्षणं शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिर्यस्य तत्तथा । व्याकरणहीनमित्यर्थः । स्वसंकेतेनैव न परसंकेतेन प्रकल्पितोऽर्थो यस्य तत्तथा । स्वाभिप्रायकल्पितमित्यर्थः । शास्त्रे क्वचित्प्रोक्तमपि यन्न प्रसिद्धं विख्यातं तत् अप्रसिद्धम् । असंमतं नाभिमतमित्यर्थः ॥ ग्रामे प्रत्यन्तपुरे भवं ग्राम्यं ग्रामीणजनवचनतुल्यमित्यर्थः । एवंविधं यत्पदं प्रजायेत प्रादुर्भवेत् त-

त्पदं शब्दरूपं न प्रयुज्यते, काव्येषु तादृशस्य पदस्य दुष्टत्वात् । अत्रापवादमाह— क्वचिदिष्टा चेत्यादि । क्वचित्केषुचिदनुवादोपहासार्थेषु विद्वद्भिः पूर्वाचार्यैरेषामपि पूर्वोक्त-दुष्टपदानामपि अपदोषता निर्दोषता इष्टा प्रतिपादितेत्यर्थः ॥ यथा—

'मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः ।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥'

हास्यरसावतारादिहेतवे ग्राम्यादिपदान्यपि गुणाय भवन्तीति भावः ॥

तत्र प्रथममनर्थकमाह—

प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत्तदनर्थकमुच्यते ।
यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ॥ ८ ॥

प्रस्तुते प्रारब्धेऽर्थे यदनुपयुक्तं नोपयुक्तं अनुपयोगि भवति तत्पदमनर्थकमुच्यते । उदाहरणमाह—यदेति । यथाशब्दो दृष्टान्तोपन्यासार्थः । अत्र लम्बोदरपदं हि तु इति च सर्वमनर्थकम् । यतः यत्स्वरूपमात्रवाचकं पादपूरणमात्रं च यत् तद्द्वयमपि अनर्थकं ज्ञेयम् । लम्बोदरपदं हि स्वरूपमात्रवाचकम् । हितुपदे तु पादपूरणमात्रार्थके। अतोऽनर्थकानि । तथा वन्दे इत्यत्र वर्तमानाया एकवचनस्य प्रयोगादहमित्यपि स्वयं लभ्यते । अतोऽहमिति पद-मपि पुनरुक्तत्वादनर्थकं ज्ञेयम् । प्रयोजनविवक्षायां तु अहमितिपदं प्रयुक्तं नानर्थकमिति । अत्र शिष्य आह—'ननु लम्बोदरपदं गणेशार्थप्रतिपादकं ततः कथमनर्थकम् । न च वाच्यं विनायकशब्देनैवोक्तार्थत्वात् पुनरुक्तदोषः स्यादिति। पुनरुक्तदोषस्यात्रानिषिद्धत्वात्' । अत्र उच्यते—पुनरुक्तदोषा अनर्थकदोषेऽन्तर्भवन्ति । ये तु पुनरुक्तदोषान्पृथङ्निषेधन्ति, तेऽपि पदार्थप्रतिपत्तौ जातायां पदान्तरप्रयोगमनुपयोगिनं मन्यन्त एव । न चेह प्रस्तुते वन्दे इत्यर्थे लम्बोदरपदं कंचिदुत्कर्षं पुष्णाति । तेन पुनरुक्तदोषोऽनर्थकदोषेऽन्तर्भव-तीति सिद्धम् । यत्तु वक्ता हर्षभयादिवशात् पदं द्विस्त्रिर्वा प्रयुङ्क्ते, तत्र नायं दोषः । तेन विना हि कथं हर्षभयादिप्रतीतिः स्यात् । तदुक्तं श्रीआवश्यके—

'सज्झायझ्झाण तवो स हेसु उवएसुथुवइवयाणेसु ।
संत गुणकित्तणेसु अ न हुन्ति पुनरुत्तदोसाओ ॥'

यथा—

'जयजय वव्वरजिष्णो विष्णोरवतार भूप जयसिंह ।
अतिकेशहस्तहस्तव्यावृतदुर्वारवीर भुवनेऽस्मिन् ॥'[1]

अत्र जयजयशब्दं विना हर्षो न गम्यते । हस्तशब्दयोस्तु पुनरुक्ताभासत्वमेव । भिन्नार्थत्वात् भये यथा अहिरहिः । एवं वीप्सानुवादादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥

अथ श्रुतिकटु आह—

निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम् ।
एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्ट्रेयं निर्मिता यथा ॥ ९ ॥

---

१. एषा तुरीयचरणे स्फुटार्था, पादत्रयेऽस्फुटार्था.

विद्वद्भिर्भृशं कठोराक्षराणि यत्र तत्पदं 'श्रुतिकटु' इति पठितम् । उदाहरणमाह— एकेति । यथाव्दो निर्देशनोपदर्शनार्थः । इयं युवती स्रष्ट्रा विधात्रा घटिता । किंभूतेन । एकाग्रं सावधानं मनो यस्य स एकाग्रमनास्तेन । मन्ये इति वितर्के । एवंविधाद्भुतरूपस्यान्यथानुपपत्तेरिति । अत्र स्रष्ट्रा इति कठोरम् ॥

व्याहतार्थमाह—

व्याहतार्थं यदिष्टार्थबाधकार्थान्तराश्रयम् ।
रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ यथा ॥ १० ॥

तत्पदं व्याहतार्थं भवति, यदभीष्टार्थस्य बाधकं अर्थान्तरमन्यार्थमाश्रयति । एकस्मादर्थादन्योऽर्थः अर्थान्तरं इष्टार्थबाधकं च तदनर्थान्तरं च इष्टार्थबाधकार्थान्तरं आश्रयो यस्येति समासविधिः । उदाहरणं यथा—भूतलस्योपकृतिरुपकारस्तस्यां त्वं रतः आसक्त इतीष्टोऽर्थः । तस्य बाधकं भूतानां प्राणिनां लोपकरणे रतस्त्वमित्येवंविधमर्थान्तरमाश्रयति भूतलोपकृतिशब्दः ॥

अथालक्षणं लक्षयति—

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदलक्षणमुच्यते ।
मानिनीमानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ ॥ ११ ॥

यत्पदं शब्दानां शास्त्रेण व्याकरणेन विरुद्धं तदलक्षणं कथ्यते । उदाहरति—यथेत्युदाहरणार्थम् । मानवतीनां तरुणीनां मानस्याहंकारस्य दलयतीति दलनो विदारकः इन्दुश्चन्द्रो विजयति विशेषेण जयति । चन्द्रोदये मन्मथोन्मादेन पतिषु साहंकारा अपि युवतयो मानं मुञ्चन्तीति । अत्र 'परावेर्जेः' इति सूत्रेणात्मनेपदप्राप्तिर्विजयतीति परस्मैपदं दुष्टम् । विजयते इत्येव सत्यम् ॥

स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमाह—

स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।
यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्वानरध्वजैः ॥ १२ ॥

नीयत इति नेयं ग्राह्यं न तु गम्यम् । नेयं च तदर्थान्तरं च नेयार्थान्तरं तस्य वाचकं पदं स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं भवतीत्यर्थः । उदाहरति—यथेति । अत्र वानरध्वजैरिति ककुभाख्यैरर्जुनवृक्षैरित्यर्थः । वानरध्वजशब्देनार्जुननामा पाण्डवः कथ्यते तस्य कपिध्वजत्वात् । ननु अर्जुननाम्ना सादृश्येन ककुभवृक्षास्तेन वानरध्वजपदं नेयार्थम् । वानरध्वजशब्देन हि ककुभवृक्षा न कथ्यन्ते, ततः स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थं वानरध्वजपदम् । यत्तु समस्तकविसंकेतनं तत्र न दोषः । यथा रथाङ्गशब्दश्चक्रनाम्नि पक्षिणि, द्विरेफशब्दो भ्रमरे । द्विकशब्दः काके ॥

अथाप्रसिद्धमाह—

यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा।
राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्॥ १३॥

यस्य पदस्य प्रसिद्धिः कविरूढिर्नास्ति तदप्रसिद्धं विदुः तथात्वे न जानन्ति। धातूनामनेकार्थत्वात्कथयन्ति वा। उदाहरणं यथा—हे भूपेन्द्र, तव कीर्तिश्चतुःसंख्यान् पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरान् समुद्रान् हन्ति गच्छति भ्राम्यतीति भावः। अत्र 'हनक् हिंसागत्योः' इति धातुपाठे गत्यर्थः पठितोऽपि हन्तिधातुर्न कविपरम्परायां प्रसिद्धः। प्रयोजनविशेषे तु गत्यर्थप्रयोगोऽप्यदुष्ट एव। यथा विशेषे श्लेषादिषु॥

असंमतमाह—

शक्तमप्यर्थमाख्यातुं यन्न सर्वत्र संमतम्।
असंमतं तमोम्भोजं क्षालयन्त्यंशवो रवेः॥ १४॥

यत्पदमर्थमाख्यातुमभिधेयं वक्तुं शक्तमपि समर्थमपि सर्वत्र महाकविशास्त्रेषु न संमतं कवीनां नाभिमतं तदसंमतं कथ्यते। यत्तदोर्नित्यसंबन्धत्वात् तच्छब्दस्य स्वयं गम्यमानत्वात्। अत्रोदाहरणमाह—रवेः सूर्यस्यांशवः किरणास्तम एवाम्भोजः कर्दमस्तं तमोम्भोजं ध्वान्तरूपमम्भोजं कर्दमं क्षालयन्तीत्यर्थः। अत्राम्भोजशब्दोऽम्भसो जातोऽम्भोज इति व्युत्पत्त्या कर्दमं वाचयितुं समर्थोऽपि कमलादन्यत्र कवीनां न संमतः कमले एव तस्य रूढत्वात्। तथा—प्रपूर्वः स्मृधातुर्विस्मरणार्थे एव प्रसिद्धो न तु प्रकृष्टस्मरणार्थे। तथा चोक्तं नैषधकाव्ये—

'नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथवा पठितोऽपि।
इत्यमर्थिचयसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः॥'

तथा—प्रपूर्वः स्थाधातुर्गमनार्थे प्रसिद्धो न तु प्रकृष्टस्थानार्थे। यथा—'असौ नगरं प्रति प्रस्थितः'। गत इत्यर्थः। तथा आङ्पूर्वो वहतिः करणे, न तु समन्ताद्वहने। यथा—'सद्विद्या विस्मयावहा'। विस्मयकरीत्यर्थः। एवं कविसंमतमेव पदं प्रयोज्यं काव्ये नान्यत्॥

अथ ग्राम्यमाह—

यद्यत्रानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा।
छादयित्वा सुरान्पुष्पैः पुरो धान्यं क्षिपाम्यहम्॥ १५॥

यदिति। यत्पदं यत्र देशेऽनुचितं वक्तुमयोग्यं भवति हि निश्चितं तत्पदं तत्र देशे ग्राम्यं स्मृतं कविभिस्तदश्लीलं कथितमित्यर्थः। यथेत्युदाहरणार्थम्। अहं पुष्पैः सुरानभ्यर्च्य बलिं ढौकयामीत्येवं वक्तुं योग्यं भवति। अत्र तु अहं देवान्पुष्पैश्छादयित्वाग्रे धान्यं क्षिपामीति ग्रामीणलोकतुल्यवचनं प्रोक्तं तत्तादृशं पदं ग्राम्यं ज्ञेयमिति। तथा—व्री-

डाजुगुप्सा अमङ्गलप्रीतिकरा ये शब्दास्तेऽपि सभानुचितत्वाद्ग्राम्या एव। व्रीडाहेतुर्यथा—'साधनं सुमहद्यस्य-' इत्यत्र साधनशब्दः पुंश्चिह्नेऽपि शङ्कयेत। जुगुप्सावाचको यथा—'वायुः प्रसरति'। वायुशब्दोऽपानपवनशङ्काकारी। अमङ्गलप्रतीतिकरो यथा—'संस्थितोऽयम्'। संस्थितशब्दोऽत्र मृतार्थशङ्काकारी। तथा—

'अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शण्ठः।
परमार्थतः सहृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव॥'

अत्र पेलवशब्दोऽसभ्यत्वाद्ग्राम्य एव। याभ्यांसाभिरित्यादयस्तु क्वचिद्देशेऽसभ्यत्वाद्ग्राम्याः न तु सर्वत्र। भगवतीभगिनीशिवलिङ्गप्रभृतयस्तु लोकेऽविरुद्धत्वाददुष्टाः। उक्तं च—

'लोकवत्प्रतिपत्तव्यो लौकिकोऽर्थः परीक्षकैः।
प्रतिलोकव्यवहारसदृशौ बालपण्डितौ॥' इति।

क्वचिदेषामप्यनर्थकादीनामपदोषता।

'ववयस्यास्मि दादासी ततवाहं ससर्वदा।
ततमानय मन्दोक्तिमेनामध्येत्ययं शुकः॥'

वकारादयोऽनर्थका अलक्षणाश्च तथाप्यत्रानुकरणार्थत्वात्तेषां न दोषः।

युगपत्स्तुतिनिन्दयोर्वाच्ययोर्व्याहतार्थमपि न दुष्टम्। यथा—

'रतस्त्वमेव भूपाल भूतलोपकृतौ सदा।
अत एव यशः स्वैरं तवापूर्वाश्च कीर्तयः॥'

स्वैरं स्वेच्छाचारी मन्दं च। अपूर्वा अद्भुता अकारपूर्वाश्च अकीर्तय इत्यर्थः।

प्रहेलिकायां स्वसंकेतप्रक्लृप्तार्थमपि न दुष्टम्। यथा—

'अवलो इऊण सामलव अणं रइ धाम दारओ जाओ।
रवितणय मण्डलीकय इत्थिपसूणं कुरंगत्थि॥'

अत्र रवितनयः कर्णस्तच्छब्दवाच्यः।

संप्रत्यष्टौ वाक्यदोषान्क्रमेणाह—

पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि।
अपदस्थास्तु ये वाक्ये दोषांस्तान्ब्रूमहेऽधुना॥ १६॥

उक्ताः पददोषाः। यस्मिन्वाक्ये सदोषं पदं प्रयुज्यते तद्वाक्यमपि सदोषपदयोगात्सदोषमेवेत्याह—तद्दोषाः पदगतदोषाः अनर्थकादिकाः हि निश्चितं तत्र वाक्ये सन्ति। वाक्यस्य पदात्मकत्वात्पदरूपत्वात्। सदोषपदनिष्पन्नं वाक्यमपि सदोषम्। निर्दोषैः पदैर्वाक्यमपि निर्दोषम्। यथा—

'राजेन्द्र भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन्।'

इत्यत्र हन्तीति सदोषक्रियया समग्रदोषं वाक्यं सदोषं जातम् । एतावता ये पददोषा भवन्ति, ये अपदस्था वाक्यदोषाः, ये पदे न सन्ति किंतु वाक्ये सन्ति, तानधुना वच्मः॥

खण्डितं व्यस्तसंबद्धमसंमितमपक्रमम् ।
छन्दोरीतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ॥ १७ ॥

एवंविधं वाक्यं दुष्टं सदोषम् । छन्दोभ्रष्टं रीतिभ्रष्टं यतिभ्रष्टम् ॥

अथानुक्रमेण सर्वानाह—

वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नं खण्डितं मतम् ।
यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तौति वो जिनः ॥ १८ ॥

यद्वाक्यं वचनान्तरन्यासेन विच्छिन्नं त्रुटितं तत् खण्डितम् । जिनः स्वामी वो युष्मान्पातु इति वाक्यं यमिन्द्रः स्तौतीति वाक्यान्तरेण विच्छिन्नत्वात्खण्डितम् ॥

संबन्धिपददूरत्वे व्यस्तसंबन्धमुच्यते ।
यथाद्यः संपदं ज्ञाता देयात्तत्वानि वोऽर्हताम् ॥ १९ ॥

एकस्मिन्नेव वाक्ये संबन्धिपदाद्दूरत्वे सति यस्य पदस्य यत्पदं संबन्धि तत्तत्रैव योज्यम् । तद्दूरत्वे सति व्यस्तसंबन्धमुच्यते । यथात्रार्हतामाद्यस्तत्वानि ज्ञाता वः संपदं देयादितिसंबन्धिपदानां यद्दूरे स्थापनं तत् व्यस्तसंबन्धं ज्ञेयम् ॥

शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव संमितौ[2] ।
तदसंमितमित्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो यथा ॥ २० ॥

यत्र बन्धे शब्दार्थौ तुलाविधृताविव न संमितौ[2] । यथा तुलाविधृतौ द्रव्यौ द्वयोः पार्श्वयोर्न नमतः, तदा संमितौ । यत्र शब्दा बहवोऽर्थोऽल्पः, वाक्यविदस्तद्वाक्यमसंमितमाहुः ॥

उदाहरणमाह—

मानसौकःपतद्यानदेवासनविलोचनः ।
तमोरिपुविपक्षारिप्रियां दिशतु वो जिनः ॥ २१ ॥

मानसे ओको गृहं यस्य पततः पक्षिणः स मानसौकः पतन् हंसः, स एव यानं यस्य स चासौ देवश्च मानसौकःपतद्यानदेवो ब्रह्मा तस्यासनं कमलं तद्वत्तत्सदृशे विशिष्टे लोचने यस्य स जिनो वो युष्माकं तमोरिपुविपक्षारिप्रियां दिशतु । तमोरिपुः सूर्यस्तस्य विपक्षो राहुस्तस्यारिर्विष्णुस्तस्य प्रिया लक्ष्मीस्तां दद्यात् । अत्र शब्दबाहुल्येऽर्थस्तोकत्वमेव दोषः ॥ 'अप्पक्खरं महत्थं' एवं न दोषः । शब्दाल्पत्वेऽर्थे बहुलता गुणाय भवति ।

१. 'मसंमत' ख. २. 'संमतौ' ख.

अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।
यथा भुक्त्वा कृतस्नानो गुरून्देवांश्च वन्दते ॥ २२ ॥

यत्र वाक्ये प्रसिद्धक्रमलङ्घनं भवेत् तदपक्रममुच्यते । अपगतः क्रमो यस्मात्तदपक्रममुच्यते। तथादौ स्नानं ततो देववन्दनं ततो गुरुनमस्करणं ततो भोजनमित्यादिक्रमोऽत्र भग्नः॥

छन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद्यथा ।
स जयतु जिनपतिः परब्रह्ममहानिधिः ॥ २३ ॥

यद्वाक्यं छन्दःशास्त्रविरुद्धं तच्छन्दोभ्रष्टं कथ्यते । तद्यथेत्युदाहरणे स जिनपतिर्जयतु विजयतां परब्रह्मणो महानिधानं स जयतु इत्यत्र छन्दोभङ्गः । आद्यादक्षरान्नगणस्य पतनादनुष्टुब्लक्षणं नास्ति । तथा चोक्तम्—'वक्रं नाद्यान्नसौ स्याताम्' इत्यादि । अधिकारस्तु तत्र वृत्तरत्नाकरच्छन्दसि विलोकनीय इति ॥

रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेद्यथा ।
जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः ॥ २४ ॥

एवं वाली रीतिः समासो[1]................ ॥

पदान्तविरतिप्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।
नमस्तस्मै जिनस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ॥ २५ ॥

यद्वाक्यं पदान्तविरत्या पदमध्ये विरतिर्यतिस्तया प्रोक्तं तद्यतिभ्रष्टं कथ्यते । पदान्ते सर्वत्र विरतिः कार्या न तु पदमध्ये पदमध्यविरतिप्रोक्तं तत् यतिभ्रष्टमुच्यते । यतिविरती एकार्थौ । 'नमस्तस्मै जिनस्वामि' इत्यत्र वर्णपूर्णत्वात्पदान्तर्यतिः कृता । 'ने' इत्यक्षरं चतुर्थपादे पतितम् । नैवं भवेत् । भवेच्च क्वापि, संध्यादिविशेषभावात् ॥

सत्क्रियापदहीनं यत्तदसत्क्रियमुच्यते ।
यथा सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ॥ २६ ॥

असती क्रिया यत्र वाक्ये तत्क्रियापदविहीनमसत्क्रियमुच्यते । यथाहं सरस्वतीं पुष्पै रचयामि श्रीखण्डैर्घुसृणैर्विलिम्पामि स्तवैः स्तौमीत्यादिक्रियाणामभावादसत्क्रियत्वम् । तथा न विद्यते सती मङ्गलार्था क्रिया यत्रेत्यन्वयार्थाश्रयणादमङ्गलार्थक्रियाहीनत्वे क्वचिन्न दोषः । यथा—

---

१. पुस्तकद्वयेऽपि समान इयानेव पाठः, 'अत्र प्रथमपादेऽसमस्तपदत्वाद्वैदर्भी रीतिः, द्वितीयपदे भूयःसमासवत्त्वाद्गौडीया रीतिः' इति जिनवर्धनसूरिव्याख्या.

'मा भुजंगास्तरङ्गिण्यो मृगेन्द्राः क्रूरदन्तिनः ।
भवन्तं वत्स संप्राप्तं पन्थानः सन्तु ते शिवाः ॥'

अत्र हे वत्स भुजंगा मा दांक्षुः, तरङ्गिण्यो मा नैषुः, मृगेन्द्रा मा दार्षुः, क्रूरदन्तिनो दुष्टगजाः पथि त्वां मा भैत्सुरित्याद्यमङ्गलार्थक्रियाहीनत्वेनापि न दोषः । यदि प्रान्ते 'हे वत्स ते तव पन्थानः शिवाः सन्तु कल्याणा भवन्तु' इति मङ्गलार्थक्रिया प्रयुक्ता । क्रियागुप्तेषु पुनरसत्क्रियाभासत्वमेव, गुप्तायाः क्रियायाः सद्भावात् । यथा—

'राजेन्द्र करवालोऽयं कीर्तिपण्याङ्गनारतः ।
भुजंगत्यक्तमूर्तिस्ते द्विषल्लोहितकुङ्कुमैः ॥'

इत्यत्र भुजंगतीति क्रियापदं नष्टप्रायम् ॥

उक्ता अष्टावपि वाक्यदोषाः । अथ वाक्यस्यार्थदोषानाह—

देशकालागमावस्था द्रव्यादिषु विरोधिनम् ।
वाक्येष्वर्थं न बध्नीयाद्[1]विशिष्टं कारणं विना ॥ २७ ॥

वाक्यार्थविदः पुरुषा वाक्येषु देशविरोधिनोऽर्थांस्तथा कालविरोधिन आगमविरोधिनोऽवस्थाविरोधिन आदिशब्दाल्लोकविरोधिनोऽप्यर्थान् विशिष्टं कारणं विना न रचयेयुः ॥

सर्वेषामुदाहरणान्येकस्मिन्काव्ये प्रदर्श्यन्ते—

प्रवेशे चैत्रस्य स्फुटकुटजराजीस्मितदिशि
प्रचण्डे मार्तण्डे हिमकणसमानोष्ममहसि ।
जलक्रीडायातं मरुसरसि बालद्विपकुलं
मदेनान्धं विध्यन्त्यसमशरपातैः प्रशमिनः ॥ २८ ॥

यथा प्रशमिनः क्षमापराश्चैत्रस्य चैत्रमासस्य प्रवेशे मार्तण्डे सूर्ये प्रचण्डे सति मरुसरसि मरुस्थलीसरोवरे जलक्रीडायातं पानीयक्रीडार्थमागतं मदेनान्धं बालद्विपकुलं कलभसमूहं असमशरपातैर्विषमबाणप्रहारैर्विध्यन्ति । किंभूते चैत्रप्रवेशे । स्फुटकुटजराजीस्मितदिशि स्फुटाः प्रकटाः कुटजास्तेषां राजी श्रेणिस्तया स्मिता हसिता दिशो यत्र प्रवेशे । किंभूते मार्तण्डे । हिमकणसमानमूष्मणां महो यस्य स तस्मिन् । तथा विरोधमाह—वर्षाकाले कुटजा भवन्ति, न वसन्ते इति कालविरुद्धम् । मार्तण्डे हिमशीतलता इति द्रव्यविरुद्धम् । मरुसरसि जलक्रीडा इति देशविरुद्धम् । बालद्विपानां मदान्धतेत्यवस्थाविरुद्धम् । प्रशमिनो विध्यन्तीत्यागमविरुद्धम् ॥

यत्र तु विशिष्टं कारणं तत्र न दोषः । यथा—

'तद्वैरिनारीनयनाश्रुवारिभिर्नरेन्द्र निर्मूलितपत्रवल्लिभिः ।
सरांसि सत्कज्जलकर्दमाविलान्युच्चैरजायन्त मरुस्थलीष्वपि ॥'

---

१. 'बध्नीयुर्विशि' इति पाठो भवेत्.

इत्यादि अदोषः। एवं सर्वत्र भावनीयम् ॥

इति दोषविषनिषेकैरकलङ्कितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः।
कविहृदयसागरोत्थितममृतमिवास्वाद्यते काव्यम् ॥ २९ ॥

विबुधैः सदा कविहृदयसागरोत्थितममृतं देवैरास्वाद्यते इत्युक्तिलेशः ॥

इति वाग्भटालंकारटीकायां सिंहदेवगणिकृतायां द्वितीयः परिच्छेदः।

तृतीयः परिच्छेदः।

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना।
तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥ १ ॥
औदार्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता।
समाधिः श्लेष ओजोऽथ माधुर्यं सुकुमारता ॥ २ ॥

दोषरहितावपि शब्दार्थौ यैर्गुणैर्विना न प्रशस्येते। इदानीं तान् गुणान्यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य यथा भवति तथा अभिव्यक्तये स्पष्टतानिमित्तं वदामः। कवित्वस्यौदार्यादयो दश वक्ष्यमाणा गुणा भवन्ति। नामान्यपि दशानां सुगमानि। तथा अभिव्यक्तये इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी तेन यद्यपि दोषाणामभावो गुणान्साधयति तथापि कति ते गुणाः किंनामानः किंस्वरूपा इत्यभिव्यक्तिर्न स्यात्। अतोऽभिव्यक्तिनिमित्तं वदामः ॥

प्रत्येकं सोदाहरणार्थानाह—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः।
मिलितानां यदाधानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥ ३ ॥

यदर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैर्मिलितानामर्थरम्यत्वोत्पादकापरपदैः संयोजितानां पदानामाधानं करणं तदौदार्यं स्मृतम् ॥

उदाहरणमाह—

गन्धेभविभ्राजितधाम लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम्।
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥ ४ ॥

श्रीनेमिनाथोऽत्र क्रीडागिरौ रैवतके चिरं तपांसि चकार। राज्यमपास्य त्यक्त्वा। कथंभूतं राज्यम्। गन्धेभैर्गन्धहस्तिभिर्विभ्राजितं शोभितं धाम गेहं यस्मिंस्तत्। लक्ष्मीलीलाम्बुजं लीलाकमलं यादृग्भवति एवंविधं छत्रं यस्मिन्राज्ये तल्लक्ष्मीलीलाम्बुजच्छत्रम्।

अत्रेभकमलगिरिशब्दानां गन्धलीलाक्रीडापदैर्मिलितानां सतामर्थरम्यत्वोत्पादकत्वादौदार्यम् । इभकमलगिरिशब्दानां केवलानां तादृशी न शोभा यादृशी गन्धलीलाक्रीडा पदान्तरैः संयोजितानां भवति । एतदौदार्यमुच्यते ॥

समतां कान्तिं चैकश्लोकेनाह—

बन्धस्य यदवैषम्यं समता सोच्यते बुधैः ।
यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥ ५ ॥

बन्धस्य यदवैषम्यमविषमता सुकुमारता सा समता मता । तस्यैव बन्धस्य यदुज्ज्वलत्वं निर्मलता सा कान्तिरुच्यते ॥

उदाहरणमाह—

कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारा-
मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्लिः ।
असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां
कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥ ६ ॥

सा कीदृशी विद्यते इति केनापि कोऽपि पृष्टः सन्नुवाच—भोः, कथय । अहं तां ते तव चेतसि कथं व्यञ्जयामि कथं प्रकटीकरोमि । अनन्योपमेयां अन्याभिर्नोपमीयते इत्यनन्योपमेया ताम् । सर्वोत्तमरूपामित्यर्थः । असदृशमहिमानं सर्वोत्कृष्टमाहात्म्याम् । यदङ्गासङ्गिनी हारवल्लिः यस्या अङ्गलग्ना हारलता कुचकलशविसारिस्फारलावण्यधारामनुवदत्यनुकरोति । कुचकलशाभ्यां स्तनकुम्भाभ्यां विसारणी प्रसरणशीला स्फारोदारा लावण्यधारा तामनुकरोति । एवंविधरूपां तां कथं व्याख्यानयित्वा ते चेतसि प्रकटयामि । अत्रोत्कटपदाभावादुत्तमपदाभावाच्च समबन्धत्वात् समता कथिता । एष समतागुणो द्वितीयः ॥

फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-
दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुरा जन्मनि कृती ।
तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-
रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादार्चनमसौ ॥ ७ ॥

कस्यापि धनिनो वर्णनमेतत् । असावनिर्दिष्टनामा कृती पुरा जन्मनि पूर्वभवे क्वचित्कुत्रापि ननु निश्चितं वनभुवि काननभूमौ श्रीफलदलैर्बिल्वदलैः खण्डेन्दोर्हरस्य पादार्चनमकृत चकार । कथंभूतोऽसौ । सदनाद्गेहान्निर्गत्य प्रथममपि फलैः क्लृप्ताहारो रचितभोजनः । अत एव—सौख्येऽनासक्तः । अश्रान्तमखेदं यथा भवति तथा तपस्यन् तपः कुर्वन् । ततोऽनेनेदृशी लक्ष्मीः प्राप्ता । अत्र विसंधिरूपसंधिविसर्गलोपप्रभृतिबन्धाग्लानिकारणाभावादौज्ज्वल्यं तृतीयो गुणः ॥

यदज्ञेयत्वमर्थस्य सार्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।
त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते रात्रिरभूद्दिवा ॥ ८ ॥

यदर्थस्याज्ञेयत्वं तत्तच्छब्दसत्तया साक्षादर्थप्रतिपादनेन बलात्कारादर्थाप्राप्यत्वं अर्थस्य सुखेन गम्यत्वम् । अल्पबन्धेनापि तादृशाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते यादृशैः साक्षादर्थो लभ्यते सा अर्थव्यक्तिर्ज्ञेया । हे नरेन्द्र, त्वत्सैन्यरजसा सूर्ये लुप्ते दिवसे रात्रिरभूत् । अत्र रात्रेर्हेतुः सूर्यलोपः सूर्यलोपस्य हेतू रजः रजसो हेतुः सैन्यमित्यर्थस्य सुखलभ्यत्वादज्ञेयत्वम् ॥

व्यतिरेकमाह— यत्रार्थस्य ज्ञेयता तत्र दोषः । यथा—

चतुरङ्गे भवत्सैन्ये प्रसर्पति दिशः क्रमात् ।
नरेन्द्र बहुलध्वान्ता दिवाप्याविरभून्निशा ॥ ९ ॥

अत्र रात्रेर्हेतुः सूर्यलोपः सूर्यलोपस्य हेतू रजः रजसो हेतुः सैन्यमित्यादिहेतोरभावादर्थस्य ज्ञेयत्वम् । एवं सदोषता(याम्) । चतुर्थ एष गुणः ॥

झटित्यर्थार्पकत्वं यत्प्रसत्तिः सोच्यते बुधैः ।
कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ॥ १० ॥

यत् झटिति शीघ्रमर्थार्पकत्वं सा प्रसत्तिरुच्यते । यथा कल्पद्रुमादिपदानामुच्चारणमात्रेणैवार्थार्पकत्वात्प्रसत्तिरुच्यते । एष पञ्चमो गुणः ॥

स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।
यथाश्रुभिररिस्त्रीणां राज्ञः पल्लवितं यशः ॥ ११ ॥

यदन्यस्य पदार्थस्य गुणोऽन्यपदार्थे निवेश्यते स्थाप्यते स समाधिगुणः । यथारिस्त्रीणामश्रुभी राज्ञो यशः पल्लवितमित्यत्र पल्लवगुणो वृक्षसंबन्धी स यशस्यारोपितः । एष समाधिगुणः षष्ठः ॥

अथ श्लेषौजोगुणद्वयमेकश्लोकेनैवाह—

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।
ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिसुन्दरम् ॥ १२ ॥

पृथग्भूतान्यपि पदानि यत्र स्यूतानीवैकश्रेणिप्रोतानीव समस्तानीव परस्परं भवन्ति स श्लेषगुणः । यत्समासभूयस्त्वं समासप्राचुर्यं भवति स ओजो गुणः । तत्समासभूयस्त्वं गद्येषु गद्यबन्धेष्वतिसुन्दरं भवति ॥

श्लेषोदाहरणमाह—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-
र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।

दरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिता-
श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरे ॥ १३ ॥

तेऽपि कुलशिखरिणः कुलाचला यस्य राज्ञो भुजबलं सह सहचरीभिः सह पत्नीभिर्वनचरैर्भिल्लैर्मुहुर्वारंवारं मुदा हर्षेणोद्गीतं व्याख्यातं श्रुत्वा चमत्कारोद्रेकं चमत्कारबाहुल्यं दधिरे । कथंभूताः पर्वताः । दरोद्गच्छद्दर्भाङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिताः । ईषदुत्पद्यमानकुशाङ्कुरसमूहमिषाद्रोमाञ्चिताः । एष श्लेषगुणः सप्तमो भवति ॥

अथ गद्यबन्धेन ओजोगुणमाह—

समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरःसरससिन्दूरपूरपरिचयेनेवारुणितकरतलो देव ॥ १४ ॥

हे देव, त्वमरुणितकरतलो रक्तीकृतहस्ततलो विभासि । उत्प्रेक्षते—समराजिरे संग्रामाङ्गणे स्फुरन्तो येऽरिनरेशानां करिनिकरा हस्तिसमूहास्तेषां शिरःसरससिन्दूरपूरस्तस्य परिचयेनेवारुणितकरतलः ॥

अथ माधुर्यसौकुमार्यगुणावाह—

सरसार्थपदत्वं यत्तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।
अनिष्ठुराक्षरत्वं यत्सौकुमार्यमिदं यथा ॥ १५ ॥

यत्सरसार्थपदत्वं तदिदं माधुर्यं कथितम् । अर्थाश्च पदानि चार्थपदानि रससहितान्यर्थपदानि यत्र तद्भावः । अथवा सरसार्थानि पदानि तद्भावः सरसार्थपदत्वम् ॥

उदाहरणमाह—

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोलः
कुचकलशनिधानस्येव रक्षाधिकारी ।
उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः
किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥ १६ ॥

किमितीति वितर्के । किमयं कुण्डलिन्याः पद्मावत्याः करसरोजे करमले कुण्डली सर्पः कुचकलशनिधानस्य रक्षाधिकारीवास्ति । अन्यत्रापि निधानस्य[1] सर्पो रक्षां करोति । अत्रापि स्तनकुम्भा एव निधानानि तद्रक्षाकर्तास्ति । फणमणीनां किरणाल्या स्यूतो निबद्धश्चञ्चन्दीप्यमानो निचोलः कञ्चुको यस्य सर्पस्य सः । उरसि विशदहारतां प्राप्नुवन् । तत्तुल्यतां दधान इत्यर्थः ॥

सौकुमार्यमाहोदाहरणं चाह—

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव देव त्वदीयः करवाल एषः ।
नो चेदनेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥ १७ ॥

१. 'निधीनां' क.

हे देव, एष त्वदीयः करवालः प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव वर्तते । प्रताप एव दीपो दीप्यमानत्वात्तस्य प्रतापदीपस्य खङ्गोऽञ्जनराजिरञ्जनश्रेणिरतिकृष्णत्वात्खङ्गस्य । यद्येवं पूर्वोक्तं न स्यादनेन खङ्गेन द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि श्यामभावमाचरन्ति कथं कृतानि । अत्रानिष्ठुरसमासवत्त्वात्सौकुमार्यम् ॥

गुणैरमीभिः परितोऽनुविद्धं मुक्ताफलानामिव दाम रम्यम् ।
देवी सरस्वत्यपि कण्ठपीठे करोत्यलंकारतया कवित्वम् ॥ १८ ॥

इति वाग्भटालंकारे तृतीयः परिच्छेदः ।

अमीभिरौदार्यादिभिर्गुणैः परितः समन्ततोऽनुविद्धं व्याप्तं कवित्वं देवी सरस्वत्यपि अलंकारतया करोति मुक्ताफलानां दामेव । यथा मुक्ताफलानां मालालंकारतया कण्ठपीठे योषया क्रियते सा परितो गुणैरनुविद्धा भवति तथा कवित्वमलंकारतया कण्ठपीठे क्रियते । अतोऽलंकारावसरस्ततस्तानेव नामतः प्राह ॥

इति वाग्भटालंकारटीकायां सिंहदेवगणिकृतायां तृतीयः परिच्छेदः ।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।
स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलंक्रियोच्चयम् ॥ १ ॥

येनालंक्रियोच्चयेनालंकारसमुदायेनोज्झितं त्यक्तं वचो नो भाति । यथा स्त्रीरूपमलंक्रियोच्चयं विना नो भाति । काव्यविषये चित्रवक्रोक्त्यादयोऽलंकाराः । स्त्रीरूपविषयेऽलंकाराः कटककेयूरतिलकादयः ॥

चित्रादयोऽलंक्रिया अलंकारा द्विविधाः—शब्दालंकारा अर्थालंकाराश्च । ततः प्रथमं शब्दालंकारांस्ततोऽर्थालंकारान्प्राङ्नाममात्रतः पश्चाद्विस्तरतः सोदाहरणानाह—

चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासो यमकं ध्वन्यलंक्रियाः ।
अर्थालंकृतयो जातिरुपमा रूपकं तथा ॥ २ ॥
प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशयः ।
दृष्टान्तव्यतिरेकौ वापह्नुतिस्तुल्ययोगिता ॥ ३ ॥
उत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासः समासोक्तिर्विभावना ।
दीपकातिशयौ हेतुः पर्यायोक्तिः समाहितम् ॥ ४ ॥
परावृत्तिर्यथासंख्यं विषमः स सहोक्तिकः ।
विरोधोऽवसरः सारं स श्लेषश्च समुच्चयः ॥ ५ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादेकावल्यनुमापि च।
परिसंख्या तथा प्रश्नोत्तरं संकर एव च॥ ६॥

प्रागमीषां नामानि प्रत्येकमाह—चित्रमित्यादिश्लोकपञ्चकेन। तथा चित्रादयश्चत्वारोऽपि ध्वन्यलंकारा अवगन्तव्याः। अर्थालंकारा जात्युपमारूपकादयः॥

अथ चित्रादीनामलंकाराणां सोदाहरणानि लक्षणान्याह—

यत्राङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना।
सत्यां प्रसत्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत्॥ ७॥

यत्र बन्धे वस्तुकल्पना पदार्थघटना अङ्गसंधितद्रूपैरक्षरैर्भवति। वस्तुनः कमलछत्रचामरबन्धादेर्घटना वस्तुनोऽङ्गानां ये संधयस्तेपु तद्रूपाणि तान्येवाक्षराणि वस्तुकमलबन्धच्छत्रबन्धादितदङ्गानि कमलाङ्गानि दलादीनि। छत्राङ्गानि दण्डपट्टिकादीनि। तेषामङ्गानां ये संधयस्तत्र सदृशाक्षराणि कार्याणीत्यर्थः। तच्चित्रमुच्यते। यच्च चित्रकृदाश्चर्यकारि दुष्करत्वेन कविप्रज्ञातिशयख्यापकं भवति एकस्वरादिकमेकव्यञ्जनादिकं वा तदपि चित्रमुच्यते। परमपि यथाचित्रं प्रसत्तौ सत्यां प्रसत्तेरेव काव्यैर्विधेयम्। अप्रसत्तेस्तु काव्यैः को नाम चित्रकविर्न भवेत्। चित्रमाकारगतिस्वरव्यञ्जनभेदाच्चतुर्विधं भवति। आकारचित्रं पद्मच्छत्रचामरस्वस्तिककलशहलमुसलादिबन्धैरनेकधा। गतिचक्रं गोमूत्रिकातुरगगजपदादिभिर्भवति। स्वरेण स्वराभ्यां स्वरैर्वा चित्रं स्वरचित्रम्। स्वरत्रयं यावच्चित्रकस्य दुष्करत्वं संभवति। स्वरत्रयादूर्ध्वं किं चित्रम्। तथा मात्राच्युतकबिन्दुच्युतकावपि स्वरचित्रभेदः। तथा व्यञ्जनचित्रं एकव्यञ्जनद्विव्यञ्जनत्रिव्यञ्जनचतुर्व्यञ्जनबन्धम् यावद्व्यञ्जनचित्रम्, न तत्परं सुकरत्वात्। अक्षरच्युतकं व्यञ्जनचित्रभेदः॥

आकारचित्रमाह—

जनस्य नयनस्थानध्वान एनच्छिनत्त्विनः।
पुनः पुनर्जिनः पीनज्ञानध्वानधनः स नः॥ ८॥

स जिन इनः स्वामी नोऽस्माकमेनः पापं पुनः पुनश्छिनत्तु। किंभूतो जिनः। जनस्य नयनस्थानध्वानः। जनस्य लोकस्य नयनस्थाने ध्वानो ध्वनिर्यस्य स तथा। जिनध्वनिना आगमरूपेण नयनेनैव जनः परलोकं पश्यतीत्यर्थः। तथा पीनं स्फारतरं ज्ञानध्वाने एव धनं यस्य स तथा। षोडशदलं कमलं गोमूत्रिकाचित्रम्॥

एकस्वरचित्रमाह—

गणनरगणवरकरतरचरण
परपद शरणगजनपथकथक।

अमदन गतमद गजकरयमल
शममय जय भयघनवनदहन ॥ ९ ॥

हे गणनरगणवरकरतरचरण। गणा ऋषयो नरा मनुष्याश्च क्रियासु देवादयः। गणनराणां गणाः समूहास्तेषां वरस्य कल्याणस्य करतरौ प्रकृष्टं कल्याणकरौ चरणौ यस्य स तत्संबोधनम्। तथा परं पदं यस्य सः। हे शरणगजनपथकथक हे शरणागतलोकमार्गनिर्देशक। हे अमदन निष्काम। हे गतमद निर्मद। हे गजकरयमल गजकरो हस्तिशुण्डादण्डस्तद्वत्करयमलं यस्य सः। एककरशब्दस्य लोपः। हे शममय। हे भयघनवनदहन। भयमेव घनं वनं पानीयं तस्य दहन इव दहनस्तत्संबोधनम्। अत्र मणिगुणनिकरं छन्दः। चित्रत्वादन्ते गुरूणामभावोऽपीह न दोषाय। एकस्वरचित्रम्॥

मात्राच्युतकमपि स्वरचित्रम्। अतस्तदेवाह—

मूलस्थितिमधः कुर्वन्पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः।
विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथिकस्य सः॥ १०॥

स दासीसुतो विटः पथि न्यायमार्गे तिष्ठतः कस्य कुलीनस्य सेव्यः स्यात्। न कस्यापीत्यर्थः। कीदृशः। मूलस्थितिं मूलकुलाचारमधः कुर्वन्। तथा गताक्षरैर्मूर्खैः पात्रैर्जुष्टः। अथ विटशब्दस्य इरहितस्यार्थभेदः। स इति प्रसिद्धो वटः पथिकस्य पान्थस्य तिष्ठतो निवर्तमानगतेः कुलीनस्य तदधोभूमावुपविष्टस्येत्यर्थः। सेव्यः स्यात्। पान्थस्य गच्छतोऽनुपविष्टस्य कथं वटः सेव्यः स्यात्। ततस्तिष्ठतः कुलीनस्येति विशेषणद्वयस्य साफल्यं जातम्। कीदृशो वटः। मूलानां जटानामधः स्थितिं कुर्वन्। तथा—गताक्षरैः पात्रैर्जुष्टः। एवं गतमासमन्तात्क्षरं क्षरणं येभ्यस्तैर्गताक्षरैः पात्रैः पर्णैर्जुष्टः।[1] विटपदादिकारमात्राच्युतकं वट इति॥

तथा बिन्दुच्युतकमपि स्वरचित्रम्। तदाह—

धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः।
गुरूणां वञ्चने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम्॥ ११॥

एवंविधा नरा नरके दुःखितां यान्ति दुःखभावं प्राप्नुवन्ति। धर्ममेवाधर्मं कृत्वा विदन्तीति धर्माधर्मविदः। साधुपक्षः सतां पक्षस्तस्य पाते पतने नाशने समुद्यताः। गुरूणां पूज्यानां वञ्चने निष्ठा आदृताः। अथ वञ्चनशब्दाद्बिन्दुच्युतावर्थान्यत्वम्। तथा हे नरोत्तम, गुरूणां पित्रादीनां वचने निदेशे निष्ठास्तत्पराः के दुःखितां यान्ति। न

---

१. 'गतम्' 'आ' इत्यक्षरं येभ्यस्तादृशैः पात्रैः (पत्रैरिति यावत्) इत्यर्थः। इति जिनवर्धनसूरिः.

केऽपीत्यर्थः । कीदृशाः । धर्माधर्मविदः पुण्यपापव्यक्तिज्ञातारः । साधूनां यः पक्षपातः पक्षस्वीकारस्तत्र समुद्यता आसक्ताः । वचनपदाद्बिन्दुच्युतकं वचन इति ॥

ककाकुकङ्ककेकाङ्ककेकिकोकैककुः ककः ।
अकुकौकःकाककाकऋक्काकुकुककाङ्ककुः ॥ १२ ॥

ककाकु इत्येष श्लोक एकव्यञ्जनो नेमिनिर्वाणमहाकाव्ये राजीमतीपरित्यागाधिकारे समुद्रवर्णनरूपो ज्ञेयः । तथा ककः समुद्रो वर्तते । केन जलेनोपलक्षितः को वायुर्यत्र स ककः । यद्वा केन वायुना प्रेरितं कं जलं यत्र स ककः । अथवा कमेव कमात्मा यस्य स ककः । समुद्रः कीदृशः । ककाकुकंककेकांककेकिकोकैककुः । कं सुखं यया भवति काकुर्ध्वनिर्येषां ते ककाकवः । अथवा केन सुखेन जलेन वा काकवो ध्वनिविशेषा येषां ते ककाकवः । ककाकवश्च ते कङ्काश्च कङ्का जलपक्षिणः । तथा केका केकारवोऽङ्कश्चिह्नं येषां ते केकाङ्काः केकिनो मयूराः । तथा कोकाश्चक्रवाकाः । कथं मिथो मेलकः । ककाकुकङ्काः केकाङ्ककेकिनः कोका एवैका अद्वितीया कुर्भूमिर्यस्य स तथा । तथा—अकुकौकःकाककाकः । कवः कुत्सिताः न कवोऽकवः शोभनाः कौकसो जलवासिनः काकाः । शोभनजलवायसा इत्यर्थः । तेषां समूहः काकं काकमेव काककम् । स्वार्थे कः । तस्य अक्का माता यः समुद्रः स एव पालकत्वान्माता । तथा—ऋक्काकुकुककाङ्ककुः । ऋचो वेदवाक्यानि तेषां काकवो वक्रोक्तयस्तासां कुक उच्चारकः को ब्रह्मा सोऽङ्के उत्सङ्गे यस्यासौ अर्थादेव विष्णुस्तस्य कुः स्थानं समुद्रः । जलशयनत्वादस्येति ॥

तथैकव्यञ्जनच्युतकमपि व्यञ्जनचित्रं ततस्तदेवाह—

कुर्वन्दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम् ।
देव यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥ १३ ॥

हे देव, यौष्माकसेनाया असौ करेणुर्गजः प्रसरति । कीदृशः । दिवा आकाशेन सह कराश्लेषं कुर्वन् । तथा चरणडम्बरं दधत् । पक्षे वर्णच्युतकत्वात्ककारलोपे असौ रेणुः प्रसरति । कीदृशः । दिवाकरेण सूर्येण सहाश्लेषं कुर्वन् सूर्यं यावद्गच्छन्नित्यर्थः । च समुच्चये । रणडम्बरं संग्रामडम्बरं दधत् । करेणुपदात्ककारच्युतकम् ॥

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।
भङ्गश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥ १४ ॥

यत्र बन्धे उत्तरप्रदः पुमान्प्रस्तुतादर्थादपरं वाच्यमर्थमुपादाय भङ्गश्लेषपदेन वाह वदति सा वक्रोक्तिरेव ॥

भङ्गपदोदाहरणमाह—

नाथ मयूरो नृत्यति तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ।
ननु कथयामि कलापिनमिह सुखलापी प्रिये कोऽस्ति ॥ १५ ॥

प्रस्तुतो मयूरः केकी । वक्रोक्तौ तु तुरङ्गवदनो मयुः किन्नरस्तस्योरो वक्षस्तन्नृत्यति भर्त्रोक्तम् । तुरगाननस्य वक्षसो नृत्यं कुतः । हे नाथ, अहं कलापिनं कथयामि इति पत्न्योक्तः । इह कलापी सुखवक्ता । हे प्रिये, कोऽस्ति । भङ्गपदं प्रस्तुतशब्दस्य खण्डना यथा । मयूरस्य कलापिनो वा ॥

श्लेषपदस्योदाहरणमाह—

भर्तुः पार्वति नाम कीर्तय न चेत्त्वां ताडयिष्याम्यहं
क्रीडाब्जेन शिवेति सत्यमनघे किं ते शृगालः पतिः ।
नो स्थाणुः किमु कीलको नहि पशुस्वामी नु गोप्ता गवां
दोलाखेलनकर्मणीति विजयागौर्योर्गिरः पान्तु वः ॥ १६ ॥

खेलनकर्मणि क्रीडाकर्मणि इत्येवंभूता विजयागौर्योर्गिरो वो युष्मान्पान्तु । विजया गौरीं पृच्छति—हे पार्वति, भर्तुर्नाम कीर्तय कथय नो चेदनेन क्रीडाकमलेन त्वां ताडयिष्याम्यहम् । पार्वत्योक्तम्–स्फुटं प्रकटमिदमेतन्मे पतिः शिवः । विजयोवाच—तव पतिः शृगालः । नो नो सखि, मे पतिः स्थाणुः । किं कीलकस्तव भर्ता । नहि नहि भगिनि, मम पतिः पशुस्वामी । तव पतिः किं गवां गोप्ता पशुपतिः पशुपालो गोपालकः । इत्याद्या विजयागौर्योर्दोलाखेलनकर्मणि वाचः पान्तु । प्रस्तुतादर्थाच्छिवादपरं शृगालादिकमर्थमादाय श्लेषेण विजया गौरीं प्रति वदति । इत्येषा श्लेषपदवक्रोक्तिः ॥

अनुप्रासमाह—

तुल्यश्रुत्यक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।
अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ॥ १७ ॥

तुल्या समाना श्रुतिः श्रवणं येषामक्षराणां तानि तुल्यश्रुत्यक्षराणि तेषामावृत्तिः पुनः पुनरुपादानमनुप्रासः कथ्यते । कीदृशः । स्फुरद्गुणः स्फुरन्तोऽबाधिता औदार्यादयो गुणा येन स तथा । सोऽनुप्रासो द्विधा—छेकानुप्रासो लाटानुप्रासश्च । छेका विदग्धाः छेकजनवल्लभत्वाच्छेकानुप्रासः । लाटजनवल्लभत्वाल्लाटानुप्रासः । तथा छेकानामनुप्रासोऽतत्पदः । तान्येव पदानि यत्र स तत्पदः । न तत्पदोऽतत्पदः । अन्यैरन्यैः पदैरुत्पन्न इत्यर्थः । लाटानां तत्पदस्तैस्तैरेव पदैर्निष्पन्न इत्यर्थः ॥

छेकानुप्रासोदाहरणमाह—

अलं कलङ्कशृङ्गार करप्रसरहेलया ।
चन्द्र चण्डीशनिर्माल्यमसि न स्पर्शमर्हसि ॥ १८ ॥

काचिद्विरहिणी चन्द्रमसं प्रत्याह—हे कलङ्कशृङ्गार, करप्रसरहेलया अलं पूर्यताम् । हे चन्द्र, त्वं चण्डीशनिर्माल्यमसि स्पर्शं नार्हसि निर्माल्यस्पर्शो न युज्यते सताम् । अत्रालं कलङ्कशृङ्गारकरप्रसरचन्द्रचण्डीशेत्याद्यतत्पदैश्छेकानुप्रास इति ॥

रणे रणविदो हत्वा दानवान्दानवद्विषा।
नीतिनिष्ठेन भूपाल भूरियं भूस्त्वया कृता॥ १९॥

हे भूपाल, दानवद्विषा वासुदेवेन रणे संग्रामे रणविदः संग्रामनिपुणान्दानवान्हत्वा इयं भूर्भूः कृता। त्वया नीतिनिष्ठेन न्यायनिपुणेन सता इयं भूर्भूः कृता, इदं पुरं पुरमद्य जातम्, तथेयं भूर्भूः कृता। अत्र रणे रणविदः, दानवान्दानवद्विषा, भूरियं भूरित्यादितत्पदत्वेनैवानुप्रासकरणाल्लाटानुप्रासः॥

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि स्वर्गलोकसुखेन किम्।
त्वं प्रिया यदि न स्यान्मे स्वर्गलोकसुखेन किम्॥ २०॥

हे चकोराक्षि, यदि त्वं मम प्रिया जाता तदा स्वर्गलोकसुखेन नाकलोकसुखेन मम किम्। यदि च त्वं प्रिया न स्याः मम तथापि त्वां विना स्वर्गलोकसुखेन किं मम। अत्र द्वितीयचतुर्थपादेन लाटानुप्रासो भवति॥

अत्र[1] कठोरता लाटानुप्रासेऽपि दोषाय। तदाह—

एकत्रपात्रे स्वकलत्रवक्त्रं नेत्रामृतं बिम्बितमीक्षमाणः।
पश्चात्पपौ सीधुरसं पुरस्तान्ममाद कश्चिद्यदुभूमिपालः॥ २१॥

कश्चिद्यदुभूमिपाल एकत्रपात्रे एकस्मिन्मदिराकल्लोलके स्वकलत्रवक्त्रं बिम्बितमीक्षमाणः पुरस्तात्प्रथमं ममाद। पश्चात्सीधुरसं मदिरारसं पपौ। अन्यो मद्यं पीत्वा पश्चान्माद्यति। असौ (प्राग्) ममाद। अत्र बहुतरवर्णावृत्तौ सौकुमार्यबाधा। एवमन्येषामपि गुणानां बाधा अनुप्रासरसिकेन कविना रक्ष्या॥

अथ यमकमाह—

स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुता युता।
यमकं भिन्नवाच्यानामादिमध्यान्तगोचरम्॥ २२॥

पादो वृत्तचतुर्थो भावः। पदं विभक्त्यन्तम्। वर्णोऽक्षरम्। अमीषां भिन्नवाच्यानां भिन्नार्थानामावृत्तिः पुनः पुनर्वर्णनं यमकं स्यात्। सा आवृत्तिर्द्विधा—संयुता अयुता च। संयुता अन्तराले अपरपदरहिता। अयुता अन्तरालपदसहिता। तथा संयुतावृत्तौ तद्यमकं त्रिधा—आदिमध्यान्तगोचरम् आदिगोचरमादियमकम्, मध्यगोचरं मध्ययमकम्, अन्तगोचरमन्तयमकम्। अयुतावृत्तौ त्वन्यथापि व्याख्या। आदिमध्यगोचरम् मध्यान्तगोचरम्। काकाक्षिगोलकन्यायेन मध्यशब्द उभयत्रापि संबध्यते। तथा मध्यस्यान्तोऽर्थात्पद्यान्त एवोच्यते। तेनाद्यन्तगोचरं यमकं स्यादिति सिद्धम्। आवृत्तिर्यथाशक्ति क्रियते। तेन श्लोकान्तगामिन्यप्यावृत्तिः संभवति। निषेधाभावेनैकाकारं चतुष्पदं महायमकमुच्यते, इत्यपि सिद्धम्॥

---

१. 'एतेषु सर्वेषु पूर्वोक्तेषु सर्वथा तुल्यानामेव वर्णानामावृत्तिरुक्ता, संप्रति किंचिद्भेदेऽपि तुल्यश्रुतित्वादनुप्रासः स्यादिति दर्शयति' इत्यवतरणिकां जिनवर्धनसूरिराह.

संयुतावृत्तौ पादयमकमाह—

दयां चक्रे दयांचक्रे ।
सतां तस्माद्भवान्वित्तम् ॥ २३ ॥

हे राजन्, यस्माद्धेतोर्भवान् दयां चक्रे करुणां चकार तस्मात्कारणाद्भवान् सतां साधूनां वित्तं दयांचक्रे दत्तवान् । व्रीडा छन्दश्छन्दश्चूडामणौ ॥

मध्यपादयमकमाह—

यशस्ते समुद्रान्सदारोरगारेः ।
सदा रोरगारेः समानाङ्गकान्तेः ॥ २४ ॥

तथा हे राजन्, सत् शोभनं ते यशः समुद्रानार गतम् । कीदृशस्योरगारेर्गरुडस्य । समानाङ्गकान्तेः । स्वर्णवर्णस्येत्यर्थः । सदा रोरगारेः सदा सर्वदा रोरगा दारिद्र्यं गता अरयो यस्य तस्य रोरगारेः । 'रोरं दारिद्र्यमुच्यते' । सोमराजी छन्दः ॥

पादान्तयमकमाह—

द्विषामुद्धतानां निहंसि त्वमिन्द्रः ।
मुदं भो धराणामुदम्भोधराणाम् ॥ २५ ॥

भो राजन्, इन्द्रो धराणां पर्वतानाम् मुदं हर्षं हन्ति । कीदृशानाम् । उदम्भोधराणाम् । उदुपरि अम्भोधरा मेघा येषां तेषाम् । त्वं च उद्धतानां द्विषां मुदं निहंसि । त्वमिंद्रश्च समानौ बलेनेत्यर्थः । छन्दस्तदेव ॥

अथादिमध्यगोचरं मध्यान्तगोचरं यमकमेकवृत्तेनाह—

विभातिरामा परमा रणस्य विभाति रामा परमारणस्य ।
सदैव तेऽजोर्जित राजमान सदैवतेजोर्जितराजमान ॥ २६ ॥

पादद्वयेनादिमध्ययमकम् । अग्रेतनपादद्वयेन मध्यान्तयमकम् । हे अजोर्जित अजो वासुदेवस्तद्वद्बलिष्ठ हे राजमान शोभमान हे नृप, सदैवतेजोर्जितराजमान सदैवं कर्मसहितं यत्तेजस्तेनार्जितो राजसु भूपेषु मानो महत्त्वं येन स तथा तत्संबोधनम् । ते तव रणस्य विभा विभाति । कीदृशी । अतिक्रान्तो रामो दाशरथिर्यया सा । रामा रम्या परमा प्रकृष्टा । कीदृशस्य । परमारणस्य शत्रुघातकस्य ॥

अथायुतावृत्तावादिमध्यगोचरं यमकमाह—

सारं गवयसांनिध्यराजि काननमग्रतः ।
सारङ्गवयसां निध्यदारुणं शिखरे गिरेः ॥ २७ ॥

हे प्रिय, अग्रतो गिरेः शिखरे सारङ्गवयसां मृगपक्षिणां काननं पश्य । की-

दृशम् । निध्यदारुणं निधिभिरदारुणमभीकम् । तथा सारं प्रधानम् । तथा गवयसांनिध्येनारण्यशण्ढनिकटत्वेन राजि शोभमानम् ॥

अमरनगरस्मेराक्षीणां प्रपञ्चयति स्फुर-
त्सुरतरुचये कुर्वाणानां बलक्षम रंहसम् ।
इह सह सुरैरायान्तीनां नरेश नगेऽन्वहं
सुरतरुचये कुर्वाणानां वलक्षमरं हसम् ॥ २८ ॥

हे वलक्षम्, नरेश, इह नगेऽन्वहं नित्यं सुरतरुचये सुरद्रुमगणे वाणानां वृक्षाणां कुभूमिरमरनगरस्मेराक्षीणां देवाङ्गनानां रंहसं वेगं प्रपञ्चयति । रम्या वाणाः, अतो देव्यो वेगेन क्रीडायै आयान्तीत्यर्थः । कीदृशीनाम् । स्फुरत्सुरतरुचये सुरतसुखनिमित्तं सुरैः सहायान्तीनाम् । तथारमत्यर्थं वलक्षं धवलं हसं हास्यं कुर्वाणानाम् । अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते ॥

अथाद्यन्तयमकमाह—

आसन्नदेवा न रराज राजिरुच्चैस्तटानामियमत्र नाद्रौ ।
क्रीडाकृतो यत्र दिगन्तनागा आसन्नदे वानरराजराजि ॥ २९ ॥

अत्राद्रावियं तटानां राजिः श्रेणिर्न [न] रराज । अपि तु रराजैव । कीदृशी । आसन्नदेवा समीपस्थसुरा । तथोच्चैर्गुर्वी । यत्र यस्यां तटराजौ नदे ह्रदे दिगन्तनागा दिग्गजाः क्रीडाकृत आसन् क्रीडाकारिणोऽभवन् । कीदृशे । वानरराजराजि वानरराजा मुख्यवानरास्तै राजतीत्येवंशीलो वानरराजराट् तस्मिन्वानरराजराजि ॥

श्लोकावसानगावृत्तिर्महायमकम्, तदाह—

रम्भारामा कुरबककमलारं भारामा कुरबककमला- ।
रम्भा रामाकुरबक कमलारम्भारामाकुरबककमला ॥ ३० ॥

अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते इति संबन्धः । कीदृशी भूमिः । रम्भारामा रम्भाभिः कदलीभिर्मिश्रा आरामा यस्यां सा तथा । अबककमला अवकं वकरहितं कं पानीयं मलते धारयतीत्यवककमला । तथा अरमत्यर्थं भारा मा भैर्नक्षत्रैरा ईषद्रामा कर्बुरेत्यर्थः । तथा—कुरबककमलारम्भा[1] कुरवका वृक्षविशेषाः कमलानि पद्मानि तेषामारम्भा उत्पत्तयो यस्यां सा कुरबककमलारम्भा । तथा रामा रम्या । अथवा—कुरबककमलारम्भारामा कुरबककमलानामारम्भेणोद्गमेन आ ईषद्रामा मनोज्ञा । हे अकुर वक न विद्यते कुत्सितो रवः शब्दो यस्य सोऽकुरवः, अकुरव एवाकुरवकः । शेषाद्वा कः । हे अकुरवक हे कोमलध्वान । नेमेः संबोधननाम तत् । पुनः कीदृशी कुः । कमलारम्भारामा, कमला लक्ष्मी रम्भा अप्सरसः ता एव रामाः स्त्रियो यस्यां सा । गिरि भूमौ रामाः क्रीडार्थ-

---

१. द्वितीयतृतीयपादस्थपदसमासो न कविसंप्रदायसिद्धः. पद्यगन्धिगद्यं वा स्यात्.

मायान्ति । अत्र कमलारम्भा एव रामा ज्ञेयाः । तथा—अकुरवककमला, कुत्सितं राजन्त इति कुरा न कुरा अकुराः शोभमाना वका वृक्षविशेषाः कमला हरिणविशेषांश्च यस्यां सा अकुरवककमला । रम्भारामेत्यत्र श्लोके द्वितीयतृतीयपदयोरन्तरा न यतिः । इदं संशयाय यदि पुनर्महायमकत्वात्कविना कृतम्, तथापि विलोक्यम् । रम्भाकुरवकेत्यस्य विशेषवती अवचूरिः । हे अकुरवककमल, अत्र पर्वते कुर्भूमिः शोभते । अकुत्सितः शोभनो रवो यस्याश्चिदानन्दादिशब्दवाच्यत्वात् । एवंविधा कस्य सुखस्य कमला यस्य नेमेः संबोधनम् । रम्भारामा तथैव । तथा—आरम्भारामा अर्थः पश्चाद्वत् । तथा कुर्भूमिरवककमला । तथा रम्भारामा रम्भा एव रामा यस्यां सा रम्भारामा । तथा अकुरवककमला । एवं व्याख्याने पदद्वयस्यान्तरं भवति । 'म्भौ न्लौ गः स्याद्भ्रमरविलसितम्' छन्दः ॥

इदानीं तेनैव प्रकारेण पदयमकोदाहरणानि । तत्र संयुतावृत्तौ आदिपदयमकमाह—

हारीतहारी ततमेष धत्ते सेवालसेवालसहंसमम्भः ।
जम्बालजं बालमलं दधानं मन्दारमन्दारववायुरद्रिः ॥ ३१ ॥

एषोऽद्रिस्ततं विस्तीर्णमम्भो धत्ते । कीदृशोऽद्रिः । हारीतहारी, हारीताः पक्षिणस्तैर्हारी मनोहरः । तथा मन्दारमन्दारववायुः, मन्दारेषु कल्पवृक्षेषु मन्दारवो मन्दशब्दो वायुर्यत्र सः । सुरभिवायुरद्रावस्तीत्यर्थः । कीदृशम् । सेवालसेवालसहंसम्, सेवालसेवायामलसा राजहंसा यत्राम्भसि तत्तथा । अलमत्यर्थं बालं नूतनं जम्बाजलं कमलं दधानम् ॥

नेमिर्विशालनयनो नयनोदितश्री-
रभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः[1] ।
प्राप्तस्तदाजनगरान्नगराजि तत्र
सूतेन चारु जगदे जगदेकनाथः ॥ ३२ ॥

सूतेन सारथिना जगदेकनाथो नेमिश्चारु यथा भवति तथा जगदे । कीदृशः । नयनोदितश्रीः नयेन न्यायेनोदिता प्रेरिता श्रीर्यस्य सः । न्यायाधिकशोभ इत्यर्थः । तथा अभ्रान्तः सत्यो बुद्धिरूपो विभवो यस्य स तथा । विगतो भवो यस्य स तथा । तदाजनगरात् नारायणपुरात्तत्र नगराजि गिरीश्वरे रैवतके प्राप्तः ॥

अन्तयमकमाह—

यदुपान्तिकेषु सरलाः सरला यदनूच्चलन्ति हरिणा हरिणा ।
तदिदं विभाति कमलं कमलं मदमेत्य यत्र परमाप रमा ॥ ३३ ॥

यदुपान्तिकेषु यस्य जलस्योपान्तिकेषु पार्श्वेषु सरला अवक्राः सरला देव-

1. 'भूयो वारंवारम्' इति जिनवर्धनसूरिः.

दारवो वर्तन्ते। यज्जलमनुलक्षीकृत्य हरिणा मृगा हरिणा वायुना सहोच्चलन्ति। अलमत्यर्थं तदिदं कं जलं विभाति। यत्र जले रमा लक्ष्मीः कमलमेत्य परं प्रधानं मदमाप॥

आदियमकमाह—

कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां तारवाचं क्षमते स्म सोढुम्।
कान्ता रतेशेऽध्वनि वर्तमाने कां तारविन्दस्य मधोः प्रवेशे॥ ३४॥

कान्ता भार्या रतेशे भर्तरि अध्वनि पथि वर्तमाने। विदेशस्थे सतीत्यर्थः। मधोर्वसन्तस्य प्रवेशे कान्तारभूमौ पिककामिनीनां कां तारवाचं विस्तारिणीं वाणीं सोढुं क्षमते स्म। अपि तु कामपि न क्षमते स्म। कीदृशस्य मधोः कान्तारविन्दस्य कमनीयपद्मस्य॥

मध्ययमकमाह—

चकार साहसं युद्धे धृतोल्लासा हसं च या।
दैन्यं त्वां साह संप्राप्ता द्विषां सोत्साह संततिः॥ ३५॥

हे सोत्साह हे सोद्यम हे श्रीनेमे, या द्विषां संततिः शत्रूणां श्रेणिर्युद्धे साहसं चकार। धृतोल्लासा च सती हसं हास्यं चकार। अपरान्प्राप्येत्यध्याहार्यम्। सा द्विषां संततिः त्वां संप्राप्ता सती दैन्यं चकारेत्यर्थः। अथवा दैन्यं संप्राप्ता सती त्वामाह। त्वदग्रतो दीनवाक्यान्यभाषिष्टेत्यर्थः॥

अन्तयमकमाह—

गिरां श्रूयते कोकिला कोविदारं यतस्तद्वनं विस्फुरत्कोविदारम्।
मुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं न च व्याधचक्रं कृतौको विदारम्॥३६॥

गिरां विषये वचनकोमलताविषये अरमत्यर्थं कोविदा पण्डिता। यतो यस्मात्कारणात्कोकिला श्रूयते तत्तस्मादेतद्वनं वर्तते। कीदृशम्। विस्फुरत्कोविदारं विस्फुरन्तो झलझलायमानाः कोविदाराः काञ्चनारवृक्षा येन तत्। अत्र वने मुनीनां लोको मुनिजनो विदारं विगतकलत्रं यथा भवति तथा वसति। दाररहितो मुनिजनस्तपसे वसतीत्यर्थः। अत्र वने व्याधचक्रमाखेटकृत्समूहः कृतौको विहितगेहं न वर्तते। कीदृशम्। विदारं वीन्पक्षिणो दृणाति दारयतीति विदारम्। यतः कोकिला श्रूयते ततं एतद्वनं किमपि वर्तते इति कोऽपि कस्यापि कथयामासेत्युक्तिलेशः॥

अतः पादद्वयेऽपि आदिमध्यमध्यान्तयमकान्युदाह्रियन्ते—

सिन्धुरोचितलताग्रसल्लकीसिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः।
कन्दराजितमदस्तटं गिरेः कन्दराजितगृहश्रि गीयते॥ ३७॥

किन्नरैर्गिरेरदः शिखरमुपेत्य गीयते। कीदृशं शिखरम्। सिन्धुरोचितलताग्रसल्लकीसिन्धुरोचितं सिन्धुराणां गजानामुचिता योग्या लताग्राः सल्लक्यश्च ताभिर्युताः सिन्धवो नद्यस्ताभी रोचितं शोभितम्। तथा—कन्दराजितं कन्दैः शोभितम्। तथा—कन्दराजितगृहश्रि कन्दराभिर्जिता गृहशोभा येन शिखरेण तत्। इदं पादद्वये आदियमकं कथितम्॥

पादद्वयमध्ययमकं यथा—

वसन्सरोगोऽत्र जनो न कश्चित्परं सरोगो यदि राजहंसः।
गीतं कलं को न करोति सिद्धः शैले कलङ्कोज्झितकाननेऽस्मिन्॥३८॥

अत्र शैले पर्वते कलङ्कोज्झितकानने निर्दोषे वने वसन् सन् जनो लोकः कश्चिन्न सरोगो न सव्याधिः। परं यदि सरोगः सरोवरगतो राजहंस इत्यर्थः। अत्र शैले कः सिद्धः किन्नरः कलं मनोज्ञं गीतं न करोति। अपि तु सर्वोऽपि करोतीत्यर्थः॥

पादद्वयान्त्ययमकं यथा—

जहुर्वसन्ते सरसीं न वारणा बभुः पिकानां मधुरा नवारणाः।
रसं च का मोहनकोविदार कं विलोकयन्ती बकुलान्विदारकम्॥३९॥

वारणा गजेन्द्रा वसन्तमासे सरसीं महासरोवरं न जहुर्नात्याक्षुः। पिकानां कोकिलानां नवा मधुरा रणाः शब्दा वसन्ते बभुः। का च स्त्री मोहनकोविदा सुरतपण्डिता बकुलान्वृक्षविशेषान्विलोकयन्ती सती कं रसं नार। अपि तु सर्वमपि रसं प्राप्तैव। कथं विदारकं निष्पुत्रं यथा भवति तथा। निष्पुत्रायाः संभोगक्षमत्वात्॥

आद्यन्तयमकं यथा—

वरणाः प्रसूननिकरावरणा मलिनां वहन्ति पटलीमलिनाम्।
तरवः सदात्र शिखिजातरवः सरसश्च भाति निकटे सरसः॥ ४०॥

अत्र गिरौ सदा वरणास्तरवो वरणा वृक्षविशेषा अलिनां भ्रमराणां मलिनां नीलां पटलीं श्रेणिं वहन्ति। कीदृशाः। प्रसूननिकरावरणाः प्रसूननिकरा एव पुष्पसमूहा एवावरणमाच्छादनं येषां ते तथा। अत्राद्रौ शिखिजातरवो मयूरजातध्वनिश्च सरसो निकटे तटाकस्यान्तिके सरसो मधुरो भाति॥

द्वितीयपादचतुर्थपादान्तयमकमाह—

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभवः स्यान्महत्तमः।
तथा तथास्य जायेत स्पर्धयेव महत्तमः॥ ४१॥

द्विजिह्वस्य दुर्जनस्य यथा यथा विभवः स्याद्धनं भवेत्। कीदृशो विभवः। प्रकृष्टो महान् महत्तमः। बहुतर इत्यर्थः। तथा तथास्य दुर्जनस्य महत् धनं तमः पापं स्पर्धयेव जायेत॥

संयुतासंयुतावृत्तौ यमकमाह—

दास्यति दास्यतिकोपादास्यति सति कर्कराञ्शापम्।
भवति भवति ह्यनर्थो भव तिमितस्तेन वटुक त्वम्॥ ४२॥

हे वटुक, भवति त्वयि आसमन्तात्कर्करानस्यति क्षिपति सति दासी अतिकोपाच्छापं दास्यति। हि यस्मात्कारणादनर्थो भवति। ततस्त्वं तिमितो भव स्थिरो भव चापलं मा कृथाः॥

कुलं तिमिभयादत्र करेणूनां न दीव्यति ।
न दीव्यति करेणूनां प्राणिनां गणनापि का ॥ ४३ ॥

अत्र नदीसमीपे करेणूनां कुलं तिमिभयान्मत्स्यभयान्न दीव्यति न क्रीडति । अणूनां सूक्ष्मानां प्राणिनां गणनापि का ॥

इदानीं वर्णावृत्तिरुदाह्रियते—

गङ्गाम्बुधवलाङ्गाभो मुमुक्षुध्यानतत्परः ।
पापार्तिहरणायास्तु स सज्ञानो जिनः सताम् ॥ ४४ ॥

गङ्गाजलवद्धवला अङ्गस्याभा कान्तिर्यस्य स तथा । मुमुक्षूणां ध्यानस्य गोचरः । अत्र पादे पादे आदौ वर्णद्वयद्वयसादृश्याद्वर्णयमकमुच्यते ॥

असंयुतावृत्तौ वर्णयमकमाह—

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः ।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥ ४५ ॥

उद्दामावनिवारौ धाम तेजस्तद्युक्तौ भुजरूपौ परिघौ यस्य सः । अधिको नाथोऽधिनाथः । अत्र प्रतिपदं जग्रहणादयुतावृत्तौ यमकम् । वर्णावृत्तिः पूर्ववद्भेदा द्रष्टव्याः ॥

संयुतासंयुतावृत्तिर्यथा—

मामाकारयते रामा सा सा मुदितमानसा ।
या या मदारुणच्छाया नानाहेलामयानना ॥ ४६ ॥

सा सा रामा मामाकारयते आह्वयति । या या मदारुणच्छाया मदेनारुणा आरक्ता छाया शोभा यस्याः सा मदारुणच्छाया । या या मुदितमानसा हृष्टचित्ता च । तथा नानाहेलामया नाना नानाविधमनेकप्रकारं हेलामयं लीलामयमाननं यस्याः सा । अत्र मामा सासा इत्यादि संयुतायमकम् । पदान्ते च मासेत्याद्ययुतायमकम् । समाप्ताश्चत्वारोऽपि शब्दालंकाराः ॥

अथार्थालंकारा उच्यन्ते—

स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।
जातिर्विशेषतो रम्या हीनत्रस्तार्भकादिषु ॥ ४७ ॥

पदार्थस्य सक्रियस्य क्रियासहितस्य अक्रियस्य वा क्रियारहितस्य वा स्वभावोक्तिर्या सा जातिरुच्यते । हीनत्रस्तार्भकादिषु स्वभावोक्तिः सहजकथनं विशेषतः सा जातिरुच्यते । हीनो दीनस्त्रस्तो भीतः, अर्भका बालका, इत्यादिषु स्वभावोक्तिर्विशेषतो रम्या जातिः । कोऽर्थः । यस्य पदार्थस्य यादृशः स्वभावस्तस्यैव स्वभावस्य यत्कथनं सा जातिरवगन्तव्या । हीने हीनस्वभाववर्णनम्, त्रस्ते त्रस्तलक्षणम् । अर्भकादिषु तान्येव लक्षणानि वर्ण्यन्ते । न तु उपमाद्यलंकारेणार्थापत्त्याद्यानयनं क्रियते सा जातिरिति ॥

उदाहरणमाह—

बर्हावलीबहुलकान्तिरुचो विचित्र-
भूर्जत्वचा रचितचारुदुकूललीलाः ।
गुञ्जाफलग्रथितहारलताः सहेलं
खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शबर्यः ॥ ४८ ॥

खेलगतयः सविलासगतयः शबर्योऽत्र वने सहेलं सलीलं खेलन्ति दीव्यन्ति । बर्हाव-लीभिर्मयूरपिच्छश्रेणिभिर्बहुला महीया कान्तिस्तया रोचन्ते यस्तास्तथा । शेषं सुगमम् । अत्र शबरीणां हीनत्वाद्धीनाभरणादिवर्णना । सक्रियोदाहरणमिदम् । खेलन्तीति क्रिया ॥

अक्रियोदाहरणमाह—

आरत्तनित्तधोरणि भीसणवअणुक्करो कुरङ्गच्छि ।
उल्लसिअवीसभुअवणविणिवेसो दसमुहो एसो ॥ ४९ ॥

[आरक्तनेत्रश्रेणि भीषणवदनोत्करो कुरङ्गाक्षि ।
उल्लसितविंशतिभुजवनविनिवेशो दशमुख एषः ॥]

हे कुरङ्गाक्षि, एष दशमुखो रावणः । कीदृशः । आरक्तनेत्रश्रेणि भीषणवदनोत्करः उल्लसितविंशतिभुजवनविनिवेशः उल्लसितं विंशतिभुजा एव वनं काननं तस्य विनिवेशः स्थानम् । अत्रापि यादृशो रावणस्तावदेवोक्तत्वात्स्वभावोक्तिः । एषा जातिः । त्रस्ते इदमुदाहृतम् । यथा [वा]—

'यमालोक्य स्वप्ने करकलितनिस्त्रिंशफलकं
भयाद्द्रागुन्निद्राः कृतनिजबलाह्वा न विधयः ।
भुजामध्याद्बुद्धैः किमिदमिति दारैरभिहिताः
कति व्रीडामौनव्रतमिह न भेजुः क्षितिभुजः ॥'

अर्भके यथा—

'शिक्षया प्रणमन्वृद्धांस्तदाशिषमनूच्चरन् ।
निजच्छायासमाश्लिष्टं धावन्क्रीडति बालकः ॥'

आदिशब्दान्मत्तकुपितादिष्वेवमुदाहार्यम् ।

संप्रत्युपमामाह—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।
प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥ ५० ॥

यत्रोपमेयस्य मुख्यवस्तुनोपमानेन दृष्टान्तेन सादृश्यं समानता । सादृश्यं द्विधा— अभिधीयमानं प्रतीयमानं च । सा प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैर्वक्ष्यमाणैरुपमोक्ता विशेषानुपादानात् ॥

तत्राभिधीयमानसादृश्ये उदाहरणमाह—

गत्या विभ्रममन्दया प्रतिपदं या राजहंसायते
यस्याः पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत्सदैवाननम् ।
यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया
तां कुन्दार्हदतीं त्यजञ्जिनपती राजीमतीं पातु वः ॥ ५१ ॥

या राजीमती विभ्रममन्दया गत्या प्रतिपदं राजहंस इवाचरति राजहंसायते । अत्र प्रत्ययेनोपमा । यस्या आननं पूर्णमृगाङ्कमण्डलमिव श्रीमत् । श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा । अत्रेवशब्देनाव्ययेनोपमा । यस्या राजीमत्या नेत्रद्वयं श्रिया नीलोत्पलान्यनुकरोति । अत्रानुकरोतिक्रियातुल्यार्थवाचिका ततस्तुल्यार्थेनोपमा एषा । कुन्दानर्हति कुन्दार्हा दन्ता यस्यां सा तां कुन्दार्हदतीम् । कुन्दसमानरदनामित्यर्थः । अत्र बहुव्रीहिसमासेनोपमा।अत्र प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थभेदैश्चतुर्भेदोपमायां गत्यादिसादृश्यमभिधीयमानमस्ति । नास्ति गम्यं बलात्कारेण किमपि । राजहंसायते गत्या, नेत्रयुगलमनुकरोति श्रिया, इत्यादिकारणानि सर्वाणि काव्यमध्ये एवाभिहितानि सन्तीतीदमभिधीयमानमुच्यते । यत्र कारणानि काव्यमध्ये नोक्तानि, किंतु स्वयमेवानुमानेन ज्ञायन्ते तत्प्रतीयमानमुच्यते ॥

प्रतीयमानोदाहरणं यथा—

चन्द्रवद्वदनं तस्या नेत्रे नीलोत्पले इव ।
पक्वबिम्बं हसत्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवौ ॥ ५२ ॥

यस्या राजीमत्या वदनं चन्द्रवत् । नेत्रे नीलोत्पले इव वर्तेते । ओष्ठः पक्वबिम्बं हसति । यस्या भ्रुवौ पुष्पधन्वधनुः पुष्पधन्वा कामदेवस्तस्य धनुः । अत्र तावत्केन गुणेन मुखं चन्द्रवत्स गुणो नोक्तः । ओष्ठः पक्वबिम्बं केन हसति स गुणः स्वमत्या अवतार्यः । अत एव तत्प्रतीयमानमुच्यते । अत्र चतुर्षु प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासोपमाः क्रमात् ज्ञेयाः । इत्यादि सर्वत्रावगन्तव्यम् ॥

मअभरिअमाणसस्स वि णिच्चं दोसाअरस्स सासिण व्व ।
तुह विरहे तीइ मुहं संकुइअं सुहअ कुमुअं च ॥ ५३ ॥

[मदभरितमानसस्यापि नित्यं दोषाकरस्य शशिन इव ।
तव विरहे तस्या मुखं संकुचितं सुभग कुमुदं च ॥]

हे सुभग, तव विरहे तस्या मुखं संकुचितम् । यथा—शशिनो विरहे कुमुदं संकोचं प्राप्नोति । कीदृशस्य दोषाकरस्य । उभयोर्विशेषणमेतत् । यथा—मदभरितमानसस्यापि । चन्द्रपक्षे—मृगभरितमानसस्यापि । मानसमत्र मध्यं ज्ञेयम् । शशिन इवेति द्रव्योपमा । कुमुदं संकुचितमिति क्रियोपमा ॥

अन्योन्योपमालंकारमाह—

तं णमह वीअराअं जिणिन्दमुद्दलिअदिढअरकसाअम् ।
जस्स मणं व सरीरं मणं सरीरं व सुपसन्नम् ॥ ५४ ॥

[तं नमत वीतरागं जिनेन्द्रमुद्दलितदृढतरकषायम् ।
यस्य मन इव शरीरं मनः शरीरमिव सुप्रसन्नम् ॥]

तं वीतरागं जिनेन्द्रं नमत । खण्डितदृढतरकषायम् । यस्य मन इव शरीरं सुप्रसन्नं शरीरमिव मनः सुप्रसन्नम् ॥

क्रियाभेदानामन्योपमालंकारो यथा—

ये देव भवतः पादौ भवत्पादाविवाश्रिताः ।
ते लभन्तेऽद्भुतां भव्याः श्रियं त एव शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

हे देव, ये भव्या भवत्पादावेव भवत्पादाविवाश्रिताः । यथा भवत्पादावाश्रीयेते तथा भवत्पादाश्रिताः । यथा हे राजन्, यथा त्वं सेव्यसे तथा त्वां सेविष्येऽहम् । तथात्रापि ये भवत्पादाविव भवतः पादावाश्रितास्ते भव्यास्त एवाद्भुतां श्रियं लभन्ते ॥

उपमेयप्रचुरोपमालंकारमाह—

आलोकनं च वचनं च निगूहनं च
यासां स्मरन्नमृतवत्सरसं कृशस्त्वम् ।
तासां किमङ्ग पिशितास्रपुरीषपात्रं
गात्रं विचिन्त्य सुदृशां न निराकुलोऽसि ॥ ५६ ॥

हे सखे, यासां स्त्रीणामालोकनं वचनं च निगूहनमालिङ्गनं चामृतवत्सरसं स्मरंस्त्वं कृशो जातः । हे सखे, अङ्ग कोमलामन्त्रणे । तासां सुदृशां पिशितास्रपुरीषपात्रं मांसरुधिरामेध्यस्थानं गात्रं देहं विचिन्त्य किं न निराकुलोऽसि न समभावज्ञोऽसि ॥

उपमानप्रचुरोपमालंकारमाह—

कलेव चन्द्रस्य कलङ्कमुक्ता मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना ।
जगत्त्रयस्याभिमतं ददाना जैनेश्वरी कल्पलतेव मूर्तिः ॥ ५७ ॥

जैनेश्वरी मूर्तिश्चन्द्रस्य कलेव कलङ्कमुक्ता मुक्तावलीवोरुगुणप्रपन्ना गुणयुक्ता कल्पलतेव जगत्त्रयस्याभिमतं ददाना ॥

अथोपमालंकारदूषणान्याह—

विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिकां च ताम् ।
निबध्नन्ति बुधाः क्वापि लिङ्गभेदं तु मेनिरे ॥ ५८ ॥

विभिन्नलिङ्गां विभिन्नवचनां चोपमां न निबध्नन्ति । तथा अतिहीनाधिकामिति । अतिहीनामत्यधिकां चोपमां न निबध्नन्ति । विशेषमाह—बुधाः क्वापि लिङ्गभेदं मेनिरे ॥

उदाहरणमाह—

हिममिव कीर्तिर्धवला चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः ।
ध्वाङ्क्षस्येव च दाक्ष्यं नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ॥ ५९ ॥

हे सुभग, तव कीर्तिर्हिममिव धवलेत्यत्र कीर्तेः स्त्रीलिङ्गत्वम्, हिममिवेति नपुंसकम् । अत उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदः । तव वाचश्चन्द्रकलेवातिनिर्मलाः । वाच इत्यत्र बहुवचनम्, चन्द्रकलेत्यत्रैकवचनम्, अतो वचनभेदः । तव दाक्ष्यं दक्षता ध्वाङ्क्षस्येव वर्तते । हीनोपमैषा । तव वक्षो नभ इव विपुलम् । अधिकोपमैषा । अमी उपमादोषा कविना चिन्तनीयाः ॥

शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते ।
खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ॥ ६० ॥

इयं शुनी गृहदेवीवेत्यत्राधिकोपमा । तव प्रतापः खद्योत इवेत्यत्र हीनोपमा च सदोषा । हिममिव कीर्तिर्धवलेत्यत्र क्रियारहितोपमा सदोषा । शुनीयं गृहदेवीवेत्यत्र हीनाधिकोपमा सदोषा ॥

अथ हीनविशेषणैरुपमेयोपमामुपमानोपमामाह—

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धिः शार्ङ्गीव शङ्खभृत् ।
श्चोतन्मदः करी वर्षन्विद्युत्वानिव वारिदः ॥ ६१ ॥

अब्धिः समुद्रः शार्ङ्गी विष्णुरिव वर्तते । शङ्खभृदुभयोर्विशेषणमेतल्लगति । परं सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरिति विशेषणद्वयं समुद्रे लगति न तु विष्णौ । अत उपमेयविशेषणानि सर्वाण्युपमाने न लगन्ति ततः सदोषमेतत् इत्थं न कार्यम् । श्चोतन्मदः करी गजो वर्षन्वारिद इव वर्तत इत्यत्र विद्युत्वानिति विशेषणमुपमेये करिणि न लगति, किं तु वारिदे उपमानरूपे लगतीत्यतः सदोषमेवमपि न कार्यम् ॥

क्वापि लिङ्गभेदं च मेनिरे कवय इत्याह—

मुखं चन्द्रमिवालोक्य देवाह्लादकरं तव ।
कुमुदन्ति मुदाक्षीणि क्षीणमिथ्यात्वसंपदाम् ॥ ६२ ॥

हे देव जिन, क्षीणमिथ्यात्वसंपदामक्षीणि मुदा तव मुखं चन्द्रमिवाह्लादकरमालोक्य कुमुदन्तीत्येवं निन्दापि ॥

अथ समासमध्यस्थोपमेयोपमालिङ्गभेदमाह—

निजजीवितेशकरजाग्रकृतक्षतपङ्क्तयः शुशुभिरे सुरते ।
कुपितस्मरप्रहितबाणगणव्रणजर्जरा इव सरोजदृशः ॥ ६३ ॥

सरोजदृशः स्त्रियः सुरते निजजीवितेशकरजाग्रकृतक्षतपङ्क्तयः कुपितस्मरप्रहितबाणगणव्रणजर्जरा इव शुशुभिरे । सरोजदृश इत्यत्र सरोजशब्दो नपुंसको दृश इति स्त्रीलिङ्ग एवं न दोषाय ॥

अथ रूपके लिङ्गभेदं दर्शयति—

हस्ताग्रविन्यस्तकपोलदेशा मिथो मिलत्कङ्कणकुण्डलश्रीः ।
सिषेच नेत्रस्रवदश्रुवारा दोःकन्दलीं काचिदवश्यनाथा ॥ ६४ ॥

काचिदवश्यनाथा नायिका दोःकन्दलीं भुजादण्डलतां नेत्रस्रवदश्रुवारा लोचननिर्गच्छदश्रुजलेन सिषेच । कीदृशी । हस्ताग्रे विन्यस्तः कपोलदेशो यया सा । तथा—मिथो मिलन्ती कङ्कणकुण्डलयोः श्रीर्यस्याः सा । रूपकेऽत्र लिङ्गभेदो दोःकन्दलीमिति दोरिति पुल्लिङ्गशब्दः कन्दलीशब्दः स्त्रीलिङ्गोऽवगन्तव्यः । रूपलक्षणान्यग्रतः ॥

अथ प्रतिवस्तूपमायां वक्ष्यमाणायां लिङ्गभेदं दर्शयति—

बहुवीरेऽप्यसावेको यदुवंशेऽद्भुतोऽभवत् ।
किं केतक्यां दलानि स्युः सुरभीण्यखिलान्यपि ॥ ६५ ॥

बहुवीरेऽपि यदुवंशेऽसावेको नेमीश्वरोऽद्भुतोऽभवत् । केतक्यां निखिलान्यपि दलानि किं सुरभीणि भवन्ति । अत्र केतक्यामिति लिङ्गभेदः । समाप्त उपमालंकारः ॥

अथ रूपकालंकार उच्यते—

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत् ।
समस्तं वासमस्तं वा खण्डं वाखण्डमेव वा ॥ ६६ ॥

यत्र द्वयोरर्थयोः साधर्म्यात्सादृश्यादभिदा अभेदो भवति तद्रूपकालंकारो भवति । तद्रूपकं चतुर्धा—समस्तं समस्यन्तं(मानम्) असमस्तमसमस्यन्तं(मानम्) खण्डं वा। यद्रूपकं विशेषणेषु खण्डे जायते, तत्खण्डमेव । अखण्डमेव वस्तु रूपके अवतार्यते तदखण्डम् ॥

अथ यथाक्रममुदाहरणानि ज्ञेयानि । समस्यन्तं(मानं) रूपकमाह—

कीर्णान्धकारालकशालमाना निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।
निशापिशाची व्यचरद्दधाना महन्त्युलूकध्वनिफेत्कृतानि ॥ ६७ ॥

निशापिशाची निशैव पिशाची निशापिशाची महान्ति उलूकध्वनिफेत्कृतानि दधाना कुतोऽपि व्यचरत् वितस्तार । उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि उलूकध्वनिफेत्कृतानि । कीदृशी सा । कीर्णं विक्षिप्तमन्धकारं तदेवालकाः कुटिलकेशास्तैः शालमाना शोभमाना । तथा—निबद्धास्तारा एवास्थिमणयो यया सा तथा । अत्र निशापिशाची उलूकध्वनय एव फेत्कृतानि कीर्णान्धकारमेवालकास्तारा एवास्थिमणय इत्यर्थयोर्द्वयोरभेदाद्रूपकं समासकरणात्समस्यन्त(मान)म् । तथा—निशा पिशाचीव उलूकध्वनयः फेत्कृतानीवेत्यादीवशब्देनापि सादृश्यमेव ॥

असमस्तं पृथग्विभक्त्या ज्ञेयम् । यथा—

संसार एष कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि ।
इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ॥ ६८ ॥

एष संसारः कूपः । विपत्तिजन्मदुःखानि सलिलानि । धर्म एव रज्जुस्तस्मात्संसारकूपान्निर्मग्नान्प्राणिन उद्धरति । अत्र पृथक् पृथक् विभक्तिभावादसमस्तो रूपकालंकारः ॥

एतत्समस्तासमस्तमुभयमपि द्विधा खण्डमखण्डं च । तदेवाह—

अधरं मुखेन नयनेन रुचिं सुरभित्वमाब्जमिव नासिकया ।
नववर्णिनीवदनचन्द्रमसस्तरुणा रसेन युगपन्निपपुः ॥ ६९ ॥

तरुणा नववर्णिनीवदनचन्द्रमसो नवरमणीमुखचन्द्रस्य रसेन युगपन्मुखेनाधरं निपपुः। नयनेन रुचिं निपपुः । नासिकया सुरभित्वं निपपुः । उत्प्रेक्षते—आब्जमिव । यथा नासिकया आब्जं सुरभित्वं निपीयत इत्यर्थः । अत्र वदनचन्द्रमसौ मुखेनाधरं नयनेन रुचिमित्यादिखण्डकरणात्खण्डरूपकमिदम् । आब्जमिवेति । पद्मिनी स्त्री कमलगन्धा भवत्येव ॥

अखण्डमाह—

ज्योत्स्नया धवलीकुर्वन्नुर्वीं सकुलपर्वताम् ।
निशाविलासकमलमुदेति स्म निशाकरः ॥ ७० ॥

निशाकर उदेति स्म । कीदृशः । ज्योत्स्नया सकुलपर्वतां कुलाचलसहितामुर्वीं पृथ्वीं धवलीकुर्वन् । तथा—निशाया विलासकमलम् । अखण्ड एव चन्द्रो निशाया विलासकमलं स्यादतोऽखण्डं रूपकमेतत् । समाप्ता रूपकालंकाराः ॥

अथ प्रतिवस्तूपमालंकारमाह—

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ ७१ ॥

इवादीनां शब्दानामनुपात्तौ अकथने यत्र वस्तुनः प्रतिवस्तुना साम्यं समता प्रतीयते सा प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया ॥

बहुवीरेऽप्यसावेको यदुवंशेऽद्भुतोऽभवत् ॥ ७२ ॥

यथा बहुवीरेत्यत्र स्वयमेवावतार्यम् । उक्तः प्रतिवस्तूपमालंकारः ॥

अथ भ्रान्तिमन्तमलंकारमाह—

वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।
निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ॥ ७३ ॥

यत्र तुल्यस्यान्यवस्तुनोऽन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि निश्चयो जायते निश्चयः संभवति स भ्रान्तिमानलंकारः कथितोऽलंकारवेदिभिः ॥

उदाहरणमाह—

हेमकमलं ति वअणे णअणे णीलुप्पलं ति पसयच्छि ।
कुसुमं ति तुज्झ हसिए णिवडइ भमराणं रिञ्छोली ॥ ७४ ॥

[हेमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि।
कुसुममिति तव हसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणिः॥]

हे प्रसृताक्षि, भ्रमराणां श्रेणिस्तव वदने इदं हेमकमलमिति भ्रान्त्या निपतति। तव नयने इदं नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या निपतति। तव हसिते इदं कुसुममिति भ्रान्त्या निपतति। अत्र भ्रान्तिमदलंकारे अन्त्यक्रियादीपकं ज्ञेयम्। उक्तो भ्रान्तिमदलंकारः॥

अथाक्षेपालंकारस्यावसरस्ततस्तस्य लक्षणमाह—

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते।
आचक्षते तमाक्षेपालंकारं विबुधा यथा॥ ७५॥

यत्रोक्तिरथवा प्रतीतिः प्रतिषेधस्य जायते। विबुधास्तमाक्षेपालंकारमाचक्षते वदन्ति। यथेत्युदाहरणे॥

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्द्विपेन्द्रः।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः
स्वर्गोऽप्ययं ननु मुधा यदि तत्पुरी सा॥ ७६॥

यदि स कर्णनरेन्द्रसूनुर्जयसिंहदेवो राजाभूत्तदा इन्द्रेण किम्। यदि तस्य द्विपेन्द्रः पट्टगजेन्द्रो दृश्यते तदा ऐरावणेन किम्। यदि तस्य प्रतापोऽलमत्यर्थं तपति दम्भोलिना वज्रेणालं पूर्यताम्। यदि सा तत्पुरी लेभे तदा स्वर्गोऽप्ययं मुधा। एतदुदाहरणमुक्तिविषयम्। उक्तिः साक्षादर्थप्रकाशनम्। अत्र यदि कर्णनरेन्द्रसूनुस्तदेन्द्रेण किमित्यादि साक्षादर्थप्रकाशनं सर्वमप्यस्ति। प्रतीतावाद्योदाहरणं द्विधा—विधिपूर्वको निषेधो निषेधपूर्वो विधिश्च। प्राग्विधिपूर्वनिषेधे उदाहरणं यथा—

यस्यास्ति नरकक्रोडनिवासे रसिकं मनः।
सोऽस्तु हिंसानृतस्तेयतत्परः सुतरां जनः॥ ७७॥

यस्य जनस्य मनो नरकक्रोडनिवासे रसिकं भवति। 'क्रोड उत्सङ्ग उच्यते'। स जनः सुतरामत्यर्थं हिंसानृतस्तेयतत्परोऽस्तु भवतात्। अत्र तावत्प्रतीतिः कथम्। अत्र यो नरके गन्ता स हिंसादिकं करोत्विति विधिमालोक्यैतावता हिंसादि केनापि न कर्तव्यमिति प्रतीयमानो निषेधोऽस्ति, परं साक्षात्पाश्चात्यवन्न दृश्यमानोऽस्त्यर्थोऽत एषा विधिपूर्वकनिषेधात्मिका प्रतीतिरवगन्तव्या॥

अथ निषेधपूर्वकविधौ प्रतीतिरुच्यते—

इच्छन्ति जे ण कित्तिं कुणन्ति करुणं खणं पि जे णेव्व।
ते धणजक्ख व्व णरा दिन्ति धणं मरणसमए वि॥ ७८॥

[इच्छन्ति ये न कीर्तिं कुर्वन्ति करुणां क्षणमपि ये नैव।
ते धनयक्षा इव नरा ददति धनं मरणसमयेऽपि॥]

ये कीर्तिं नेच्छन्ति । ये च क्षणमपि करुणां नैव कुर्वन्ति । ते किं मरणसमयेऽपि धनयक्षा इव धनं ददतीत्यर्थः । एतावता कीर्तिमभिलषद्भिः करुणां च कुर्वद्भिर्धनमवसरे देयमित्यर्थः । अत्र निषेधपूर्वको विधिरवगन्तव्यः । देयमिति प्रतीयमानोऽर्थश्चातोऽत्रापि प्रतीतिर्घटते । एषा अवचूरिः स्वमत्या कल्पितास्ति । वृत्तौ तु न किमपि विद्यते तथा ॥

संशयालंकारमाह—

इदमेतदिदं वेति साम्याद्बुद्धिर्हि संशयः ।
हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ॥ ७९ ॥

साम्यात्समानभवात् । एतदिदं वेत्येवं बुद्धिर्हि निश्चितं संशयालंकार उच्यते । यदा तु संशयं मुक्त्वा एभिर्निश्चयो जातः सोऽपि निश्चयान्तः संशयालंकार उच्यते । संशयनिश्चयालंकार इत्यर्थः ॥

उदाहरणमाह—

किं केशपाशः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः किं वा प्रतापानलधूम एषः ।
दृष्ट्वा भवत्पाणिगतं कृपाणमेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ८० ॥

हे जयसिंहदेव राजन्, भवत्पाणिगतं कृपाणं दृष्ट्वा कवीनां मतय एवं स्फुरन्ति । एवं संशयं विदधतीत्यर्थः । किमेष प्रतिपक्षलक्ष्म्याः केशपाशो न तु खड्गः । अथवा किमेष प्रतापानलधूमः । केशपाशोऽपि कृष्णः धूमोऽपि कृष्णः खड्गोऽपि कृष्णः । अतः संशयालंकारः ॥

संशयनिश्चयालंकारोदाहरणमाह—

इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमक्ष्णां
लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ।
आः स्यन्दनध्वजधृतोद्धुरताम्रचूडः
श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ॥ ८१ ॥

स एष यदि इन्द्र इति संशयः । तर्हि अक्ष्णां नेत्राणां सहस्रं नास्ति तदा न भवतीन्द्र इति निश्चयः । यदि लक्ष्मीपतिस्तदा कथं नासौ चतुर्भुजः । आः ज्ञातम्—अयं रणाग्रे कर्णदेवनृपसूनुर्जयसिंहदेवः । कीदृशः । स्यन्दनस्य रथस्य ध्वजे धृत उद्धुर उत्कटस्ताम्रचूडः कुकुटो येन स तथा ॥ समाप्तः संशयालंकारः संशयनिश्चयालंकारश्च ॥

अथ दृष्टान्तालंकारमाह—

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः ।
दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलंकारं मनीषिणः ॥ ८२ ॥

यत्र क्रियया स्वतदर्थयोः स्वार्थतदर्थयोरन्वयख्यापनं क्रियते । अन्वयः परस्परं योग्यगुणसंबन्धस्तस्य ख्यापनं कथनं विधीयते तं दृष्टान्तमलंकारमिति मनीषिणो बुधाः प्राहुः ॥

उदाहरणमाह—

पतितानां संसर्गं त्यजन्ति दूरेण निर्मला गुणिनः ।
इति कथयन्निव जरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम् ॥ ८३ ॥

हारो गुणी निर्मलश्च जरतीनां वृद्धस्त्रीणां कुचयुगलमिति कथयन्परिहरति । निर्मला गुणिनः पतितानां संसर्गं दूरेण त्यजन्ति । यथा ये ये गुणिनो निर्मलाश्च ते ते पतितसंसर्गं त्यजन्ति तथा हार इत्येषोऽन्वयव्याप्त्या दृष्टान्तः । अन्वयख्यापनं च सादृश्यमिति च परं कयोः स्वार्थतदर्थयोरित्यर्थः ॥

व्यतिरेकमाह—

केनचिद्यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।
भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ८४ ॥

अत्र द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः संसिद्धं साम्यं समानता ययोस्तौ तयोः संसिद्धसाम्ययोः केनचिद्धर्मेण केनचिद्गुणेनैकतराधिक्यं एकतरस्याधिकता भवति स व्यतिरेकालंकारः ॥

उदाहरणमाह—

अस्त्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेव-
पृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च समानभावः ।
किं त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय
सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः ॥ ८५ ॥

जयसिंहदेवपृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च पौरुषगुणात्समानभावोऽस्त्वस्तु । एकतो जयसिंहदेवात्समरं त्यक्त्वा प्रतिभटा वैरिणः सद्यो वनं विशन्ति । अन्यं सिंहमशङ्कमानाः । एतावता सिंहभयादपि राज्ञो भीरधिका तत एकतराधिक्यम् ॥

अपह्नुतिमाह—

नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपह्नवपूर्वकम् ।
उच्यते यत्र सादृश्यादपह्नुतिरियं यथा ॥ ८६ ॥

यत्र सादृश्यात्समानभावान्नैतद्धि निश्चितमिदमेतदिति अपह्नवपूर्वकमपलपनपूर्वकमुच्यते । इयमपह्नुतिरवगन्तव्या ॥

उदाहरणमाह—

नैतन्निशायां शितसूच्यभेद्यमन्धीकृतालोकनमन्धकारम् ।
निशागमप्रस्थितपञ्चबाणसेनासमुत्थापित एष रेणुः ॥ ८७ ॥

अत्रान्धकारस्यापह्नवं विधाय रेणुस्थापना एषा अपह्नुतिः ॥

तुल्ययोगितालंकारमाह—

उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन योज्यते।
तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता॥ ८८॥

यत्र तुल्यैककालक्रिययोपमानेन सहोपमेयं समीकर्तुं योज्यते सा तुल्ययोगिता भवति। तुल्या समाना एककालिकी क्रिया तुल्यैककालक्रिया तया करणभूतया॥

उदाहरणमाह—

तमसा लुप्यमानानां लोकेऽस्मिन्साधुवर्त्मनाम्।
प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तव च दृश्यते॥ ८९॥

हे जिन, तमसा पापेन पक्षेऽन्धकारेण लुप्यमानानां साधुवर्त्मनां प्रकाशनाय प्रभुता तवास्ति। अथवा भानोरस्ति। अत्रोपमेयं जिनः। उपमानं भानुः। उपमेयमुपमानेन समीकृतं दृश्यते। क्रिया द्वयोरपि तुल्या एककालिकी च। अत्र कर्मण्युक्ते वर्तमान-कालोऽस्ति॥

उत्प्रेक्षालंकारमाह—

कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोऽन्यथा।
द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा॥ ९०॥

यत्र सतो विद्यमानस्यार्थस्यौचित्याद्योग्यत्वादन्या काचिदिवादिभिः शब्दैर्द्योतिता कल्पना रचिता सा उत्प्रेक्षा स्मृता॥

यथेत्युदाहरणमाह—

नभस्तले किंचिदिव प्रविष्टाश्चकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहाः।
जगद्गलित्वा हसतः प्रमोदाद्दन्ता इव ध्वान्तनिशाचरस्य॥ ९१॥

चन्द्ररुचिप्ररोहाश्चन्द्रकिरणाङ्कुराः। नभस्तले किंचिदिवाल्पमात्रं यथा भवति प्रविष्टा रेजिरे नवोदयत्वात्। उत्प्रेक्षते—प्रमोदाज्जगद्गलित्वा हसतो हास्यं कुर्वतो ध्वान्तनि-शाचरस्यान्धकाररक्षसो दन्ता इव। इवादिभिः शब्दैरत्रादिशब्दाद्यथा शङ्के ध्रुवं मन्ये नूनं प्राय इत्यादयो ग्राह्याः। यथा—'जाने शङ्के ध्रुवं मन्ये यथा खलु वतैव वा। नन्वि-वापीति तु प्राज्ञा उत्प्रेक्षारूपकं विदुः॥'

अर्थान्तरन्यासालंकारमाह—

उक्तसिद्ध्यर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः।
कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा॥ ९२॥

यत्र उक्तसिद्ध्यर्थं व्याप्तिपुरःसरोऽन्यार्थन्यासो विधीयते सोऽर्थान्तरन्यासः कथ्यते। स द्विधा—श्लिष्टश्चाश्लिष्टः। श्लेषसहितः श्लेषरहितः॥

शोणत्वमक्ष्णामसिताब्जभासां गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः ।
बभूव पानान्मधुनो वधूनामचिन्तनीयो हि सुरानुभावः ॥ ९३ ॥

वधूनां मधुनो मद्यस्य पानादसिताब्जभासां नीलोत्पलभासामक्ष्णां नेत्राणां शोणत्वं रक्तता बभूव । तु पुनर्गिरां प्रचारो परप्रकारो बभूव । विपरीतो जात इत्यर्थः । अत्र मद्यपानान्नेत्राणां रक्तत्वमुक्तं तस्योक्तस्य सिद्ध्यर्थं स्थापनार्थं पुनरर्थान्तरन्यासः । सुरानुभावो हि निश्चितमचिन्तनीयः । सुरा देवा मदिरा वा । तथा केनापि पृष्टं मद्यपानान्नेत्ररक्तत्वं किं जायेत । तथा अचिन्तनीयो हि सुरानुभाव इत्यर्थान्तरन्यासेन रक्तत्वसिद्धिः । एष श्लिष्टार्थान्तरन्यासालंकारः ॥

अश्लिष्टमाह—

शुण्डादण्डैः कम्पिताः कुञ्जराणां पुष्पोत्सर्गं पादपाश्चारु चक्रुः ।
स्तब्धाकाराः किं प्रयच्छन्ति किंचित्कान्ता यावन्नोद्धतैर्वीतशङ्कम् ॥ ९४ ॥

पादपा वृक्षाः कुञ्जराणां शुण्डादण्डैः कम्पिताः सन्तश्चारु पुष्पोत्सर्गं चक्रुः । स्तब्धाकारा उद्धतैर्नरैर्वीतशङ्कं निःशङ्कं यथा भवति यावन्न कान्तास्तावत्किंचित्प्रयच्छन्ति किम् । अत्र प्राक्तनपदद्वयोक्तस्याग्रेतनपदद्वयेनान्यार्थन्यासरूपेण सिद्धिः कथिता ॥

समासोक्तिमाह—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजनने क्षमम् ।
सधर्म यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरियं यथा ॥ ९५ ॥

वक्तुमिष्टस्य भणितुमारब्धस्यार्थस्य प्रतीतिजनने क्षमं प्रतीतेरुत्पादसमर्थं सधर्म सदृशमन्यद्वस्तु यत्रोच्यते, इयं समासोक्तिर्भवति ॥

उदाहरणमाह—

मधुकर मा कुरु शोकं विचर करीरद्रुमस्य कुसुमेषु ।
घनतुहिनपातदलिता कथं नु सा मालती मिलति ॥ ९६ ॥

हे मधुकर, शोकं मा कुरु । करीरद्रुमस्य कुसुमेषु विचर इति वक्तुमिष्टोऽर्थः । अस्य प्रतीतिजनने क्षमं सदृशमन्यद्वस्तु इदं नु वितर्के कथं सा मालती मिलति । एतावता मालती नास्ति करीरकुसुमेषु शोकाभावेन हे भ्रमर विचर । अत्र द्वयोरपि सादृश्यं पुष्पत्वात् । विभेदत्वादन्यत्वम् । कीदृशी मालती । घनतुहिनपातेन दलिता ज्वलिता । यदि सा मालती घनतुहिनपातदलिता जाता तदा किं मिलति ॥

विभावनालक्षणमाह—

विना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना ॥ ९७ ॥

यत्र कारणसद्भावं विना नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्कार्यस्य दर्शनं दृश्यते सा विभावना मता ॥

उदाहरणम्—

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः ।
अनलंकारसुभगाः पान्तु युष्माञ्जिनेश्वराः ॥ ९८ ॥

अत्र विद्वत्ता कार्यं कारणं त्वध्ययनम् । कार्यं कारणं विनापि सहजगुणेनैव जातम् । एवं पादद्वयेऽपि भावनीयम् । उक्तो विभावनालंकारः ॥

दीपकलक्षणमाह—

आदिमध्यान्तवर्त्यैकपदार्थेनार्थसंगतिः ।
वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥ ९९ ॥

यत्रादिमध्यान्तवर्त्यैकपदार्थेन क्रियारूपेण वा वाक्यार्थसंगतिर्जायेत तद्दीपकमुक्तम् ॥

उदाहरणान्याह—

जगुस्तव दिवि स्वामिन्गन्धर्वाः पावनं यशः ।
किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ॥ १०० ॥

हे स्वामिन्, दिव्याकाशे गन्धर्वास्तव पावनं यशो जगुः । किन्नराः कुलाचलकन्दरेषु जगुः । मुदा हर्षेण मुहुर्वारंवारम् । अत्राप्येकपदार्थेन जगुरितिरूपेण वाक्यार्थसंगतिर्जाता॥

एवं मध्यान्तयोरपि । सर्वत्र यथा—

विराजन्ति तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।
विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥ १०१ ॥

अत्र पृथक् पृथक् क्रियातिरेक एव पदार्थ एक एवार्थो नार्थभेदः । निशीत्येतत्कारकं दीपकम् ॥

अतिशयालंकारमाह—

वस्तुनो वक्तुमुत्कर्षमसंभाव्यं यदुच्यते ।
वदन्त्यतिशयाख्यं तमलंकारं बुधा यथा ॥ १०२ ॥

यद्वस्तुन उत्कर्षं वक्तुमसंभाव्यमुच्यते सोऽतिशयालंकारः ।

उदाहरति—

त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेन
संमूर्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश ।
अन्तर्लुठद्गिरिपरस्परशृङ्गसङ्ग-
घोरारवैर्मुररिपोरपयाति निद्रा ॥ १०३ ॥

हे क्षितीश, त्वद्वारितारितरुणीश्वसितानिलेन श्वासवायुना महोदधिषु समुद्रेषु संमूर्छितोर्मिषूत्पन्नकल्लोलेषु सत्सु अन्तर्मध्ये लुठन्तो घोलन्तो वलन्तो गिरयस्तेषां परस्परं शृङ्गसङ्गस्तस्य घोरैरारवैर्मुरारेर्निद्रा अपयाति । अत्र रिपुस्त्रीणां श्वासानिलस्यातिशयवर्णनादतिशयालंकारः ॥

यदियोगेऽतिशयालंकारमाह—

एकदण्डानि सप्त स्युर्यदि च्छत्राणि पर्वते ।
तदोपमीयते पार्श्वमूर्ध्नि सप्तफणः फणी ॥ १०४ ॥

यदि पर्वते पर्वतशिरसि एकदण्डानि सप्त च्छत्राणि भवन्ति । तदा सप्तफणः फणी पार्श्वमूर्ध्नि उपमीयते । अत्र फणिनोऽतिशय उक्तः । एको दण्डो येषु तान्येकदण्डानि ॥

हेत्वलंकारमाह—

यत्रोत्पादयतः किंचिदर्थं कर्तुः प्रकाश्यते ।
तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥ १०५ ॥

कर्तुः पुरुषस्य किंचिदर्थमुत्पादयतो यत्र तद्योग्यतायुक्तिस्तस्यार्थस्य योग्यतायुक्तिः प्रकाश्यते स हेतुरलंकारः ॥

उदाहरति—

जुव्वणसमउम्मत्तो तत्ता विरहेण कुणइ णाहस्स ।
कण्ठब्भन्तरघोलिरमहुरसरं वालिआ गीअम् ॥ १०६ ॥

[यौवनसमयोन्मत्ता तप्ता विरहेण करोति नाथस्य ।
कण्ठाभ्यन्तरघोलितमधुरस्वरं बालिका गीतम् ॥]

बालिका यौवनसमयोन्मत्ता सती नाथस्य भर्तुर्विरहेण तप्ता सती कण्ठाभ्यन्तरघोलन्मधुरस्वरं गीतं करोति । कण्ठाभ्यन्तर एव घोलते गीतं लज्जया बहिर्न प्रकटतीत्यर्थः । अत्र कर्तुः कंचिदर्थमुत्पादयत इति कर्तृरूपाया बालिकाया गीतमिति उत्पादितोऽर्थस्तस्य योग्यता युक्तिः । नाथस्य विरहः । यौवनसमयोन्मत्ता च गीतस्य हेतुः कारणमेतदिति गाथार्थः ॥

विससोअरो मिअङ्को कअन्तआसाइ आगओ पवणो ।
जाइपलासो सिहरी पहिए मारन्ति ते दाणिम् ॥ १०७ ॥

[विषसोदरो मृगाङ्कः कृतान्तदिशात आगतः पवनः ।
जातिपलाशः शिखरी पथिकान्मारयन्त्येत इदानीम् ॥]

मृगाङ्को विषसोदरः । चन्द्रविषयोरेकत्रोत्पन्नत्वात् । कृतान्तदिश आगतः पवनः । शिखरी वृक्षो जातिपलाशः, एते त्रयोऽपि पथिकानिदानीं मारयन्ति । अत्र मरणस्य हेतुरमी । एको विषसोदरः, अन्यो यमाशानिवासी । अपरस्तु पलाशः पक्षे वृक्षः ॥

पर्यायोक्तिलक्षणमाह—

अतत्परतया यत्र जल्प(ल्प्य)मानेन वस्तुना ।
विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा ॥ १०८ ॥

पर्यायेणान्यवचनेन वचनमुक्तिः पर्यायोक्तिः । यत्र विवक्षितं वक्तुमिष्टं अतत्परतया न विवक्षितपरतया जल्प(ल्प्य)मानेन वस्तुनार्थेन प्रतीयेत इयं पर्यायोक्तिः ॥

पर्यायोक्तिमुदाहरति—

त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य महाहवेषु
द्वेषः प्रभो रिपुपुरन्ध्रिजनस्य चासीत् ।
एकः खुरैर्बहुलरेणुततिं चकार
तां संजहार पुनरश्रुजलैर्यदन्यः ॥ १०९ ॥

हे प्रभो, रणेषु त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य रिपुपुरन्ध्रिजनस्य च द्वेष आसीत् । एको वाहसमूहः खुरैर्बहुलरेणुततिं चकार । अन्यो योषाजनो यत्पुनरश्रुजलैस्तां रेणुततिं संजहार । अत्र विवक्षितोऽर्थो द्वेषः । अस्य जल्प(ल्प्य)मानेनार्थेन रेणुना अश्रुजलेन च प्रतीतिर्न विवक्षितपरतया यतो भवता रिपवो मारिता इत्येतद्येन प्रतीयेत सा अतत्परा ॥

समाहितं लक्षयति—

कारणान्तरसंपत्तिर्दैवादारम्भ एव हि ।
यत्र कार्यस्य जायेत तज्जायेत समाहितम् ॥ ११० ॥

यत्र कार्यस्यारम्भे एव दैवात्कारणान्तरसंपत्तिर्जायेत तत्समाहितं जायेत ॥

उदाहरति—

मनस्विनी वल्लभवेश्म गन्तुमुत्कण्ठिता यावदभून्निशायाम् ।
तावन्नवाम्भोधरधीरनादप्रबोधितः सौधशिखी चुकूज ॥ १११ ॥

यावन्मनस्विनी निशायां वल्लभवेश्म गन्तुमुत्कण्ठिताभूत् । तावन्नवाम्भोधरधीरनादप्रबोधितः सौधशिखी गृहक्रीडामयूरश्चुकूज केकां चकार । कान्तगृहे गमनकार्यारम्भः पुनस्तत्प्रेरकः शिखिशब्दः कारणान्तरसंपत्तिः ॥

परिवृत्तिं लक्षयति—

परिवर्तनमर्थेन सदृशासदृशेन वा ।
जायतेऽर्थस्य यत्रासौ परिवृत्तिर्मता यथा ॥ ११२ ॥

यत्रार्थस्य सदृशेनासदृशेन वा अर्थेन परिवर्तनं परिवर्तो जायते असौ परिवृत्तिर्मता । यथेत्युदाहरणे ॥

अन्तर्गतव्यालफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूषु भर्तः ।
स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते त्वदरातिवर्गः ॥ ११३ ॥

हे भर्तः, त्वदरातिवर्गस्तव वैरिसमूहः स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि मुक्त्वा गुहासु शेते । कीदृशीषु गुहासु । अन्तर्गतव्यालफणामणीनां मध्यस्थसर्पफणामणीनां प्रभाभिरुद्भासितभूमिषु दीप्तभूमिषु ॥

अत्रासदृशार्थेनार्थस्य परावर्तमाह—

दत्त्वा प्रहारं रिपुपार्थिवानां जग्राह यः संयति जीवितव्यम् ।
शृङ्गारभङ्गीं च तदङ्गनानामादाय दुःखानि ददौ सदैव ॥ ११४ ॥

प्रहारं दत्त्वा जीवितव्यं जग्राह । अत्र दत्तः प्रहारः, गृहीतं च जीवितव्यम्, गृहीता शृङ्गारभङ्गी, दत्तं च तासां दुःखम्, इत्यसदृशेनार्थेनार्थस्य परावर्तो जनितः ॥

यथासंख्यं लक्षयति—

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थाः संबन्धिनः पुनः ।
क्रमेण तेन बध्यन्ते तद्यथासंख्यमुच्यते ॥ ११५ ॥

यत्रोक्तानां पदार्थानां संबन्धिनोऽर्थाः पुनस्तेन क्रमेण बध्यन्ते योज्यन्ते तद् यथासंख्यमुच्यते ॥

उदाहरति—

मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या
चरणकमलभासा चारुणा चाननेन ।
बिसकिसलयपद्मान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये
विरहविपदि वैरात्तन्वते तापमङ्गे ॥ ११६ ॥

अहमेवं मन्ये—मृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या रक्तत्वं बिभ्रत्या चरणकमलभासा चारुणा चाननेन यथाक्रमं बिसकिसलयपद्मानि आत्तलक्ष्मीणि कृतानि । अत एव तानि वैरादङ्गे तापं विरहविपदि तन्वते । विरहिणीवर्णनमेतत् । एष यथासंख्यालंकारः ॥

सहोक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो यत्र संबन्धमनौचित्येन केनचित् ।
असंभाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा ॥ ११७ ॥

यत्र केनचिदनौचित्येनानवसरतया वस्तुनः पदार्थस्य संबन्धमसंभाव्यं वक्ता वदेत्, कवयस्तं विषमालंकारमाहुः । यथोदाहरणार्थः ॥

क्वेदं तव वपुर्वत्से कदलीगर्भकोमलम् ।
क्वायं राजीमति क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः ॥ ११८ ॥

हे वत्से, राजीमति कदलीगर्भकोमलं तव वपुः क्वायं च क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः ।

अत्र सुकोमलस्य तव वपुषो दीक्षानुचिता। दीक्षा संबन्धः। तथासंभाव्यं कथं वदसि ग्रहीष्यामि दीक्षामिति। विषमालंकारोऽयम्॥

सहोक्तिं लक्षयति—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह।
समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम्॥ ११९॥

यत्र हेतोः कारणस्य तज्जन्मशक्ततां कार्योत्पत्तिशक्ततां वक्तुं कार्यकारणयोः सह समुत्पत्तिकथा समकालमुत्पादनवार्ता भवति सा सहोक्तिर्भवेत्॥

उदाहरति—

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्धं मदेन संग्रामे।
सह विद्विषां श्रियासौ कोदण्डं कर्षति श्रीमान्॥ १२०॥

असौ श्रीमान्वीरः कोदण्डं धनुर्विद्विषां मदेन सह नमयति। विद्विषां श्रिया लक्ष्म्या शोभया वा सह कोदण्डं कर्षति। अत्र यश आदत्त इति कार्यम्। कोदण्डग्रहणं तु यशोग्रहणकारणम्। कारणस्य कोदण्डस्य तज्जन्मनि कार्योत्पत्तौ यशोग्रहणरूपायां शक्तिर्नास्ति। एवं सर्वत्र योजना स्वमत्या कर्तव्येति॥

अथ विरोधलक्षणमाह—

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः।
शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा॥ १२१॥

यत्र वाक्ये आपाते आरम्भे शब्दार्थकृतं विरुद्धत्वं आभाति परं तत्त्वतो नाभाति स विरोधः स्मृतः॥

उदाहरणमाह—

दुर्वारबाणनिर्वहेन[1] सुवर्मणापि
　लोकोत्तरान्वयभुवापि च धीवरेण।
प्रत्यर्थिषु प्रतिरणं स्खलितेषु तेन
　संज्ञामवाप्य युयुधे पुनरेव जिष्णुः॥ १२२॥

कोऽपि जिष्णुर्जयनशीलस्तेन केनचित्पुरुषेण प्रत्यर्थिषु वैरिषु प्रतिरणं स्खलितेषु रणं रणं प्रति स्खलितेषु संज्ञामवाप्य पुनरेव युयुधे युद्धं चकार। कीदृशेन तेन। सुवर्मणापि दुर्वारवाणनिवहेन। वारवाणः कवच उच्यते। वर्मापि कवच एव। सुष्ठु वर्म यस्य स सुवर्मा। दुष्टो वारवाणनिवहः कवचसमूहो यस्य स दुर्वारवाणनिवहः। यः सुवर्मा स दुर्वारवाणनिवहः कथं भवति इति विरोधं दर्शयित्वा न तत्त्वत इत्याह—दुर्वारवाणनिव-

---

१. 'विभवेन' इति जिनवर्धनसंमतः पाठः.

हेन दुर्वारो वाणनिवहो यस्य स तेन। एतेन तत्र .... । लोकोत्तरान्वय-भुवापि धीवरेण। यो लोकोत्तरान्वयभूः स कथं धीवरः। धीवरो मतिप्रधान इत्यर्थः। एष शब्दकृतोऽपि विरोधालंकारः॥

अथार्थकृतं विरोधमाह—

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूभृच्छिरांसि विनतानि।
क्षिप्ता युधि शरपङ्क्तिः कीर्तिर्याता दिगन्तेषु॥ १२३॥

येन राज्ञा आक्रान्तं सिंहासनम्। विनतान्यरिभूपालशिरांसि। अहो विरोधः आक्रान्तमन्यत् विनतमन्यत्। तथा—क्षिप्ता युधि शरपङ्क्तिः, दिगन्तेषु कीर्तिर्याता॥

समाप्तो द्विधापि विरोधालंकारः।

अथावसरलक्षणमाह—

यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं संभवत्युपलक्षणम्।
प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा॥ १२४॥

यत्र प्रस्तुतार्थस्योत्कृष्टमर्थान्तरमुपलक्षणं चिह्नं संभवति बुधैः सोऽवसरालंकारः प्रोक्तः॥

अथावसरोदाहरणमाह—

स एष निश्चयानन्दः स्वच्छन्दतमविक्रमः।
येन नक्तंचरः सोऽपि युद्धे बर्बरको जितः॥ १२५॥

स एष निश्चयानन्दो येन सोऽपि बर्बरको राक्षसो युद्धे जितः॥

अथ सारलक्षणमाह—

यत्र निर्धारितात्सारात्सारं सारं ततस्ततः।
निर्धार्यते यथाशक्ति तत्सारमिति कथ्यते॥ १२६॥

यत्र निर्धारितात्साराात्ततस्ततः सारं सारं निर्धार्यते। यथाशक्ति यथाशक्त्या(?) स सारालंकारः॥

सारमुदाहरति—

संसारे मानुष्यं सारं मानुष्यके च कौलीन्यम्।
कौलीन्ये धर्मित्वं धर्मित्वे चापि सदयत्वम्॥ १२७॥

अथ श्लेषलक्षणमाह—

पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्त्येकमेव हि।
अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा॥ १२८॥

यत्रैकमेव वाक्यं तैरेव पदैर्भिन्नैर्वा पदैरनेकमर्थं वक्ति असौ श्लेषालंकार उच्यते॥

आनन्दमुल्लासयतः समन्तात्करैरसंतापकरैः प्रजानाम्।
यस्योदये क्षोभमवाप्य राज्ञो जग्राह वेलां किल सिन्धुनाथः॥ १२९॥

यस्य राज्ञो नृपस्योदये क्षोभमवाप्य किलेति श्रूयते। सिन्धुनाथः सिन्धुदेशाधिपो वेलामङ्गुलिच्छेदादिकां जग्राह। तदाज्ञां गृहीतवानित्यर्थः। कीदृशस्य। असंतापकरैः करैः प्रजानां समन्तादानन्दमुल्लासयतो वर्धयतः। अथ श्लेषः—यस्य राज्ञश्चन्द्रस्योदये क्षोभमवाप्य सिन्धुनाथः समुद्रो वेलां मर्यादां जग्राह। शीतकरैः करैः किरणैर्लोकानां समन्तात् हर्षमुत्पादयतः। एष श्लेषालंकारः॥

कुर्वन्कुवलयोल्लासं रम्याम्भोजश्रियं हरन्।
रेजे राजापि तच्चित्रं निशान्ते कान्तिमत्तया॥ १३०॥

चित्रं यो राजा चन्द्रो निशान्ते प्रभाते कान्तिमत्तया कान्तिमत्त्वेन रराज। कुवलयोल्लासं भूवलयोल्लासं कुर्वन् रम्यां शोभनां भोजश्रियं भोजराजलक्ष्मीं हरन् गृह्णन्। एष भिन्नपदैः श्लेषालंकारः॥

अत्युत्कृष्टसमुच्चयालंकारमाह[1]—

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम्।
अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम्॥ १३१॥

यत्र कवित्वे अनेकेषामत्युत्कृष्टानामत्युत्तमानां अत्यपकृष्टानामतिमध्यमानां वा वस्तूनां पदार्थानामेकत्र निबन्धनं गुम्फनं ग्रन्थनं योजनमित्येकार्थाः। तं समुच्चयं वदन्ति॥

(अत्युकृष्टसमुच्चयोदाहरणमाह—)

अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥ १३२॥

सर्वोत्तममणहिल्लपाटकं पुरम्। तस्मिन्नवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः श्रीजयसिंहदेवः सोऽपि सर्वोत्तमो भूपालेषु। तस्य श्रीकलशनामधेयः करी गजः। एतानीह जगति त्रीणि रत्नानि॥

अत्यपकृष्टालंकारमाह—

ग्रामे वासो नायको निर्विवेकः कौटिल्यानामेकपात्रं कलत्रम्।
नित्यं रोगः पारवश्यं च पुंसामेतत्सर्वं जीवतामेव मृत्युः॥ १३३॥

सुगमम्। भावना स्वयमेव विचारणीया[2]। एषोऽत्यपकृष्टसमुच्चयालंकारः॥

(अथाप्रस्तुतप्रशंसामाह—)

प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः।
अप्रस्तुतप्रशंसा तामाहुः कृतधियो यथा॥ १३४॥

---

१. अत्र 'अत्युत्कृष्ट' इति पदं वृथैव पतितम्. २. 'विशेषणीया' क.

यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः प्रशंसा क्रियते कृतधियस्तामप्रस्तुतप्रशंसामाहुः ॥

(अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणमाह—)

स्वैरं विहरति स्वैरं शेते स्वैरं च जल्पति ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके राजचोरभयोज्झितः ॥ १३५ ॥

कोऽपि दुःखी चिन्तार्तः सन् यतिं संतोषसारं दृष्ट्वैवमुवाच । अत्र तेन दुःखिना भिक्षुप्रशंसा तावत्प्रारब्धा । कोऽपि नास्ति परं दुःखदग्ध एवं विचारयामास इति अप्रस्तुतप्रशंसा ज्ञेया ॥

(अथैकावलीलक्षणमाह—)

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।
अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता ॥ १३६ ॥

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानां पाश्चात्त्यार्थविशिष्टतायां तत्पराणामर्थानां या रचना उत्तरोत्तरं सा एकावली मता कथिता ॥

(एकावल्युदाहरणमाह—)

देशः समृद्धनगरो नगराणि च सप्त भूमिनिलयानि ।
निलयाः सलीलललना ललनाश्चात्यन्तकमनीयाः ॥ १३७ ॥

देशः समृद्धनगर इत्याद्युदाहरणम् ॥

(अथानुमानलक्षणमाह—)

प्रत्यक्षाल्लिङ्गतो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।
लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ॥ १३८ ॥

यत्र प्रत्यक्षाल्लिङ्गतः कालत्रितयवर्तिनो लिङ्गिनो ज्ञानं भवति तदनुमानमुच्यते । यथा—धूमो लिङ्गं लिङ्गी चाग्निः । लिङ्गस्य धूमस्य दर्शनाल्लिङ्गी अग्निरनुमीयते । अनया रीत्या सर्वत्र ज्ञातव्यम् । एतदनुमानं भवति ॥

(अनुमानोदाहरणमाह—)

नूनं नद्यस्तदाभूवन्नभिषेकाम्भसा विभोः ।
अन्यथा कथमेतासु जनः स्नानेन शुध्यति ॥ १३९ ॥

नूनं विभोर्जिनस्याभिषेकाम्भसा नद्यस्तदाभूवन् । अन्यथा एतासु नदीषु जनः स्नानेन कथं शुध्यति । नदीस्नानेन शुद्धिरेतल्लिङ्गं लिङ्गी च विभोरभिषेकाम्भसा तदाभूवन्निति । एषोऽतीतानुमानालंकारः ॥

जम्भभित्ककुभि ज्योतिर्यथा शुभ्रं विजृम्भते ।
उदेष्यति तथा मन्ये खलः सखि निशाकरः ॥ १४० ॥

जम्भभिदिन्द्रस्तस्य ककुब् दिक् पूर्वा तस्यां ज्योतिस्तेजो यथा शुभ्रं श्वेतं विजृम्भते । अहमेवं मन्ये । हे सखि, खलः संतापकारी निशाकर उदेष्यतीत्येतद्विरहिण्या सख्युरग्र उक्तम् । एष भविष्यानुमानालंकारः ॥

मुखप्रभाबाधितकान्तिरस्या दोषाकरः किङ्करतां बिभर्ति ।
तल्लोचनश्रीहृति सापराधान्यब्जानि नो चेत्किमयं क्षणोति ॥ १४१ ॥

दोषाकरश्चन्द्रोऽस्या नायिकायाः किङ्करतां बिभर्ति कर्मकरतां याति । कीदृशः । मुखप्रभाबाधितकान्तिः । नो चेद्यदि नैवम् अयं चन्द्रस्तल्लोचनश्रीहृति सापराधानि तासां लोचनशोभाहरणेन सापराधानि कमलानि किं क्षणोति संकोचयति । अन्योऽपि सेवको निजाधिपतेरपराधकारिणमन्यं शक्तौ सत्यां न सहत इत्यर्थः । एष वर्तमानानुमानालंकारो ज्ञातव्यः ॥

(अथ परिसंख्यामाह—)

यत्र साधारणं किंचिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।
अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसंख्योच्यते यथा ॥ १४२ ॥

यत्र कवित्वे किंचित्साधारणं वस्तु एकत्रान्यत्र तन्निवृत्त्यै प्रतिपाद्यते । यद्वस्तु एकत्र एकस्मिन्स्थाने भवति अन्यत्र तन्निवृत्तिर्भवति सा परिसंख्या समुच्यते ॥

(परिसंख्योदाहरति—)

यत्र वायुः परं चौरः पौरसौरभसंपदाम् ।
युवानश्च कृतक्रोधादेव बिभ्युर्वधूजनात् ॥ १४३ ॥

यत्र पुरे वायुः परं केवलं पौरसौरभसंपदां चौरः । अन्यत्र चौरिका नास्ति । यत्र युवानः कृतरोषाद्वधूजनाद्बिभ्युः । नान्यत्र भयं कस्यापीत्यर्थः ॥

(अथ प्रश्नोत्तरालंकारं संकरोदाहरणं चाह—)

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तं गूढं वाप्यथवोभयम् ।
प्रश्नोत्तरं तथोक्तानां संसर्गः संकरं विदुः ॥ १४४ ॥

यत्र प्रश्ने उत्तरं व्यक्तं गूढं वापि । अथवा उभयं व्यक्तगूढात्मकम् एतत् प्रश्नोत्तरं ज्ञेयम् । यत्र यथोक्तानां शब्दार्थानामलंकाराणामुक्तानामेकत्र एकद्व्यादिसंसर्गो भणनं स संकरालंकारः ॥

प्रश्नोत्तरोदाहरणमाह—

अस्मिन्नपारसंसारसागरे मज्जतां सताम् ।
किं समालम्बनं साधो रागद्वेषपरिक्षयः ॥ १४५ ॥

हे साधो, अस्मिन्नपारसंसारसागरे निमज्जतां समालम्बनं किमिति प्रश्ने व्यक्तमुत्तरम्—रागद्वेषपरिक्षयः । एष व्यक्तप्रश्नोत्तरालंकारः ॥

क्व वसन्ति श्रियो नित्यं भूभृतां वद कोविद ।
असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोह्यते ॥ १४६ ॥

हे कोविद, वद भूभृतां राज्ञां श्रियो नित्यं क्व वसन्ति । असौ अतिशयः कोऽपि यत् उक्तमपि न ज्ञायते । असौ खड्गे—इत्युत्तरम् । एष गूढप्रश्नोत्तरालंकारः ॥

किमैभं श्लाघ्यमाख्याति पक्षिणं कः कुतो यशः ।
गरुडः कीदृशो नित्यं दानवारिविराजितः ॥ १४७ ॥

ऐभं श्लाघ्यं किम्, दानवारि मदजलम् । पक्षिणं क आख्याति, विः पक्षी । यशः कुतो भवति, आजितः संग्रामात् । गरुडो नित्यं कीदृग्भवति, दानवारिविराजितो दानवारिर्वासुदेवस्तेन विराजितः शोभितः । अत्र प्राग्गूढत्वात्पश्चात्प्रकटत्वाद्गूढव्यक्तप्रश्नोत्तरालंकारः ॥

इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निदर्शयति—

बम्भण्डसुत्तिसंपुडमुक्तिअमणिणो पहासमूह व्व ।
सिरिवाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥ १४८ ॥

[ब्रह्माण्डशुक्तिसंपुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव ।
श्रीवाहड इति तनय आसीद्बुधस्तस्य सोमस्य ॥]

तस्याप्यत्र गाथायामनिर्दिष्टस्य श्रीवाग्भटः श्रीवाहड इति तनय आसीत् । कीदृशः । सूरोऽपि, बुधः । विरोधालंकारोऽत्र समवगन्तव्यः । उत्प्रेक्षते—ब्रह्माण्डशुक्तिसंपुटमौक्तिकमणेः प्रभासमूह इव तथा ॥

द्वारश्लोकेषु येऽलंकारा यथानामानः कथितास्ते सर्वे व्याख्याताः । अन्येषु ग्रन्थेष्वन्ये बहवोऽलंकाराः श्रूयन्ते, तेऽत्र नोक्ता इत्याह—

अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव च ।
अलंक्रियाणामन्यासामनिबन्धे निबन्धनम् ॥ १४९ ॥

अन्यासामलंक्रियाणामनिबन्धने अभणने निबन्धनं कारणम् । अचमत्कारिता स्यात् । उक्तेभ्योऽन्येषां मध्ये न कोऽपि तादृक्चमत्कारः । चमत्कारं विना क-

---

१. 'तस्य सोमस्य वाहड इति नाम्ना तनय आसीत्' इति जिनवर्धनसूरिः; 'तस्य सोमस्य वाहड इति तनय आसीत्' इति क्षेमहंसगणिः; 'ब्रह्माण्डशुक्तिसंपुटमौक्तिकमणेरित्यत्र रूपकम्, प्रभासमूह इवेत्युत्प्रेक्षा, युक्तोऽयमर्थस्तस्य सोमस्य चन्द्रस्य बुधोऽङ्गजो भवतीति श्लेषालंकारः, श्रीवाहड इत्यादि शेषं जातिः । इति चतुर्णां योगे संकरः' इति जिनवर्धनसूरिः.

थनप्रयास एव स्यान्न फलं किमपि। अथवा उक्तान्तर्भाव एव। अनुक्ता उक्तान्तरन्तर्भवन्तीत्यर्थः।

अथ रीतिद्वारमाह—

द्वि[1]त्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथासंख्यगौडीया ॥ १५० ॥

द्वे एव रीती गौडीया वैदर्भी चेति सान्तरे।
एका भूयःसमासा स्यादसमस्तपदापरा ॥ १५१ ॥

अत्र द्वे एव रीती भवतः। गौडीया वैदर्भी चेति। यतस्ते द्वे सान्तरे अन्तरसहिते पृथक्पृथक्लक्षणे। तद्दर्शयति—एका गौडीया बहुसमासा स्यात्। द्वितीया वैदर्भी असमस्तपदा अल्पसमासा भवेत्।

(अथ गौडीयोदाहरणमाह—)

दर्पोत्पाटिततुङ्गपर्वतशतग्रावप्रपाताहति-
क्रूराक्रन्ददतुच्छकच्छपकुलक्रेङ्कारघोरीकृतः।
विश्वं वर्वरवध्यमानपयसः शि[3]प्रापगायाः स्फुर-
न्नाक्रामत्ययमक्रमेण बहुलः कल्लोलकोलाहलः ॥ १५२ ॥

अयं शि[3]प्रापगायाः शि[4]प्रानद्या बहुलः कल्लोलकोलाहलो विश्वमक्रमेणाक्रामति। कीदृशः। दर्पोत्पाटितं तुङ्गपर्वतशतग्रावप्रपातस्य आहत्या आहननेन क्रूरं यथा भवति तथाक्रन्दन्ते यानि अतुच्छकच्छपकुलानि तेषां क्रेङ्कारशब्दैर्घोरीकृतः। कीदृश्या नद्याः। वर्वरवध्यमानपयसः वर्वरो राक्षसः कोऽपि, अन्यो वा कोऽपि महान्, येन वध्यमानं पयो यस्यास्तस्याः। एषा बहुसमासा गौडीया रीतिः ॥

(अथ वैदर्भीमुदाहरति—)

विप्राः प्रकृत्यैव भवन्ति लोला लोकोक्तिरेषा न मृषा कदाचित्।
यच्चुम्ब्यमानां मधुपैर्द्विजेशः श्लिष्यत्ययं कैरविणीं कराग्रैः ॥ १५३ ॥

यद्यस्मात्कारणाद्विजेशो विप्रश्चन्द्रो वा मधुपैर्मद्यपैर्भ्रमरैश्च चुम्ब्यमानां कैरविणीं कुमुदिनीं कराग्रैः श्लिष्यति। श्लेषालंकारः। एषा द्वितीया वैदर्भी रीतिः ॥

उपसंहारमाह—

अर्थेन येनातिचमत्करोति प्रायः कवित्वं कृतिनां मनःसु।
अलंक्रियात्वेन स एव तस्मिन्नभ्यूह्यतां हन्त दिशानयैव ॥ १५४ ॥

---

१. अयं श्लोकः क्षेमहंसगणि-जिनवर्धनसूरिविरचितव्याख्ययोर्नोपलभ्यते. २–४. 'सिप्रा' क. जिनवर्धनश्च.

कृतिनां मनःसु येनार्थेन कवित्वमतिचमत्करोति अतिचमत्कारमुत्पादयति । हन्त इति विचारे । स एवार्थस्तस्मिन्कवित्वेऽनयैव पूर्वोक्तदिशालंक्रियात्वेनालंकारत्वेनाभ्यूह्यतां विचार्यताम् ॥ समाप्ता रीतयः ॥

इति वाग्भटालंकारटीकायां चतुर्थः परिच्छेदः ।

पञ्चमः परिच्छेदः ।

'स्फुटरीतिरसोपेतम्' इति (रीतयो व्याख्याताः । अधुना) रसानाह—

साधुपाकेऽप्यनास्वाद्यं भोज्यं निर्लवणं यथा ।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ १ ॥

यथा साधुपाकेऽपि भोज्यं निर्लवणं लवणरहितमनास्वाद्यं भवति, तथा काव्यमपि नीरसं रसरहितमनास्वाद्यं भवति । इत्येतस्मात्कारणाद्रसान्ब्रूमः ॥

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ २ ॥
शृङ्गारवीरकरुणाहास्याद्भुतभयानकाः[1] ।
रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते निश्चिता बुधैः ॥ ३ ॥

एते नव रसाः शृङ्गारादयः । नवानां रसानामेकैकः स्थायीभावः पृथक्पृथक् । ते चामी—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहभयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥ ४ ॥

अमी क्रमेण नव स्थायिनो भावाः । 'शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्ताः[2] क्रमेण नव रसा ज्ञेयाः ॥ विशेषेण[3] भावयन्त्युत्पादयन्ति रसमिति विभावाः स्त्रीवसन्तोद्यानादयः उत्पत्तिकारणानि । एभ्यः शृङ्गारोत्पत्तिरित्यर्थः । विभावो रसकारणम् ।

---

१. क्षेमहंसगणिस्त्वयं श्लोकः—'यथा—शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतशान्ताश्च' इति क्रमेणैव पपाठ. २. 'शान्ताश्चेति नवरसाः क्रमेण ज्ञेयाः' **ख.** ३. 'अथ स्थायिभावलक्षणमाह—' इत्यधिकमादर्शद्वयेऽपि; क्षेमहंसगणिस्तु 'रतिर्हासश्च—' इति श्लोकम् 'एते जुगुप्सा(रत्या)दयः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः' इति व्याख्याय 'निर्वेदग्लानिशङ्काख्या तथासूयामदश्रमाः । आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा । गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ सुप्तिः प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता । मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः । त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्याताः स्वनामतः ॥ स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रुप्रलया इत्यष्टौ सात्त्विका गुणाः ॥' इत्येताञ्श्लोकानधिकान्व्याचख्यौ.

तथा—अनुभूयते लक्ष्यते रस एभिरित्यनुभावाः कम्पस्वेदमुखविकारनेत्रोल्लासादयः । रसोत्पत्तौ सत्यां पश्चाद्ये भावा जायन्ते तेऽनुभावा ज्ञेयाः । तथा सात्त्विकभावाः स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाख्या अष्टौ समवगन्तव्याः । तथा व्यभिचारिणः सहचारिणो भावा धृतिस्मृतिमत्यादयः । एभिर्विभावैरनुभावैः सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिरुत्कर्षमारोप्यमाणः स्थायीभावो रसः स्यात् । स्थायीभावः शृङ्गारादिरसरूपेण भवति । पूर्वोक्ताः स्थायिनो भावा रत्यादयो विभावादिभिर्व्यक्तीकृताः सन्तो रसाः शृङ्गारादयो नवापि भवन्तीत्यर्थः ॥

शृङ्गारस्वरूपमाह—

जायापत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः शृङ्गार उच्यते ।
संयोगो विप्रयोगश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ॥ ५ ॥

जायापत्योः कलत्रभर्त्रो रत्यां प्रीत्यां मिथो वृत्तिः परस्परवर्णनं शृङ्गार उच्यते । एष शृङ्गारो द्विविधो मतः । कथम् । संयोगो विप्रयोगश्च । संयुक्तयोर्दम्पत्योः संभो(यो)गात्मकः शृङ्गारः । वियुक्तयोस्तु विप्रलम्भात्मकः शृङ्गारः ॥

तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ।
प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा मतः ॥ ६ ॥

तौ संयोगविप्रलम्भौ तयोर्जायापत्योः क्रमाद्युक्तवियुक्तयोर्बुधैर्वाच्यौ भवतः ॥ पुनरेष शृङ्गाररसो द्विधा मतः । प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च । विशेषमग्रतो ज्ञापयिष्यामः ॥

अथ शृङ्गाररसनायकमाह—

रूपसौभाग्यसंपन्नः कुलीनः कुशलो युवा ।
अनुद्धतः सूनृतगीः ख्यातो नेतात्र सद्गुणः ॥ ७ ॥

अत्र शृङ्गारे नेता नायकः कथितः । कीदृशः । रूपसौभाग्ययुक्तः । रूपशब्देन लावण्यम् । कुलीनः सुकुलोद्भवः । कुशलः सकलकलाकोविदः । युवा यौवने वर्तमानः । अनुद्धतः सौम्याकृतिक्रियः । सूनृतगीः सत्यवाक् । सद्गुणः ॥

अयं च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।
धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यान्नायिका स्याच्चतुर्विधा ॥ ८ ॥

अयं च नायको विबुधैश्चतुर्धा उक्तः । अनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टश्चेति । अस्य नायकस्य नायिका चतुर्विधा स्यात् ॥

अथानुकूलादीनां लक्षणान्याह—अनुकूललक्षणं प्रागाह—

नीलीरागोऽनुकूलः स्यादनन्यरमणीरतः ।
दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि यः स्यादविकृतः स्त्रियाम् ॥ ९ ॥

नीलीरागोऽनुकूलो भवति । यथा—नीली गुली तस्या रागो नोत्तरति । सोऽनुकूलो नायकः परं सोऽन्यरमणीरतो न स्यात् । अन्यस्यां चित्तं यस्य सोऽन्यचित्तः स दक्षिणो

भवति । कीदृक् । स्त्रियामविकृतः सपत्न्यां विकारं मारणत्यजनकुट्टनादिकं न दर्शयतीत्यर्थः ॥

प्रियं वक्त्यप्रियं तस्याः कुर्वन्यो विकृतः शठः ।
धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्षोऽवमानितः ॥ १० ॥

तथा यो विकृतो विकारमापन्नस्तस्याः स्वपत्न्या अप्रियं कुर्वन् प्रियं वक्ति स शठनायकः । यो ज्ञातापराधोऽपि विलक्षो न भवति स धृष्टनायकः ॥

अथ सामान्येन चतुर्विधां स्त्रियमभिधत्ते—यथा शृङ्गाररसस्य नायको युवा पुमान्प्राक्कथितस्तस्य नायकस्य पुरुषरूपस्य नायिकापि चतुर्विधा भवति । तामाह—

अनूढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।
त्रिवर्गिणः स्वकीया स्यादन्याः केवलकामिनः ॥ ११ ॥

स्त्रियश्चतुर्विधाः । अनूढा स्वकीया परकीया पण्याङ्गना च । त्रिवर्गिणो धर्मार्थकामयुक्तस्य स्वकीया परिणीता स्यात् । अन्या अनूढाद्यास्तिस्रः केवलकामिनो भवन्ति ॥

आसां लक्षणमाह—

अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत् ।
सानूढेति यथा राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥ १२ ॥

यानुरक्तेन नरेणानुरक्ता सती या स्वीकृता भवति सानूढोच्यते । यथा—दुष्यन्तस्य राज्ञः शकुन्तला नायिका ॥

देवतागुरुसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका ।
क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत् ॥ १३ ॥

देवतागुरुसाक्ष्येण स्वीकृता स्वीयनायिका स्वकीया समवगन्तव्या । सा क्षमावती अतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत्प्रधानचरित्रवती ॥

परकीयाप्यनूढेव वाच्यभेदोऽस्ति चानयोः ।
स्वयमप्यतिकामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ॥ १४ ॥

परकीयापि स्त्री अनूढेव वाच्या । परमनयोः परकीयानूढयोर्वाच्यभेदोऽस्ति न तादृग्विशेषः कोऽपि । तथापि विशेषमाह—एका परकीया अतिकामाकुला सती स्वयमपि प्रियं वदेत् । एका द्वितीया अनूढा लज्जया स्वयं न वदेत् । परं कामाकुला सती सख्यैव कृत्वा प्रियं वदेत् ॥

सामान्यवनिता वेश्या भवेत्कपटपण्डिता ।
न हि कश्चित्प्रियस्तस्या दातारं नायकं विना ॥ १५ ॥

अथ सामान्यवनिता कपटपण्डिता वेश्या पण्याङ्गना भवेत् । तस्या दातारं विना नायकं न हि कश्चित्प्रियो भवति । यो दाता स एव नायकस्तासां नान्यः प्रिय इति ॥

अथ शृङ्गारस्य प्रकाशप्रच्छन्नभेदद्वयमाह—

सर्वप्रकाशमेवैषा याति नायकमुद्धता ।
वाच्यः प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागमः ॥ १६ ॥

एषा पण्याङ्गनोद्धता सती सर्वप्रकटमेव नायकं पतिं याति । प्रकाशो रसः । अन्यस्त्रीणां प्रियसमागमः प्रच्छन्न एव भवति । एष प्रच्छन्नः शृङ्गाररसः । समाप्तः संभोगशृङ्गारः ॥

विप्रलम्भशृङ्गारमाह—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः ।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात्पूर्वपूर्वो ह्ययं गुरुः ॥ १७ ॥

पूर्वानुरागात्मको विप्रलम्भो मानात्मको विप्रलम्भः प्रवासात्मको विप्रलम्भः करुणात्मको विप्रलम्भ इति विप्रलम्भश्चतुर्धा । अयं विप्रलम्भः पूर्वः पूर्वो गुरुः । मानात्पूर्वानुरागो गुरुरित्यर्थः ॥

अथ क्रमेणैतेषां लक्षणान्याह—

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः ।
ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्दशा ॥ १८ ॥

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेव नवदर्शनादेवोल्लसितरागयोः परमपूर्णस्पृहयोर्दशावस्था । अयं पूर्वानुरागविप्रलम्भः शृङ्गारः ॥

मानोऽन्यवनितासङ्गादीर्ष्याविकृतिरुच्यते ।
प्रवासः परदेशस्थे प्रिये विरहसंभवः ॥ १९ ॥

तथा पत्युरन्यवनितासङ्गात्पत्न्या या ईर्ष्याविकृतिरीर्ष्यया विकारो भवति स मानात्मको विप्रलम्भश्शृङ्गारः । तथा परदेशस्थे भर्तरि पत्न्या विरहसंभवः प्रवासात्मको विप्रलम्भश्शृङ्गारः ॥

स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः ।
शृङ्गारः करुणाख्योऽयं वृत्तवर्णन एव सः ॥ २० ॥

अनुकूलयोर्दम्पत्योर्जायापत्योरेकतरपञ्चत्वे द्वयोरेकतरविनाशे करुणात्मको विप्रलम्भशृङ्गारः । स वृत्तवर्णन एव भवति । अन्ये हास्याद्भुतादयो रसा वृत्ते श्लोके वा संपूर्यन्ते । अयं तु शृङ्गारकरुणाख्यो वृत्तवर्णने संपूर्णे प्रबन्धे भवति । यथा रतिविलापे कुमारसंभवे ॥

शृङ्गाररसं तत्संबन्धि चान्यदपि सर्वमुक्त्वा वीरादीन्रसानाह—

(तत्र वीरमाह—)

उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्माजिदानतः।
नायकोऽत्र भवेत्सर्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः॥ २१॥

वीरो रस उत्साहात्मा भवति। स त्रिधा—धर्माजिदानतः। धर्मवीरः संग्रामवीरो-दानवीर इति। अत्र वीररसे सर्वैः श्लाघनीयगुणैरधिगतो नायको भवति॥

(करुणमाह—)

शोकोत्थः करुणो ज्ञेयस्तत्र भूपातरोदने।
वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्तयेत्॥ २२॥

करुणो नाम रसः शोकोत्थः शोकात्मको ज्ञातव्यः। तत्र रसे भूपातरोदने वैवर्ण्य-मोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्तयेत्। भूपातो भूमौ लुठनं तथा रोदनम्, वैवर्ण्यं विवर्ण-भावः, मोहो मौढ्यम्, निर्वेदो विषादः, प्रलापः प्रकृष्टं लपनम्, अश्रूणि अश्रुपातः। करुणारस एते भवन्ति भावाः। अतोऽत्र रसे एते भावा वर्ण्यन्ते॥

(हास्यमाह—)

हासमूलः समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः।
चेष्टाङ्गवेषवैकृत्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः॥ २३॥

हास्यनामा रसो बुधैर्हासमूलः समाख्यातः। तस्य हास्यरसस्य संभव उत्पत्तिश्चेष्टा-ङ्गवेषवैकृत्याद्भवति॥

अथोत्तममध्यमाधमभेदेन हास्यरसस्वरूपमाह—

कपोलाक्षिकृतोल्लासमोष्ठे तिष्ठन्स उत्तमः।
मध्यमानां विदीर्णास्यः सोऽवराणां सशब्दकः॥ २४॥

कपोलाक्षिकृतोल्लासमोष्ठे तिष्ठन्नोष्ठमात्राश्रयश्च भवति स उत्तमः। मध्यमानां विदी-र्णास्यः प्रसृताननो भवति। स च हास्यरसोऽवराणां नीचानां सशब्दको महाशब्दसहि-तो भवति॥

(अद्भुतमाह—)

विस्मयात्माद्भुतो ज्ञेयः स चासंभाव्यवस्तुनः।
दर्शनाच्छ्रवणाद्वापि प्राणिनामुपजायते॥ २५॥

अद्भुतो रसो विस्मयस्थायिभावात्मकः। स च प्राणिनामसंभाव्यवस्तुनो दर्शनाच्छ्र-वणाद्वा समुपजायते। एतेनास्य द्विधोत्पत्तिरभिहिता॥

अस्य रसस्य विभावादीन्दर्शयति—

तत्र नेत्रविकासः स्यात्पुलकः स्वेद एव च।
निःस्पन्दनेत्रता साधुसाधुवाग्गद्गदा च गीः॥ २६॥

तत्राद्भुतरसे जाते नेत्रयोर्विकासः स्यात्। रोमाञ्चस्वेदौ भवतः । निःस्पन्दनेत्रता भवति नेत्राणि निःस्पन्दानि भवन्ति । साधुसाधुवाग्भवति । गीर्गद्गदा च स्यात् ॥

(भयानकमाह—)

भयानको भवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः ।
स च प्रायेण वनिता नीचबालेषु शस्यते ॥ २७ ॥

भयानको रसो घोरवस्तुदर्शनाद्भवेत् । भीतिप्रकृतिर्भयस्वभावः । स भयानको रसः प्रायेण स्त्रीषु नीचेषु बालेषु प्रशस्यते । भयरसो व्यावर्ण्यमानो नूनमेतेष्वेव शोभते नान्यत्रास्य दीप्तिः ॥

इदानीमस्य विभावादीन्दर्शयति—

दिगालोकास्यशोषाङ्गकम्पगद्गदसंभ्रमाः ।
त्रासवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ॥ २८ ॥

अस्माद्भयानकादेते पदार्था उत्पद्यन्ते । अतोऽत्र रसे एते व्यावर्ण्यन्ते । एते के । दिगालोको दिग्दर्शनम्, मुखशोषः, शरीरकम्पः, गद्गदा वाणी, संभ्रमः, तथा त्रासः, वैवर्ण्यं विवर्णभावः, मोहो मूढता । सर्वत्र मुह्यति भयेन । इहामी वर्ण्यन्ते बुधैर्भावाः ॥

(रौद्ररसमाह—)

क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् ।
भीष्मवृत्तिर्भवेदुग्रः सामर्षस्तत्र नायकः ॥ २९ ॥
स्वांसाघातस्वशंसास्त्रोत्क्षेपभ्रकुटयस्तथा[1] ।
अत्रारातिजनाक्षेपोद्वेलनं चोपवर्ण्यते ॥ ३० ॥

रौद्ररसः क्रोधात्मको भवति । क्रोधश्चारिपराजयाद्भवति । अरिकृतपराजयात्क्रोधः । यदा योऽरिणा पराजीयते तदा तस्य क्रोधो जायत इत्यर्थः । तथा रौद्रे भीष्मवृत्तिरुग्रः सामर्षो नरो नायको भवेत् ॥

(बीभत्समाह—)

बीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सोऽहृद्यश्रवणेक्षणात् ।
निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च ॥ ३१ ॥

बीभत्सो रसो जुगुप्साभावप्रभवः स्यात् । विभावादीनस्योद्दिशति स चाहृद्यश्रवणाद् विरूपपदार्थाकर्णनात् विरूपवस्तुनो दर्शनाच्च । निष्ठीवनमकुत्सितास्यभङ्गादि स्यात् तद्भावसंपन्नः स्यात् । परं महतामुत्तमानां निष्ठीवनादयो भावा न प्रयोक्तव्याः ॥

---

१. 'अत्र रौद्रे स्वस्कन्धप्रहतिः स्वस्य श्लाघा शस्त्रक्षेपणं भ्रुकुट्योऽनुभावाः । उपलक्षणात्—नेत्ररागदन्तोष्ठग्रहणरुधिराकर्षणादीन्यपि भवन्ति । तथा विपक्षपक्षाक्षेपो दलनं वैरिमर्दनम् । उपलक्षणादाधमवेगामर्षाद्यपि च व्यभिचारितयोपवर्ण्यन्ते ॥' इति जिनवर्धनसूरिरिमं श्लोकं व्याचख्यौ.

(शान्तमाह—)

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निःस्पृहनायकः ।
रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥ ३२ ॥

शान्तो रसः सम्यग्ज्ञानसमुत्थानो भवति । अस्य शान्तरसस्य निःस्पृहो नायको भवति । शान्तरसवान्निःस्पृहो भवति । स शान्तरसो रागद्वेषपरित्यागात्सम्यग्ज्ञानस्य संभव उत्पत्तिकारणम् ॥

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं
नानालंकृतिभिः परीतमभितो रीत्या स्फुरन्त्या सताम् ।
तैस्तैस्तन्मयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि-
स्रष्टारो घटयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः ॥ ३३ ॥

सारस्वताध्यायिनः कविस्रष्टार आकल्पकालं कल्पकालं यावत् काव्यपुरुषं घटयन्तु चरयन्तु । कीदृक् । विशेषणानि सुगमानि ॥

लाटी हास्यरसे प्रयोगनिपुणै रीतिः प्रबन्धे कृता
पाञ्चाली करुणा भयानकरसे शान्ते रसे मागधी ।
गौडी वीररसे च रौद्रजरसे वच्छोमदेशोद्भवा
बीभत्साद्भुतयोर्विदर्भविषया शृङ्गारभूते रसे ॥

द्वित्रिपदा पाञ्चाली लाटीया पञ्चसप्त वा यावत् ।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया ॥

प्रथमपदा वत्सोमी त्रिपदसमा च मागधी भवति ।
उभयोरपि वैदर्भी मुहुर्मुहुर्भाषणं कुरुते ॥

समाप्तेयं श्रीवाग्भटालंकारटीका ।